स्वरूप वर्मा
इन्दिरा वर्मा



मानस मन्दता
और
चिकित्सक का उत्तरदायित्व



चौखम्भा ओरियन्टालिया
वाराणसी दिल्ली



॥ श्रीः ॥

जयकृष्णदास आयुर्वेद ग्रन्थमाला

२४

मानस मन्दता

और

चिकित्सक का उत्तरदायित्व

लेखक

डॉक्टर मुकुन्द स्वरूप वर्मा

बी. एस-सी., एम. बी., बी. एस.

और

श्रीमती इन्दिरा वर्मा

एम. ए. (भारत), एम. आर. सी. (कनाडा)



चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्राच्यविद्या तथा दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक एवं विक्रेता

वाराणसी दिल्ली

प्रकाशक

चौखम्भा ओरियन्टालिया

पो॰ आ॰ चौखम्भा, पो॰ बाक्स नं॰ ३२
गोकुल भवन, के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी–२२१००१ (भारत)
टेलीफोन : ५२९३९ टेलीग्राम : गोकुलोत्सव

शाखा—बंगलो रोड, ९ यू॰ बी॰ जवाहर नगर
दिल्ली–११०००७

प्रथम संस्करण १९७९

मूल्य रु॰ ३०–००

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्भा विश्वभारती

पो॰ बाक्स नं॰ १३९
चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी
फोन : ६५४४४

JAIKRISHNADAS AYURVEDA SERIES
NO. 24

MĀNASA MANDATĀ
aura
chikitsaka kā uttaradāyitva

(mental retardation and the responsibility of physician)

by

Dr. MUKUND SWARUP VARMA
B. Sc., M. B., B. S.

ŚRĪMATĪ INDIRĀ VARMĀ
M. A. (India), M. R. C. (Canada)

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
A House of Oriental and Antiquarian Books
VARANASI **DELHI**

Publishers

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA

P. O. Chaukhambha, Post Box No. 32

Gokul Bhawan, K. 37/109, Gopal Mandir Lane

VARANASI–221001 (India)

Telephone : 52939 Telegram : Gokulotsav

Branch—Bungalow Road, 9 U. B. Jawahar Nagar, DELHI–110007

First Edition 1979

Price Rs. 30-00

Printers—Vidya Vilas Press, Varanasi.

दो शब्द

हमारे देश में मानसमन्दता एक नया सा शब्द है जिससे अधिकतर सामान्य जनता अनभिज्ञ है। वे इसे 'पागल' का पर्याय समझते हैं। पागल खाने को जानते हैं, किन्तु मानसमन्द क्या होता है, इसको थोड़े ही जानते हैं। देश के विधान (law) तक में 'पागल' और मानसमन्द में कोई भेद नहीं किया गया है। पागलों के लिये जो विधान है, वही मानसमन्दों पर लागू होता है। ऐसी दशा में स्वाभाविक है कि मानसमन्दता की जटिल समस्या की ओर जनता उदासीन हो।

सन् १९४७ में स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात से गत ३० वर्षों में भारत को महान प्रश्नों का सामना करना पड़ा है। उन प्रश्नों की जटिलता आज भी समाप्त नहीं हुई है। एक प्रश्न सुलझता है तो दूसरा खड़ा हो जाता है। सरकार आज भी इन कठिन प्रश्नों को सुलझाने में व्यस्त है। भारत एक महान, विशाल देश है और उसी के अनुसार उसकी समस्यायें, बाधायें, नाना प्रकार की अड़चनें जो उसके मार्ग में उपस्थित होती रहती है वे भी विशाल हैं। इन सबको देखते हुए सरकार का भी मानस मन्दता की ओर ध्यान न दे सकना, स्वाभाविक है। दूसरी ओर जनता में इतनी जाग्रति नहीं है कि इस विशाल समस्या पर वह विचार कर सके। किसी नवीन आयोजना के जन्म के दो ही स्रोत हो सकते हैं, जनता या सरकार। यहाँ दोनों के सामने ऐसे प्रश्न उपस्थित हैं कि

उनकी दृष्टि इस ओर नहीं जाती। फिर भी सरकार के लिये यह अक्षम्य है कि जहाँ वह नाना प्रकार की नई-नई योजनायें बनावे; उनको व्यवहार में लाये, वहाँ वह इस एक महान प्रश्न की नितान्त अवहेलना करे। तनिक विचार करने से इस समस्या की विशालता और उससे देश को होने वाली हानि की विशालता का बोध हो जाता है।

मानसमन्द वे व्यक्ति होते हैं जिनमें मानस या बुद्धि अथवा प्रज्ञा का विकास नहीं होता। बहुतों में मस्तिष्क ही पूर्णतया नहीं बनता। अन्य में मस्तिष्क की क्रिया का ह्रास हो जाता है। इस दशा के अनेक कारण होते हैं जिनका पुस्तक में विस्तार से वर्णन किया गया है। बुद्धि का विकास न होने से 'बुद्धिनाशात्प्रणश्यति' व्यक्ति मनुष्योचित कर्म करने में असमर्थ होता है। वह जीवन संघर्ष की दौड़ में विजयी नहीं हो पाता, अपने जीवन के अस्तित्व के लिये वह आवश्यक सामग्री नहीं जुटा सकता और जीवन भर दूसरों की दया का पात्र बना रहता है। समाज को उसका भार उठाना होता है। उसके लिये आहार, निवास, देखभाल, रक्षा, यातायात आदि सबका प्रबन्ध करना पड़ता है। इसमें समाज को जो व्यय करना पड़ता है, हिसाब लगाने से वह एक विपुल राशि हो जाता है। फिर यदि वह व्यक्ति समाज का एक उपयोगी अंग होता, सामान्य व्यक्तियों के समान कार्य कर सकता तो समाज को उसके द्वारा कितना लाभ होता। उसके द्वारा उत्पादन से देश की आय में वृद्धि होती। इस प्रकार उस व्यक्ति की बुद्धिहीनता से देश को, जाति को, समाज को दोहरी हानि होती है—एक ओर उसके पालन-पोषण, देख-रेख पर व्यय के कारण और दूसरी ओर उसके द्वारा उत्पादन की आय से वंचित रह जाने से।

संसार के सभी देशों में मानसमन्द अर्थात् बुद्धिहीन जन्मते हैं। यह अनुमान किया जाता है कि १ से २ प्रतिशत बालक बुद्धि त्रुटि वाले हैं। यदि १ प्रतिशत भी मान लिया जाय तो हमारे देश में साठ लाख बुद्धित्रुटि वाले शिशुओं की जनसंख्या में प्रति वर्ष वृद्धि होती है। सौभाग्य से इनमें से ६५ प्रतिशत ऐसे होते हैं जिनमें बुद्धि त्रुटि अल्प होती है।

वे किसी प्रकार सामान्य जनता में समा जाते हैं। कुछ न कुछ काम करके अपनी जीवन यात्रा की आवश्यकताओं को पूर्ण करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार वे समाज पर भार नहीं होते। किन्तु शेष २५ प्रतिशत के लिये समाज को कुछ न कुछ करना पड़ता है। कुछ व्यक्ति इस योग्य होते हैं कि वे किसी चतुर शिक्षक या निरीक्षक की सहायता से, उसके दिग्दर्शन द्वारा किसी प्रकार के उत्पादन कार्य में लगाये जा सकते हैं और उसके द्वारा उनको जीविकोपार्जन करा कर उनका बहुत कुछ भार समाज पर से घटाया जा सकता है। किन्तु उनको निरीक्षक की सहायता की सदा ही आवश्यकता पड़ती है। उनकी देखभाल का भार समाज को उठाना ही होता है।

तीसरी श्रेणी ऐसे बालकों या व्यक्तियों की है जो दो या तीन वर्षों के बालकों के समान बुद्धिस्तर से अधिक कभी भी प्रगति न कर पायेंगे। उनमें बुद्धिहीनता इतनी अधिक होती है कि उनको नित्यकर्म शौच, आहार, मुख-धावन, वस्त्र पहनना, उतारना आदि, सामान्य दैनिक क्रियाओं में भी दीक्षित करना पड़ता है। उनको सिखाना होता है कि वे कहाँ शौच त्याग करें, कैसे करें, अपने को शुद्ध किस प्रकार करें, दातों को ब्रश और टूथपेस्ट से कैसे स्वच्छ करें। इसी प्रकार उनको वस्त्र पहनना, उतारना, रखना, आहार करना और उसके पश्चात् मुख स्वच्छ करना और हाथ धोना आदि सिखाना होता है। ऐसे बालक बड़े होने पर भी कोई उपयोगी काम करने योग्य न होंगे। ऐसे व्यक्तियों का सारा भार समाज को उठाना होगा। उनकी सुरक्षा का भी प्रबन्ध करना होगा, क्योंकि वे यह भी न समझ पायेंगे कि दौड़ती हुई मोटर के सामने आने से वे कुचल जायेंगे। भाग्य से मानस-मन्दों में ऐसों की संख्या ५ प्रतिशत से अधिक नहीं होती।

देश में मानसमन्दों की कितनी संख्या होगी और उनके कारण कितनी जनबल (man power) की हानि होगी तथा उन पर जनता को कितना व्ययक रना पड़ता होगा इसका अनुमान सहज में लगाया जा सकता है।

इस अतुल धनराशि की ओर मानव जीवन के अपव्यय की बहुत कुछ सुरक्षा संभव है। जो व्यक्ति बुद्धिहीनता के कारण आज समाज के तिरस्कार और घृणा के पात्र बने हुए हैं, उनको समाज की मान्यता योग्य बनाना संभव है। मानव जीवन के जन्मजात अधिकार, आत्मसम्मान से विभूषित करना संभावना के बाहर नहीं है।

प्रत्येक प्रगतिशील देश इस ओर प्रयत्नशील है। अमेरिका के ५० प्रदेशों में से प्रायः प्रत्येक के बड़े नगर या काउन्टी में कम से कम एक ऐसी संस्था है जहाँ मानसमन्द बालकों को रखकर उनको शिक्षित किया जाता है, अपने परिवारों के साथ रहने वाले ऐसे बालको को घर से बुलाकर भी शिक्षा दी जाती है। पैंसिलवानिया स्टेट में मीडिआ नामक स्थान में एल्विन संस्था (Elwyn Institute, Media, Pensylvania, U. S. A) में १२०० छात्रों को वहाँ रखकर और लगभग ३०० घर से आने वाले विद्यार्थियों को शिक्षा दी जाती है। न्यूयोर्क में कई संस्थायें हैं जिनमें विद्यार्थियों की एक बड़ी संख्या को शिक्षा देने के अतिरिक्त विशेषकर अन्वेषण (research) का काम किया जाता है। देश भर में ऐसी संस्थायें अत्यन्त उपयोगी और उपकारी कार्य कर रही हैं। कनाडा में ऐसी संस्थाओं की संख्या १०० से अधिक है। ऑक्सफोर्ड रीजनल सेन्टर में ९०० के लगभग ऐसे त्रुटियुक्त बालक और व्यक्ति रहकर शिक्षा पाते हैं, वहाँ उनके वर्कशॉप भी हैं जहाँ उनको व्यापारिक कौशल सिखाये जाते हैं जिनके द्वारा वे अपना जीविकोपार्जन कर सकते हैं और स्वावलम्बी बन कर नागरिक जीवन व्यतीत कर सकते हैं। इसी प्रकार फ्रांस, जर्मनी, इटली तथा छोटे देशों में भी मानसमन्दों के जीवन सुधार का प्रयत्न हो रहा है। इंग्लैण्ड इस ओर पग उठाने वाला प्रथम देश था जिसने सन् १७४० से इस ओर ध्यान देना आरम्भ किया था। फ्रांस का यह कार्य भी १२वीं शताब्दी से प्रारम्भ हो गया था जहाँ प्रारम्भ में इस विषय में बड़े मार्मिक अन्वेषण किये गये थे। फ्रांस के विद्वानों के बनाये हुए मानसमन्दता के परीक्षणक्रम अब भी संसार के सभी देशों में प्रयोग किये जाते हैं।

मानसमन्दता (mental retardation) बड़ा गूढ़ विषय है। वास्तव में यह एक विषय नहीं है। वह कई विषयों का समूह है, अथवा यों कहना चाहिये कि कई वैज्ञानिक विषयों का परिणाम है और इस कारण कई विषयों के विद्वानों द्वारा उसका विचार संभव होता है। किस विशेष कारण से यह दशा उत्पन्न होती है, यह नहीं कहा जा सकता। इस कारण भिन्न-भिन्न बालकों में उनके सुधार के लिये भिन्न आयोजन करना आवश्यक होता है। पुस्तक में मानसमन्दता के इन्हीं भिन्न-भिन्न पक्षों का संक्षेप से विचार किया गया है। पुस्तक केवल प्रारम्भिक रूप की है। अंग्रेजी में इस विषय की पुस्तकें प्रकाण्ड विद्वानों द्वारा लिखी हुई प्रचुर संख्या में प्रकाशित हो रही हैं और इस विषय के अनेक पक्षों पर लेख, पाम्पलेट आदि भी निरन्तर प्रकाशित होते रहते हैं।

लेखकों का इस पुस्तक को लिखने का मुख्य प्रयोजन देश की जनता में इस विशाल समस्या की ओर सावधानता का प्रचार करना है, विशेषकर उत्तर भारत में जहाँ इस ओर कोई भी प्रगति नहीं हुई है, जहाँ जनता जानती ही नहीं कि मानसमन्दता नाम की कोई दशा होती भी है। दक्षिण में, विशेषकर बम्बई में, तथा गुजरात में अहमदाबाद आदि नगरों में इस ओर कुछ कार्य हुआ है। कुछ उत्साही व्यक्तियों ने All India Federation of Mental Retardation नामक सोसाइटी बनायी है जिसकी कभी-कभी बैठक हो जाती है। उनका प्रयत्न बहुत स्तुत्य है। किन्तु सामान्य जनता में जबतक इस विषय का प्रचार नहीं होगा तब तक उसमें सफलता नहीं हो सकती। उत्तर भारत में तो इस ओर किसी प्रकार के प्रयत्न का लक्षण नहीं दिखाई देता। साथ ही लेखकों का सरकार से भी अनुरोध है कि जहाँ सरकार अनेक अन्य नई-नई योजनायें बनाती है वहाँ वह इस प्रश्न के अनुसंधान के लिए भी सार्वदेशिक कमीशन नियुक्त करे जो प्रत्येक प्रदेश की मानसमन्दता प्रश्न का अनुसंधान करके सरकार को अपनी रिपोर्ट दें और तदनुसार सरकार इस ओर प्रथम पग उठावे। जब तक इस

ओर सरकार से प्रोत्साहन नहीं मिलता तबतक जनता की इस ओर से प्रगति की आशा नहीं की जा सकती।

लेखक चौखम्भा ओरियन्टालिया के सत्त्वाधिकारी गुप्त जी के आभारी हैं जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन का भार उठाया है।

श्रीवल्लभाचार्य जयन्ती
चैत्र कृष्ण दशमी, संवत् २०३६
दिनांक २२-४-७९

मुकुन्द स्वरूप वर्मा
श्रीमती इन्दिरा वर्मा

विषयानुक्रमणिका

(metabolism) के दोष, अल्पग्लूकोजरक्तता (hypoglucosaemia), मस्तिष्क अभिघात (brain injury), शीर्ष की असंगतियाँ (cranial anomalies), सीवनी अस्थिभवन (craniosyntosis), दीर्घशिरस्कता (dolichocephaly), जलशीर्ष (hydrocephalus), ज्ञानेन्द्रियहीनता (defects of sense organs), वातावरण (environment), अज्ञानहेतुक (idiopathic) ।

कुछ संलक्षण (syndromes)

१. जननिक संलक्षण (genetic syndromes) समूह, फिनाइल कीटोनमेह (phenyl ketonuria)—हेतुकी (etiology), विकृति (pathology), लक्षण (symptoms), निदान (diagnosis), चिकित्सा (treatment) । अन्य अमीनो अम्ल सम्बन्धी विकार । संयोजी ऊतक सम्बन्धी विकार (connective tissue disorders)—हर्लर (Hurler's) संलक्षण—हेतुकी, लक्षण और चिह्न, निदान, प्राग्ज्ञान (prognosis), चिकित्सा । सानफिलिपो (Sanfilippo) का संलक्षण–हेतुकी, लक्षण और चिह्न, चिकित्सा, गैलेक्टोजरक्तता (galactosaemia)–हेतुकी, लक्षण और चिह्न, निदान, चिकित्सा । लाइपिड (lipids) के चयापचय (metabolism) के विकार–i. पारिवारिक अन्धतामय जड़बुद्धिता (amarautic family idiocy) रूप–शैशव, विलम्बित शैशव, बालरूप, प्रौढ़रूप–उनके लक्षण, विकृति, निदान और चिकित्सा । ii. नीमानपिक रोग (Niemann–Pick's disease)–लक्षण, निदान चिकित्सा । गौकर (Gaucher's) का रोग। कार्बोहाइड्रेटों के चयापचय के विकार (disorders of carbohydrate metabolism)—गैलेक्टोजरक्तता, ग्लायकोजन संग्रह (glycogen storage) । अवटुका वामनता (cretinism) कारण, ग्रन्थि का स्राव–थायरॉक्सिन (thyroxine)–रोग के रूप, लक्षण, निदान, चिकित्सा, श्वेत अपविकासतायें (Leucodystrophie's) ट्यूबरस स्क्लरोसिस (tuherous sclerosis)–अन्य नाम, आघटन, हेतुकी, विकृति, चिह्न और लक्षण, निदान, चिकित्सा, तंत्रिकातन्तु अर्बुदता (Neurofibromatosis)–चिह्न और लक्षण, विकृति, निदान । स्टर्ज-वेबर संलक्षण (Sturgee Weber syndrome)–हेतुकी, रोग का रूप, विकृति, निदान, चिकित्सा। लघुशिरस्कता (microcephaly)–हेतुकी, विकृति, लक्षण और

development schedule), ग्रिफिथ स्केल (Griffith scale) मेरिल-पामर (Merill Palmer) स्केल, मिनेसोटा प्राक्विद्यालय (Minnesotta preschool scale), समूह परीक्षण (Group tests)। परिवर्धनक्रम स्केल–वाइनलैंड सामाजिक परिपक्वता स्केल (Vineland social maturity scale), ओसरस्की गत्यात्मक प्रवीणता स्केल (Oseresky motor proficiency scale)। निष्पादन परीक्षण (performance test)–सैंगिन का आकार बोर्ड (Sanguin Form Board), पोर्टियस भूलभुलैया परीक्षण (Porteus Maze test), कोह का ब्लाक डिजाइन परीक्षण (Koh's Block Design test), गुडएनफ (Goodenough's Draw-a-man test) । उपलब्धि परीक्षण (achievement test)। तत्परता (readyness) परीक्षण, प्रक्षेपण प्रविधियाँ (projective Techniques)। मनोवैज्ञानिक परीक्षा (psychological examination)। परीक्षक की कार्यपटुता। मनोविज्ञानी परीक्षक की रिपोर्ट का महत्त्व । नैदानिक समिति–बहुविद् निर्धारण (multidisciplinary assessment) की विशेषता । मानसमन्द की परीक्षा (examination of the subject) रोगी का इतिवृत्त, पारिवारिक इतिहास, आनुवंशिक इतिहास, शारीरिक परीक्षा, मनोवैज्ञानिक परीक्षा तथा समिति द्वारा परीक्षा रिपोर्ट पर विचार और निर्णय ।

मानसमन्दता को पहचानना–शैशवकाल के प्रथम मासों में सतर्क करने वाले चिह्न; घुटलियों चलने वाले बालकों में, विद्यालय में प्रवेश के पूर्व, विद्यालय में वयस्कों का निदान ।

१. सम्बन्ध-रचना के विकार (disorders of relationship formation)—सम्बन्धरचना की व्याख्या, स्वपरायणता या स्वैर-चिन्तन (autism); स्वैरचिन्तित बालक का वर्णन, प्राग्ज्ञान ।

२. व्यवहारात्मक विकार (disorders of behavior), मनोविकृत व्यक्तित्व (psychopathic personality) मनोविकृत व्यक्ति का वर्णन, ऐसे दो बालकों का वर्णन ।

सम्बन्ध रचना तथा व्यवहारात्मक विकारों के कारणों का विचार । देहजनित कारण (somatogenic); मानस तथा समाज जनित (Psycho-social) कारण ।

आठवाँ परिच्छेद १९७–२४६

मानस मन्दों की शिक्षा और पुनःस्थापन

चिकित्सा के साधन या उपाय, मानसमन्द का सुधार। मानसमन्दता का प्रतिषेध—प्रसवपूर्व निदानशाला; गर्भवती के स्वास्थ्य की रक्षा, प्रसव अभिघात।

शिशुकल्याण केन्द्र, गर्भवती की पूर्ण सुरक्षा, प्रेसीडेन्ट केनेडी द्वारा मानसमन्दता के अन्वेषण और सुधार के लिये नियुक्त कमीशन द्वारा प्रस्तावों का विचार।

मानसमन्दता के निदान के पश्चात तत्काल आवश्यक आयोजन। चिकित्सा अथवा सुधार का स्वरूप। व्यवहार के परिवर्त्तन का प्रशिक्षण। पुरस्कार विधि (reinforcement method)– धनात्मक (positive) और ऋणात्मक (negative), दंड (punishment)।

मानसमन्दों का उपचार, शिक्षा तथा प्रशिक्षण (training) संबन्धी संस्थायें-बाल निर्देशन शाला (child guidance clinic)।

अस्पताल, चिकित्सालय–दिवस अस्पताल, बहिरंग निदान-शाला (outdoor diagnostic centre), अन्तरंग अस्पताल (indoor hospitals), अस्पतालों में प्रशिक्षण, बालकों का प्रशिक्षण, वयस्कों का प्रशिक्षण, विशेष प्रशिक्षण, उद्योग संबंधी प्रशिक्षण-उसके लिये योग्यता का मूल्यांकन, कर्ममूल्यांकन, व्यावसायिक परिशिक्षण।

मानसमन्दों की नियुक्ति का प्रश्न। प्रशिक्षण में शिल्पशालाओं या वर्कशॉपों का उपयोग, दीर्घकालिक वर्कशॉप, लघुकालिक वर्कशॉप। अतिमानसमन्दों की उन्नति, उनका समाज में स्थान। कुछ आवश्यक सेवायें :—परामर्श या उपबोधक सेवा, घरेलू कामों में सहायक (home maker's service)। विकलांगों के विकास केन्द्र। मानसमन्दों के निवासस्थान, पारिवारिक रक्षा, पोषक आश्रम (foster homes), अर्धमार्गगृह या आश्रम (half way house), सामुदायिक जीवनगृह (community living)।

मनश्चिकित्सा। औषधियों का उपयोग।

मानस मन्दता
(MENTAL RETARDATION)

पहला परिच्छेद

विषय प्रवेश

स्वास्थ्य मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। वह जीवन की सफलता का आधार है, उसकी कुंजी है। स्वस्थ व्यक्ति ही जीवन की समस्याओं पर विचार कर सकता है और उनको सुलझाने के लिये उद्योग कर सकता है, परिश्रम करके बाधाओं को दूर कर सकता है। मानसिक तथा शारीरिक परिश्रम ही सांसारिक जीवन की सफलता की कुंजी हैं और ये दोनों स्वस्थ व्यक्ति की विभूतियाँ हैं; वही इन दोनों का अभ्यास कर सकता है। स्वास्थ्य-हीन या अस्वस्थ व्यक्ति जीवन संग्राम में सफल नहीं हो सकता।

स्वास्थ्य क्या है? क्या बलवान शरीर को स्वस्थ कहा जाता है, अथवा रोग हीन अवस्था को। नहीं, न बलवान शरीर स्वास्थ्य का लक्षण है, न रोग मुक्त शरीर ही। स्वास्थ्य के लिये शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार का विकास होना चाहिये, साथ ही आध्यात्मिक विकास भी आवश्यक है। विश्व स्वास्थ्य संघ (World Health Organisation), जिसको संक्षेपतः WHO कहा जाता है उसकी स्वास्थ्य विशेषज्ञ-समिति ने स्वास्थ्य की इस प्रकार व्याख्या की है: 'a state of complete physical and mental well being and not only the absence of disease and infirmity', अर्थात्, शारीरिक, मानसिक और सामाजिक पूर्णता, न केवल रोग या असमर्थता का अभाव। जे० एफ० विलियम्स महोदय की व्याख्या है—जीवन का वह गुण जिसके द्वारा मनुष्य शारीरिक उपयोगिता और परसेवा (समाजसेवा) की चरम सीमा प्राप्त करता है अर्थात् आत्मसुख और परसुख दोनों की अनुभूति। दोनों ही स्वास्थ्य के लक्षण हैं और इनके लिये पूर्ण आत्म विकास आवश्यक है जो विशिष्टतया मानसिक विकास का फल होता है। मानसिक विकास न होने पर न शारीरिक विकास होता है न आध्यात्मिक।

जब शिशु का जन्म होता है तब वह स्वस्थ होता है। नौ मास के गर्भ काल में उसका इतना विकास हो चुकता है कि वह उन नवीन परिस्थितियों को जिनमें उसको जन्म के पश्चात् प्रवेश करना पड़ता है, सहन करने योग्य हो जाता है; उसमें इतनी शक्ति और सामर्थ्य आ जाती है कि वह नवीन वातावरण की प्रतिकूलताओं पर विजयी होकर अपने अस्तित्व को

अक्षुण्ण बनाये रखे। यही उसका स्वास्थ्य है, स्वस्थ होने का लक्षण है। शारीरिक पूर्णता का यह प्रमाण है। मानसिक पूर्णता का ज्ञान तो आगे चलकर होगा। उसके बड़े होने पर मालूम होगा कि उसके मानसिक विकास में तो कोई त्रुटि नहीं है। सामान्यतः शारीरिक वृद्धि सन्तोषजनक होने पर शिशु के शारीरिक अंगों के पूर्ण और सुडौल होने पर यही समझा जाता है कि उसके मस्तिष्क की रचना और मानसिक विकास भी सम्पूर्ण और सुचारु होंगे। यदि नवजात शिशु का शिर, आनन, बाहुएँ, टांगें, हाथ-पाँव तथा धड़ विशेषतः पृष्ठवंश (रीढ़ की अस्थि) सम्पूर्ण और दोषरहित है तो कोई कारण नहीं है जो मानसिक विकास भी पूर्ण न हो।

किन्तु कुछ ऐसे शिशु भी जन्मते हैं जिनमें बाहर से कोई त्रुटि न दिखाई देने पर भी, उनकी शारीरिक वृद्धि के उत्तम और दोषरहित होते हुए भी, उनमें मानसिक विकार होता है। आगे चलकर उनकी मानसिक वृद्धि नहीं होती, मानसिक शक्तियाँ अविकसित या अल्पविकसित रह जाती हैं और बुद्धि का विकास नहीं होता। दस बारह वर्ष की वय पर भी उनकी बुद्धि पाँच या छह वर्ष के बालक के समान होती है। कुछ में तो शिशु अवस्था में ही इसके चिह्न दिखाई देने लगते हैं। जिन बालकों में जन्मतः ही कुछ विरूपता या विरूपांगता होती है, अंगों की रचना में कोई दोष या त्रुटि होती है, विशेषतः यदि शिर के आकार में कोई विकृति होती है तो उनमें प्रायः मानसिक त्रुटि भी होती है जो उनकी वय अधिक होने पर अभिव्यक्त होती है जिनको मंगोलाभ (mongoloid) कहते हैं। उन शिशुओं के शिर के सामने का भाग जो ललाट या माथा कहा जाता है, वह बहुत ही छोटा होता है, जैसे हो ही नहीं। नेत्रों के ऊपर से ही वह पीछे की ओर को मुड़ कर सपाट या चपटा हो जाता है, और करोटि (cranium) का ऊपर का भाग सा दीखता है। ये बालक प्रायः जडबुद्धि होते हैं। कुछ ऐसे शिशु तथा बालक पाये जाते हैं जिनमें कोई शारीरिक त्रुटि न होने पर भी उनका मानसिक विकास नहीं होता, देखने में सुरूप (सुन्दर) दीखते हैं, किन्तु उनकी बौद्धिक वृद्धि नहीं होती; जडबुद्धि ही रह जाते हैं।

मानस-मन्दता (mental retardation) क्या है ?

जिन बालकों के वय प्राप्त करने, उनकी आयु बढ़ जाने पर भी उनकी बुद्धि नहीं बढ़ती, अल्प आयु के बालकों के समान रह जाती है उनकी यह दशा **मानस-मन्दता** कही जाती है और उन बालकों को **मानस-मन्द** (mentally retarded, retardates) कहते हैं। ऐसे बालकों में यदि

जन्म के समय शारीरिक रचना सम्पूर्ण और सुरूप हुई, अंगों की रचना में कोई दोष न हुआ, प्रसव में कोई बाधा न हुई, नवजात शिशु का आकार और शरीरभार (length and weight) भी सामान्य हुए, उनमें कोई अल्पता न हुई तो बालचिकित्सा विशेषज्ञ (pediatrician) को भी शिशु में मानसिक त्रुटि होने का सन्देह नहीं हो सकता। किन्तु तो भी ऐसे शिशु जन्म लेते हैं जिनके सर्वांगपूर्ण और सुन्दर होने पर भी उनमें मानसिक त्रुटि होती है और कितनों ही में अत्यधिक होती है जिसको अतिमानसमन्दता (severe retardation) कहते हैं। कुछ नवजातों में तो सन्देह करने का कुछ कारण मिल जाता है, किन्तु अनेक में कोई कारण या चिह्न नहीं दिखाई देता। बड़े होने पर ही उनमें मानसिक अपूर्णता के लक्षण प्रकट होते हैं। अपूर्णता जितनी अधिक होती है उतना ही उनका बुद्धि विकास कम होता है; वे उतने ही अधिक जड़बुद्धि होते हैं। कुछ में तो अपूर्णता इतनी अधिक होती है कि उनमें बुद्धि का कोई चिह्न दिखाई ही नहीं देता। 'हित अनहित पशु पच्छिन चीन्हा'। किन्तु वे यह भी नहीं समझ पाते कि किस कर्म को करने से उनका हित होगा या अनहित होगा। उनकी रक्षा, खिलाना-पिलाना तथा प्रत्येक शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति का भार दूसरों को उठाना पड़ता है। उनकी आजन्म देखरेख करनी पड़ती है।

कुछ में बुद्धि हीनता इतनी अधिक नहीं होती। वे जीवन के आधारभूत कर्मों को करने में समर्थ होते हैं, किन्तु उससे अधिक नहीं। उनका जीवन-निर्वाह भी किन्हीं दयालु अभिभावकों को ही सम्पन्न करना पड़ता है। अथवा वे भी किसी संस्था के अधीन रहकर जीवन बिताते हैं। तीसरी श्रेणी ऐसे बालकों या व्यक्तियों की है जिनमें बुद्धि न्यूनता इतनी कम होती है कि सामान्यतः उनमें कोई दोष नहीं दिखाई देता; उनका आचरण बहुत कुछ सामान्य (normal) के समान होता है। जब ऐसे बालक विद्यालय में अपने सहपाठियों के साथ नहीं चल पाते, सदा पिछड़े रहते हैं, अपनी श्रेणी में उनकी प्रगति सदा असन्तोषजनक रहती है, तब उनकी ओर ध्यान जाता है। उस समय विशेषज्ञों द्वारा परीक्षा करने पर पता चलता है कि बालक अल्पबौद्धिक है; उसका बौद्धिक विकास सामान्य बालकों से कम है। ऐसे बालकों की मनोविज्ञानी (psychologist) द्वारा परीक्षा बहुत आवश्यक है। वही इस बात का निश्चय करता है कि बालक अल्पबौद्धिक है अथवा प्रगति न करने का उसका कोई दूसरा ही कारण है। दृष्टि दोष, श्रवण शक्ति की न्यूनता, बधिरता आंशिक अथवा पूर्ण, वाक्दोष (defects of speech) बालक की प्रगति न करने के कारण हो सकते हैं। फिर

वातावरण (environment) जिस पारिवारिक स्थिति में बालक रह रहा है—के दूषित होने से बालक में बुद्धि दोष या बुद्धि अपूर्णता हो सकती है।

स्कूल जाने के पूर्व की वय में भी बालक में ऐसे चिह्न मिल सकते हैं, जिनसे बालक में मानस मन्दता का सन्देह हो सकता है। यदि उसके आचरण में कोई विशेष अलौकिकता मिले, बालक के बोलने, चलने, सोने, अपने वय के बालकों के साथ खेलने आदि में कोई असामान्यता पाई जाय तो माता-पिता, अभिभावक तथा चिकित्सक को उस ओर ध्यान देना उचित है। जितना शीघ्र त्रुटि का बोध हो सकेगा उतना ही शीघ्र त्रुटि सुधारक आयोजनों का प्रबन्ध सम्भव होगा और संतोषजनक सफलता की उतनी अधिक आशा की जा सकती है।

मानस-मन्दता के विभाग तथा वर्गीकरण
(Classification of Mental Retardation)

मानस-मन्दता की सीमा का निर्धारण कठिन है। मानस-मन्दों की एक लम्बी पंक्ति है जिसकी एक चरम सीमा पर वे हैं जिनमें जैसे बुद्धि का अस्तित्व ही नहीं है, जो जड़ या वानस्पतिक सृष्टि के समान अपने जीवन के अस्तित्व के अतिरिक्त, बुद्धि का कोई परिचय ही नहीं देते। उनमें समझने की इतनी भी शक्ति नहीं है कि किस काम से उनको हानि पहुँच सकती है। दौड़ती मोटर के सामने आने से वे कुचल जायेंगे, दहकते हुए अंगारे को पकड़ लेने से उनका हाथ जल जायगा, इसको समझने में वे असमर्थ हैं। उनकी रक्षा करना, शारीरिक स्वच्छता, वस्त्र परिधान, भोजन कराना तथा अन्य शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना तथा प्रत्येक समय देख भाल का उत्तरदायित्व माता-पिता या अभिभावकों पर रहता है।

मानस-मन्दता की लम्बी पंक्ति के दूसरे सिरे पर वे हैं जिनको स्वस्थ व्यक्ति से पृथक पहचानना भी कठिन है। वे अपना जीविकोपार्जन करने में भी समर्थ हैं, यद्यपि उनको अभिभावक या परामर्शदाता की आवश्यकता होती है जो उनको दिग्दर्शन कराता रहे। उनको आश्रय अवश्य चाहिये, किसी के वरदहस्त की छत्रछाया अवश्य वांछित है। वे स्वयं किसी परिस्थिति की जटिलता को सुलझाने में अवश्य असमर्थ होते हैं, किन्तु किसी हितैषी के निर्णय कर देने पर वे उसका स्वयं अनुसरण कर सकते हैं। ऐसे बालकों का तब पता चलता है जब स्कूल में उनकी प्रगति बाधित हो जाती

है; जब वे अपने साथियों से सदा पीछे रह जाते हैं, उनके साथ नहीं चल पाते, क्योंकि वे विषय को समझ नहीं पाते।

इन दोनों सीमाओं के बीच मानस-मन्द व्यक्तियों की लम्बी पंक्ति है जिनमें प्रत्येक का अपना विशेष प्ररूप है, एक टाइप है; प्रत्येक की अपनी विशेषता है, जो दूसरे की विशेषता से भिन्न है। किन्तु दोनों में अन्तर इतना अल्प है कि कभी तो उसका आभास भी कठिन होता है। जब कई विशेषज्ञ उनकी परीक्षा करते हैं तो प्रत्येक की विशेष अपूर्णता के रूप का बोध होता है। ऐसी दशा में उनका अलग अलग विभाग करना और उनका उचित वैज्ञानिक वर्गीकरण करना दुस्तर कार्य है। विभाग या समूह (groups) वे होते हैं जिनके गुण, दोष, रूप, स्वभाव आदि एक से होते हैं। विभाग या वर्गों के निर्धारण का यही आधार हो सकता है। दोष समान हों, लक्षणों की समानता हो, अथवा उनका कारण समान हो, अथवा जिस विकृति से दोष अथवा लक्षण उत्पन्न हुए हैं वह सब मन्दों में समान हो, तभी उनको एक विभाग या समूह में वर्गीकृत किया जा सकता है।

किन्तु जहाँ ऐसी कोई समानता नहीं प्रत्यक्ष होती, कारणों में भिन्नता होती है, लक्षण भिन्न होते हैं, किन्हीं में कई कारण मिल कर अपना प्रभाव प्रकट करते हैं, कुछ में विकृतिजात लक्षण या चिह्न उद्भूत होते हैं, तो कुछ में मनोविज्ञानी कारणों से दोष उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार लक्षणों की विविधता, कारणों की विविधता, दोषों की विचित्रता, रूप का वैषम्य आदि होने पर भी जो विभाग बनाये गये हैं, इस विषय के विद्वान बहुमत से, उसके विरोधी हैं। उनका कहना है कि ये विभाग कृत्रिम, आधारहीन, अवैज्ञानिक और अवांछित हैं तथा त्यागने योग्य हैं।

तो भी विषय का अन्वेषण करने तथा प्रबन्धकर्ताओं और शासकों को मन्दों की देखभाल, चिकित्सा, शिक्षा आदि के प्रबन्ध के लिए कुछ आधार तो अवश्य ही चाहिये। इसलिये कार्यक्रम का उपयोग करने के लिये मानस मन्दता के तीन बड़े विभाग किये गये हैं : (१) अतिमन्दता (severe retardadion), (२) मन्द मन्दता (मध्यम मन्दता) (moderate retardation) और (३) अल्प मन्दता (मृदु मन्दता) (mild retardation). इन्ही तीनों मुख्य विभागों के अनुसार मन्दताग्रस्त व्यक्तियों को **अतिमन्द, मध्यम मन्द** और **अल्प मन्द** कहा जाता है। इन तीनों विभागों के लक्षणों का यहाँ संक्षेप से परिचय दिया जाता है। किन्तु विभागों के लक्षणों को बताने के पूर्व यह उल्लेख कर देना उचित है कि किस आधार पर यह विभाजन किया गया है।

विभाग का आधार बुद्धि की सीमा है। जिनमें बुद्धि का अपेक्षतः अधिक विकास हुआ है उनको **अल्प** या **मृदु मन्द** के विभाग में रखा गया है। उनकी अपेक्षा जिनकी बुद्धि कम विकसित है उनको **मध्यम मन्द** की संज्ञा दी गई है। तीसरा विभाग उन व्यक्तियों का है जिनमें बुद्धि का अस्तित्त्व अत्यल्प है, जो जीवन के आधारभूत कर्मों के अतिरिक्त सोच-विचार करने में असमर्थ हैं, जिनका जीवन ही दूसरों की सेवा, सुश्रूषा, देखभाल पर निर्भर करता है। इनको **अतिमन्द** कहा गया है।

किन्तु बुद्धि की सीमा अथवा मात्रा को विभागों का आधार वनाने के लिये केवल अति, मध्यम या अल्प से काम नहीं चल सकता है। इन शव्दों से बुद्धि की माप नहीं निर्धारित हो सकती। ये केवल अनुमानदर्शी शव्द हैं। वैज्ञानिक विचार तथा अन्वेषण के लिये कोई मापदंड वनाना या मानना आवश्यक है। मात्रा निर्धारण quantification कहलाता है, यह वैज्ञानिक कार्यों का प्रधान आधार है। इस हेतु बुद्धि की माप के लिये ऐसे परीक्षण या टेस्टों का विद्वानों ने प्रादुर्भाव किया है जिनको बुद्धि या प्रज्ञा (intelligence) का मापदण्ड वनाकर उसको अंकों के रूप में प्रकट किया जा सके। इन टेस्टों से जो फल प्राप्त होता है उसे साधारणतया संक्षेप में आई. क्यू. (I. Q., intelligence quotient) कहा जाता है। वास्तव में वह बुद्धि का माप है, इस कारण हम उसे 'बुद्धिमाप' कह सकते हैं। इसी बुद्धि माप के अनुसार अतिमन्दता, मध्यम या मन्द मन्दता और अल्प मन्दता के विभाग बनाये गये हैं। इंग्लैण्ड मानस-मन्दों की रक्षा और शिक्षा के प्रवन्ध में अग्रसर होने वाला संसार का प्रथम राष्ट्र था, वहाँ अतिमन्द को idiot, मध्यम मन्द को imbecile और अल्प मन्द को feeble minded कहा जाता था।

अतिमन्द (severely retarded)

अतिमन्दता से ग्रस्त वालक, युवा, जरठ, नर-नारी कुल संख्या के ५ प्रतिशत पाये जाते हैं। यदि समस्त अतिमन्दों की संख्या सौ मानी जाय तो उसमें से पाँच अति मन्द होंगे। इनका बुद्धिमाप (I. Q.) ० से २० होता है। प्रायः उनमें केन्द्रीय तंत्रिका तन्त्र (central nervous system) की कोई न कोई क्षति पाई जाती है, मस्तिष्क की रचना में कुछ त्रुटि होती है। वे शिक्षा के अयोग्य होते हैं, शिक्षा ग्रहण नहीं कर पाते। उनको कोई कला भी नहीं सिखाई जा सकती, न वे किसी के आक्रमण करने पर अथवा दुर्घटना में अपनी रक्षा कर सकते हैं। आगामी आपत्ति के प्रत्यक्ष

होने पर भी वे उसको नहीं समझ पाते। अन्य समान आयु के बालकों के साथ वे नहीं खेलते या खेल पाते। उनमें भाषण शक्ति इतनी अत्यल्प होती है कि वे अपना मन्तव्य प्रकट करने में असमर्थ होते हैं। कितने बालक बोल नहीं पाते। उनकी शारीरिक वृद्धि बहुत मन्द होती है, सामान्य बालकों की अपेक्षा चतुर्थांश से अधिक गति से नहीं होती। उनका प्रत्याशित आयुमान (expectancy of life) भी अल्प होता है; अधिकतर की जीवन लीला शैशव काल ही में समाप्त हो जाती है। जो अधिक वय प्राप्त करते हैं वे जीवन भर असमर्थ, निस्सहाय बने रहते हैं, जीवनपर्यन्त उनको अभिभावकों पर निर्भर रहना पड़ता है जो उनको खिलाता-पिलाता रहे, पहनता रहे तथा अल्पायु के बालकों की भाँति उनकी रक्षा करे।

उनकी शारीरिक सक्रियता अति न्यून होती है। किन्तु वे प्रेम को समझते हैं जैसे शिशु उसका अनुभव करता है। उनको प्रेम चाहिये। आवेशात्मक आश्रय तथा सौहार्द को भी वे पहचानते हैं जिससे उनको लाभ होता है।

मध्यम मन्द, मृदु मन्द (moderately retarded)।

मानस मन्दों में से २० प्रतिशत मध्यम या मृदु मन्द होते हैं। उनकी बुद्धिमाप (I Q) २०–४९ होती है। वे अल्प शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। सम्भव है वे तीन कक्षा तक पहुँच सकें। किन्तु अधिक ऊपर जाना उनकी सामर्थ्य से परे है। किसी लघु कला, जैसे बढ़ई की कला, कपड़े सीना अथवा ऐसे ही मोटे काम सीख लेना उनके लिये सम्भव है। किन्तु उनको भी वे प्रायः १६ वर्ष की आयु के पश्चात् सीख पाते हैं। भाषा की शिक्षा ग्रहण करना तथा भाषण (speech) शक्ति का विकास सामान्य व्यक्तियों से बहुत न्यून होता है। उनकी शारीरिक और मानसिक वृद्धि सामान्य से आधी से अधिक नहीं होती; मानसिक वृद्धि तो और भी कम होती है। उनमें शारीरिक अथवा रचनात्मक त्रुटियाँ विशेष नहीं पाई जातीं।

ऐसे बालकों या अधिक वय वालों की शिक्षा के लिये विशेष साधनों और उपायों का उपयोग करना पड़ता है और उसमें भी निरन्तर उद्योगरत होने की आवश्यकता होती है। बारम्बार दोहराने और अभ्यास कराने पर वे सीख पाते हैं। निरत प्रयत्न से उनको अपने शरीर को स्वच्छ करने और रखने, स्नान करने, भोजन ढंग से करने, उसके पश्चात् मुख-शुद्धि, स्नान करने, अपनी शैया बनाने तथा अपनी शारीरिक आवश्यकताओं को प्रकट करने की शिक्षा दी जा सकती है जिससे अपने जीवन क्रम में वे कुछ अंश तक स्वावलम्बी हो सकते हैं और पारिवारिक जीवन के समानुकूल अंग बन सकते

हैं। धैर्य और कौशलयुक्त व्यवहार द्वारा उनको भय उपस्थित होने पर आत्मरक्षा के उपाय भी सिखाये जा सकते हैं। किन्तु वे कभी स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने के योग्य होंगे, जीवकोपार्जन कर सकेंगे, ऐसी आशा करना दुराशामात्र है। उनको आजन्म आश्रित रहना पड़ेगा, किसी अभिभावक या सहायक की सक्रिय सहानुभूति की सदा आवश्यकता बनी रहेगी।

अल्प या मृदु मन्द (mildly retarded).

मानसिक मन्दों का सबसे बड़ा विभाग यही है। ७५ प्रतिशत मानसिक मन्द इसी प्रकार के हैं। उनका बुद्धिमाप (I. Q.) ५०–८४ पाया गया है। उनमें से वहुतेरे सामान्य व्यक्ति के समान प्रतीत होते हैं। उनके साधारण आचरण, व्यवहार आदि में कोई ऐसी अपूर्णता नहीं मालूम होती जिससे उनकी बौद्धिक मन्दता की ओर ध्यान आकर्षित हो। परीक्षा करने पर उनको मन्दता की सीमा पर स्थित पाया जाता है; यदि मन्दता तनिक कम होती, दूसरे शब्दों में यदि बुद्धि विकास तनिक अधिक होता तो उनकी गणना सामान्य बौद्धिक व्यक्तियों में होती।

साधारणतया इस वर्ग के व्यक्तियों का शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार का विकास मन्द होता है। सामान्य वालक की अपेक्षा अर्धांश या तीन-चतुर्थांश ($\frac{3}{4}$) से अधिक नहीं होता। वे प्रायः १२ वर्ष की वय तक पढ़ना, लिखना अथवा कुछ गणित सीख सकते है; १६ वर्ष की आयु तक दूसरी, तीसरी या चौथी कक्षा तक पहुँच सकते हैं। किन्तु उनमें अधिकांश दसवीं श्रेणी या मैट्रीक्युलेशन तक नहीं पहुँचते। वे किसी कला को सीख कर अथवा शारीरिक श्रम द्वारा अपना जीविकोपार्जन करने के योग्य हो सकते हैं। उनकी भाषण या वातचीत करने की शक्ति सामान्य तथा साधारण होती है; उसमें विशेष त्रुटि नहीं होती। किन्तु शब्द ज्ञान परिमित होने से वे अपने भावों को भली प्रकार प्रकट नहीं कर पाते। वे सहानुभूति और स्नेह को भलीभाँति पहचानते है; यदि उनके हित के लिये उनसे कड़ा व्यवहार भी किया जाता है तो उसको भी वे समझते हैं। उनके मनोरंजन के लिये जो आयोजन किये जाते हैं उनसे वे प्रसन्न और सुखी होते हैं और खेलकूद, आमोद, प्रमोद के कामों में वड़े हर्ष से भाग लेते हैं। किन्तु वे दुर्व्यवहार को भी समझते है; कौन उनका हितैषी है, और कौन अहितैषी है, यह वे अनुभव करते हैं, जैसा प्रत्येक पशु भी जानता है।

उनके सामान्य व्यक्तित्व के कारण उनके लिए अनेक बार कठिनाइयाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। उनकी बातचीत और व्यवहार सामान्य होता हैं, किन्तु

दूसरों को समझने की शक्ति अल्प होती है। इस कारण दूसरों का अभिप्राय ठीक न समझने से अपनी वय वाले बालकों से प्रायः उनका झगड़ा हो जाता है। किन्तु उनके समान बुद्धिमाप (I. Q.) वालों के साथ उनका व्यवहार सदा संतोषजनक होता है और उनके साथ उनकी अच्छी निपटती है।

तो भी उनमें विचार करने और किसी कर्म के परिणाम सोच लेने की शक्ति के अभाव के कारण वे कितनी ही बार, आपदाओं में फँस जाते हैं। दुष्ट लोग उनकी ना-समझपन का अनुचित लाभ उठाते हैं; उनको दुष्कर्मों में लगा देते हैं, चोरी आदि करवाते हैं।

उनके साथ व्यवहार तथा शिक्षाक्रम में भी सहानुभूति, स्नेह, दृढ़ता तथा उत्साह आवश्यक है। प्रेमपूर्वक उनको उत्साहित करने से शिक्षा ग्रहण में तत्पर हो जाते हैं जिससे उनका जीवन-सुधार होता है।

बुद्धिमाप के सम्बन्ध में आपत्तियाँ

मानसिक मन्दता के मापन में तथा मानस मन्दों को श्रेणीवद्ध करने में बुद्धिमाप (I. Q.) ही प्रधान मापदंड रहा है। गत दशाब्दियों में उसी एक मापदंड से मन्दता की सीमा निर्धारित की गई है। किन्तु अनेक विद्वानों ने इसका विरोध किया है। इन विरोधियों में कई ऐसे प्रकांड विद्वान और अन्वेषक हैं। जिन्होंने सूक्ष्म निरीक्षण और नवीन तथ्यों के अतिरिक्त मानस-मन्दों के जीवन-सुधार और उनकी शिक्षा के नवीन साधनों के प्रचार में जीवन पर्यन्त उद्योग किया है।

उनका कथन है कि बुद्धिमाप सदा विश्वास योग्य नहीं होती। एक ही बालक की दो या अधिक बार, कुछ समय के अन्तर से परीक्षा करने पर उसमें अन्तर पाया जा सकता है। उनकी सम्मति में सामाजिक आचरण अथवा सामाजिक अनुगमन के योग्य होना ही मनुष्य के बौद्धिक विकास की सच्ची जाँच है। मनुष्य एक सामाजिक जीव है। अपने अस्तित्व के लिये भी उसको सामाजिक जीवन का एक अंग बनना पड़ता है और सामाजिक उत्तरदायित्वों को पूर्ण करना तथा सामाजिक नियमों का पालन करना होता है। यदि वह समाज का उपयोगी अंग नहीं बन सकता तो उसका अस्तित्व ही भयास्पद हो जाता है। इसको वे सामाजिक दक्षता (social competency) कहते हैं। उनका कथन है कि यही बुद्धि की सीमानिर्धारण का मापदण्ड होना चाहिये।' फिर उनके कथनानुसार ऐसे व्यक्ति पाये जाते हैं जिनका बुद्धिमाप जाँचों द्वारा अल्प पाये जाने पर भी वे सामाजिक जीवन का अनुगमन करने में सफल होते हैं। अतएव उनकी सम्मति में सामाजिक दक्षता ही मानसिक

मन्दता का प्रमाण होना चाहिये। केवल बौद्धिक माप से बुद्धि-विकास को तौलना अनुचित है।

कुछ विषय के अनुरागियों ने यह भी प्रस्ताव किया कि वालक की शिक्षा ग्रहण करने की योग्यता बुद्धिविकास का प्रमाण मान्य होना चाहिये। अर्थात् स्कूल में शिक्षा क्रम द्वारा वह जितनी विद्या प्राप्त कर सके, कक्षाओं में भिन्न-भिन्न विषयों में जैसी उसकी प्रगति रहे, तथा परीक्षाओं के फल के अनुसार उसका बौद्धिक स्तर समझना चाहिये। इसमें भी कितनी ही आपत्तियाँ हैं; कितनी ही शंकायें उठायी गई हैं। प्रथम तो परीक्षाओं के ही बहुत लोग विरोधी हैं। परीक्षाएँ, जिस प्रकार से की जाती हैं अथवा जो उनकी पद्धति है उससे किसी विद्यार्थी की उस विषय की यथार्थ योग्यता का ज्ञान होता हो, वे विद्यार्थी के ज्ञान की सच्ची दर्शिका हों, इससे अनेक विद्वान सहमत नहीं हैं। फिर प्रत्येक विद्यार्थी की सब विषयों में समान रुचि नहीं होती। ऐसे अनेक उदाहरण पाये जाते हैं कि एक विद्यार्थी एक विषय में उच्च कोटि की प्रगति करता है, किन्तु दूसरे विषय में वह असफल रहता है। इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है। अपने अपने विषय का प्रत्येक दिग्गज पंडित इस तथ्य का ज्वलन्त उदाहरण है। सर इस्साक न्यूटन सोलह वर्ष की आयु तक पाठ करने और लेखन से भी अनभिज्ञ था। उसको भाषा का भी ज्ञान नहीं था। आगे चल कर उसके वैज्ञानिक अन्वेषणों ने संसार को चकित कर दिया। जिन वैज्ञानिक सिद्धान्तों का उसने पता लगाया वे आज तक वैज्ञानिक अन्वेषकों का दिग्दर्शन करते हैं। भारत में भी अपने विषय के लब्ध प्रतिष्ठित अनेक प्रकांड विद्वानों का ऐसा ही इतिहास है। अनेक विद्यार्थियों में भी ऐसा ही पाया जाता है; किसी की रुचि गणित में अधिक होती है, साहित्य में नहीं होती। उसका परीक्षा फल गणित में अत्युत्तम होता है; साहित्य में नहीं।

अतएव आपत्ति उपस्थित करने वाले विद्वानों के मतानुसार स्कूल में प्राप्त फलों को वालक की बुद्धि का प्रमाण मानना उचित नहीं है।

उपर्युक्त सब बातों का विचार करने पर आजकल बुद्धिमाप को उतना महत्व नहीं दिया जाता। उसकी सहायता तो ली जाती है, किन्तु पहले की भाँति अब अकेली बुद्धि-माप ही बालक के मानसिक बल का निर्णायक नहीं मानी जाती। अब सामाजिक आचरण (social behaviour) अथवा सामाजिक दक्षता (social competency) पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि सामाजिक दक्षता का बाल्यकाल में क्या पता लग सकता है। वह तो जीवन में आगे चलकर प्रौढावस्था में आचरित व्यवहार का एक गुण है और जब व्यक्ति को स्वतंत्र रूप से सांसारिक जीवन में पदार्पण करना होता है तब इस गुण का प्रदर्शन होता है। उससे पूर्व सामाजिक दक्षता का प्रमाण कैसे प्राप्त किया जा सकता है।

किन्तु उसका आभास बाल्यकाल में भी मिल जाता है और अनुभवी मनोवैज्ञानिक उससे अनुमान कर सकता है कि बालक की प्रवृत्तियाँ किस प्रकार की हैं। छोटे बालक भी अपनी आयु वालों के साथ खेलना पसन्द करते हैं। छह मास के शिशुओं में, घुटनों के बल चलने वाले बालकों तक में, यह प्रवृत्ति देखी जाती है। दो वर्ष के बालकों में तो अन्य समान वयस्क बालकों से खेलने का गुण; जो व्यवहार का एक रूप है, भली भाँति प्रत्यक्ष हो जाता है। फिर स्कूल में पहुँचने पर तो इसका स्पष्ट प्रदर्शन होता है। किन्डरगार्टन, और उससे पूर्व नर्सरी काल में भी इसका निरीक्षक को अनुभव हो सकता है कि कौन बालक दूसरे बालकों से कैसा व्यवहार कर रहा है। उसके आचरण में क्या विशेषता है। आचरण या व्यवहार से बालक की किन प्रवृत्तियों का, सहज गुणों का या स्वभाव का आभास मिलता है। स्कूल में प्रवेश करने पर तो, जहाँ बालक को सदा ही सहपाठियों के साथ रहना होता है, वहाँ तो व्यवहार पद-पद पर स्पष्ट होता है और इससे बालक की मानसिक त्रुटि पहचानने में कोई कठिनाई नहीं होती।

अमरीका की A. A. M. D. (American Association for Mental Deficiency) नामक संस्था ने मानस-मन्दता से आक्रान्त व्यक्तियों (बालक, युवक, वृद्ध) की देख-रेख तथा शिक्षा के लिये बहुत कार्य किया है। यह एक बड़ी ही माननीय संस्था है जिसकी स्थापना सन् १८७६ में हुई थी। संस्था की ओर से बहुत साहित्य प्रकाशित हुआ है। उसकी ओर से मानस-मन्दों की शिक्षा के पथ प्रदर्शक के रूप में एक पुस्तिका (manual) प्रकाशित की गई है जिसमें मानस-मन्दों के श्रेणीकरण के सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए (१) बौद्धिक कार्यदक्षता (intellectual functioning) और (२) सामाजिक अनुगामी आचरण (social adaptive behaviour) इन दोनों को श्रेणीकरण अथवा वर्गीकरण का आधार माना है और दो प्रकार का वर्गीकरण किया है—

(१) रोगात्मक या हेत्वात्मक (medical classification) और

(२) आचरणात्मक या व्यवहारात्मक (behavioral classification).

१. अमरीकी संघ की व्याख्या के अनुसार रोगात्मक या हेत्वात्मक वर्ग में वे मानस-मन्द हैं जिनकी मानसिक प्रगति की बाधा का कारण उनके शरीर में उपस्थित कोई विकृति (pathology) या रचनात्मक विरूपांगता (structural deformity) होती है। विकृति के कारण जो लक्षण उत्पन्न होते हैं उसी को रोग विशेष के नाम से पुकारा जाता है। इस वर्ग के मानस-मन्दों में जो मानसिक विकास में बाधा पड़ जाती है, और उसकी प्रगति रुक जाती है उसके कई प्रकार के कारण हो सकते हैं जिनसे शरीर में कोई रचनात्मक त्रुटि उत्पन्न हो जाती है, अथवा कुछ विष उत्पन्न होकर मस्तिष्क को इतनी हानि पहुँचाता है कि उसकी वृद्धि रुक जाती है। कभी-कभी गर्भावस्था में भावी माता को कुछ रोग होने से उसमें ऐसे विष उत्पन्न हो जाते है जो गर्भ के मानसिक विकास को रोक देते हैं। इस वर्ग की यही विशेषता है जो मानस-मन्दता के कारणरूप व्यक्ति में उपस्थित मिलती है। A. A. M. D. ने इस वर्ग को, कारण के अनुसार आठ श्रेणियों में विभक्त किया है। उनमें से सात श्रेणियों में मन्दता का कारण उपस्थित पाया जाता है। आठवीं श्रेणी में कारण प्रत्यक्ष नहीं होता है। किन्तु कोई अज्ञात पारिवारिक असामान्यता उसका कारण हो सकती है जिसके प्रभाव से बालक का वुद्धि-विकास नहीं हो पाता। यह अल्पमान्यता केवल माता में या पिता में अथवा किसी पूर्वज में उपस्थित हो सकती है। अन्य भाई-बहिनों में से किसी में उसके लक्षण पाये जा सकते हैं।

२—दूसरे व्यवहारात्मक विभाग में कोई रचनात्मक विकृति नहीं पाई जाती। शरीर में कोई ऐसी असाधारणता नहीं उपस्थित होती जिससे मानसिक विकास-त्रुटि का संबंध जोड़ा जा सके। न माता-पिता में अथवा परिवार में कोई ऐसा दोष उपस्थित पाया जाता है जिससे वालक में त्रुटि उत्पन्न हुई जान पड़ती हो। अतएव इस प्रकार के दोष का कारण मानसिक माना जाता है, अर्थात् मानस की अवृद्धि (psychological deficit) से यह त्रुटि उत्पन्न होती है। किन्हीं अज्ञात कारणों से मानस का विकास नहीं होता।

व्यवहारात्मक मन्दता का वर्गीकरण हेत्वात्मक (aetilogical) वर्गीकरण की अपेक्षा अधिक जटिल है। उसमें प्रत्यक्षतः मन्दता का कोई कारण स्पष्ट नहीं होता। केवल मन्द व्यक्ति के व्यवहार से उसका कारण अनुमान करना होता है। व्यवहार के अनेक रूप हो सकते हैं। कोई व्यक्ति अतिमन्द होता है; दूसरा व्यक्ति मध्यम मन्द किन्तु शान्त प्रकृति वाला पाया जाता है। तीसरा व्यक्ति मन्द किन्तु उग्र प्रकृति वाला होता है लड़ना, तोड़ना, फोड़ना

आदि उसकी प्रकृति के विशेष गुण होते हैं। अपराधियों में ऐसे बहुत पाये जाते हैं। चोरी, डाका, हत्या तक में ऐसे व्यक्ति लिप्त पाये गये हैं। आधुनिक मत ही यह है कि समाज-विरोधी कर्मों (anti-social) को स्वभावतः करने का आचरण मानस-मन्दता का परिणाम होता है। कुछ की बुद्धि प्रखर होने पर भी उनमें एक विशेष दिशा में त्रुटि हो सकती है। जो बड़े-बड़े महान अपराध करते हैं, बैंकों में डाका डालते हैं, हत्याएँ करके अपने अभीष्ट को प्राप्त करते हैं, बड़े-बड़े अपराधों की योजना बना कर उसके लिये मानुषिक और अन्य उपकरणों की सहायता प्राप्त करके उन कृत्यों को करते हैं, म्यूजियमों या प्रदर्शनियों से महान चित्रकारों के बनाये हुए चित्र उड़ा कर ले जाते हैं, रत्नों की चोरी कर डालते हैं, यद्यपि उनको मानस-मन्दों की श्रेणी में नहीं गिना जाता, तो भी उसमें समाज-विरोधी कर्मों को करने की प्रवृत्ति एक प्रकार की, एक विशिष्ट दिशा में, मन्दता ही है। वास्तव में समाजोपयोगी होने के भाव का विकास न होना ही विशिष्ट प्रकार की मन्दता समझनी चाहिये।

व्यवहारात्मक मन्दता के कारणों को ढूंढ़ने के लिये आक्रान्त व्यक्ति के लक्षणों के अनुसार अनुमान ही का बहुत कुछ आश्रय लेना पड़ता है। उनको आनुवंशिकता (heredity) और परिस्थितियों (environment) में खोजना पड़ता है जिसके लिये व्यक्ति का पारिवारिक इतिहास (family history) तथा उसका वैयक्तिक इतिहास जानना आवश्यक होता है। इन सबका पूर्णविचार मन्दता निर्णय, जिसको रोगनिश्चिति (diagnosis) कहा जाता है उसके साथ तीसरे परिच्छेद में किया गया है। यहाँ इतना ही बताना प्रयोजन है कि व्यवहारात्मक वर्गीकरण में अनेक आपत्तियों को सुलझाना पड़ता है और बहुत कुछ अनुमान को ही आधार बनाना होता है। तो भी विद्वानों ने व्यवहारात्मक मन्दता के माप के लिये अनेक परीक्षण-विधियों का अविष्कार किया है जिनके द्वारा वे व्यक्ति—बालक तथा युवा—की योग्यता तथा बुद्धिविकास को अंकों के रूप में नापते हैं और मन्दता निर्णय के लिये उनका उपयोग करते हैं। इनकी गम्भीर व्याख्या निदान की विधियों के साथ की गई है।

मानसिक रोग और मानस-मन्दता

(mental diseases and mental retardation)

मानसिक रोग अथवा मानसिक अस्वस्थता (mental disease or illness) तथा मानस-मन्दता दोनों में भेद है। दोनों एक बात नहीं हैं।

मानस रोगों से ग्रस्त व्यक्ति पागलखानों में देखे जाते हैं। उनमें कुछ ऐसे भी होते हैं जिनकी दशा नहीं सुधरती। किन्तु अधिकतर कुछ काल के पश्चात् रोगमुक्त हो जाते हैं। कुछ रोगियों की दशा सुधरने में लम्बा समय लग जाता है, कई वर्ष लग सकते हैं। रोगग्रस्त होने पर वे विचार करने तथा परिस्थिति के अनुकूल काम करने की योग्यता खो वैठते हैं। प्रतीत करने अथवा अनुभव की शक्ति लुप्त हो जाती है। रोग प्रारम्भ से पूर्व वे पूर्ण स्वस्थ थे तथा अपने दैनिक कार्य और जीवकोपार्जन में लगे रहते थे। रोग-ग्रस्त होने का समय निश्चित रूप से ज्ञात होता है। कब रोग प्रारम्भ हुआ, यह कहा जा सकता है। अनेक रोगों में रोग का कारण भी विदित तथा निश्चित होता है। डॉक्टर को मालूम होता है कि रोग का भविष्य में क्या क्रम होगा। रोग-मुक्ति की कबतक सम्भावना है और रोगमुक्ति के पश्चात् वे व्यक्ति फिर पूर्ववत् स्वस्थ हो जाते हैं।

कुछ मानसिक रोगों में समय-समय पर कुछ काल के अन्तर से रोग के आक्रमण होते रहते हैं। आक्रमणों के अन्तर्काल में रोगी पूर्ण स्वस्थ रहते हैं। यह स्वस्थ अन्तर्काल (lucid interval) कहलाता है। मानसिक रोगों की चिकित्सा के अनेक साधनों का भी आविष्कार हो चुका है। औषधियों और इन मनोवैज्ञानिक साधनों द्वारा रोगी लाभान्वित होते हैं और रोगमुक्त होते हैं। कुछ दशायें ऐसी होती हैं जो जीवनपर्यन्त नहीं तो वहुत दीर्घ काल तक वनी रहती हैं।

इसके विपरीत **मानस-मन्दता** मानस (mind, intellect) के विकास या वृद्धि का अभाव है। एक सीमा तक पहुँचकर मन की या बुद्धि की वृद्धि रुक जाती है, वह अपनी पूर्ण सीमा तक, जहाँ तक उसकी वृद्धि या विकास हो सकता था, और सामान्य व्यक्तियों में होता है, वृद्धि नहीं कर पाती, उसका विकास अपूर्ण रह जाता है। इस कारण प्रायः मन्दता जन्मजात होती है क्योंकि मन या बुद्धि की वृद्धि उसी समय में रुक जाती है जब मस्तिष्क तथा शरीर के अन्य अंगों की वृद्धि होती है, अर्थात् गर्भकाल में, और बहुत बालकों में मस्तिष्क के अपरिवर्धन (non-development) की सहगामी होती है। मस्तिष्क का कुछ भाग अपरिवर्तित रह जाता है और उस भाग का जिस क्रिया से सम्बन्ध होता है वह नहीं होती, बुद्धि का वह अंग अपूर्ण रह जाता है। क्योंकि मन या बुद्धि मस्तिष्क की क्रियाशीलता का फल (result of functioning of brain) होती है।

इस प्रकार बुद्धिमन्दता प्रायः जन्मजात होती है। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनमें वह किसी दुर्घटना में मस्तिष्क को आघात पहुँचने, जैसा बहुधा

करोटि के अस्थिभंगों (fractures of skull) में होता है, से उत्पन्न हो जाती है। कुछ संक्रामक रोगों, विषों, रासायनिक पदार्थों आदि के प्रयोग से भी मानस-मन्दता उत्पन्न होती है और एक बार प्रकट होने पर वह जीवन-पर्यन्त रहती है। साधनों द्वारा उसमें सुधार हो सकता है; निरन्तर प्रयत्न से बुद्धिमाप भी उन्नत हो जाता है। किन्तु मन्दता पूर्णतया जाती रहे, वह सामान्यता (normality) में परिवर्तित हो जाय, इसकी सम्भावना नहीं होती।

अमरीका में डॉक्टर डॉल (Doll) ने मानस-मन्दता के संबंध में विशेष काम किया है। उनके लेख तथा प्रकाशित मत बहुत माननीय हैं। इसी प्रकार इंग्लैंड में डॉक्टर ट्रैडगोल्ड (Tradgold) का कार्य विशेष माननीय है।

डॉक्टर डॉल के मतानुसार मानस-मन्दता अचिकित्सनीय है। उससे कभी मुक्ति नहीं हो सकती। वह दशा स्थावर है, आयुपर्यन्त रहने वाली है। उनका कहना है कि यदि मानस-मन्दता का प्रत्यागमन हो जाता है, वह दशा जाती रहती है, तो रोगनिर्णायक (diagnostician) ने इस दशा को ठीक-ठीक नहीं पहचाना, उसकी निश्चिति (diagnosis) ठीक नहीं थी। उनका निश्चित मत यही था कि यह दशा स्थायी (permanent) होती है और उसका प्रत्यागमन नहीं हो सकता। जिन मानस-मन्दों में कुछ सुधार हो गया उनको भी डॉक्टर डॉल ने कूट या छद्म अल्पमानस-मन्दता (pseudo feeble-mindedness) माना है।

डॉक्टर डॉल ने मानस-मन्दता के ६ आवश्यक लक्षण या प्रमाण माने हैं जिनका उल्लेख तीसरे परिच्छेद में रोग निश्चिति के संबंध में किया गया है। उनके मतानुसार मानस-मन्दता को मापने के लिये सामाजिक (अनुगमन) अदक्षता (social incompetence) तथा बौद्धिक न्यूनता (sub-average Intelligence) दोनों को मापदंड मानना चाहिये, केवल बुद्धिमाप को नहीं।

डॉक्टर ट्रैडगोल्ड केवल सामाजिक दक्षता (social competence) ही को बौद्धिक विकास का मापदंड मानने वाले थे। उसका कहना था कि समाज में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखना, स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने की सामर्थ्य ही मानसविकास की दर्शिका है। उसी के अनुसार मानसिक पूर्णता या अपूर्णता का निर्णय करना चाहिये। उनको यह ज्ञान था कि सामाजिक या राजनैतिक अथवा आर्थिक कारण स्वतन्त्र अस्तित्व की

असफलता के कारण हो सकते हैं। किन्तु उनके मतानुसार इन कारणों पर विजयी न होना, उनके अनुकूल व्यवहार न करके विपरीत परिस्थिति को सानुकूल स्थिति में परिवर्तित न कर सकना भी बौद्धिक अपूर्णता का द्योतक था।

आज कल बौद्धिक मन्दता के निर्णय में दोनों का विचार किया जाता है। AAMD ने जो मानस मन्दता की व्याख्या की है उसमें भी दोनों को प्रधानता दी है।



दूसरा परिच्छेद

प्रथम चिकित्सक का उत्तरदायित्व

मानस-मन्दता प्रत्येक राष्ट्र के लिये एक कठिन और गंभीर प्रश्न है। अमरीका में इस समय लगभग ६० लाख ऐसे व्यक्ति हैं जो अपने जीवन में किसी न किसी मानस-मन्द श्रेणी में स्वीकृत हो चुके हैं और १२६००० ऐसे ही व्यक्ति प्रतिवर्ष जन्म लेते हैं। कनाडा, इंग्लैण्ड, जर्मनी आदि में भी मानस-मन्दों की संख्या इसी अनुपात में पाई गई है। राष्ट्र को इन व्यक्तियों की जीवन पर्यन्त देख-रेख करने का प्रवंध करना पड़ता है जिसके व्यय का अनुमान किया जा सकता है। व्यय से भी अधिक महत्व जातीय अथवा राष्ट्रीय जनवल की हानि है। इतने व्यक्तियों की सार्थक उपयोगिता से राष्ट्र वंचित हो जाता है और जो पारिवारिक असन्तोष उनके कारण उत्पन्न होता है वह पृथक् है। कितने परिवार दुख सागर में डूबे रहते हैं। इस कारण प्रत्येक देश की सरकार मानस-मन्दता को मिटाने अथवा कम करने को उत्सुक रहती है।

सन् १९६१ में अमरीका के प्रेसीडेन्ट कैनेडी ने एक कमेटी नियुक्त की थी जो 'मानस-मन्दता को रोकने, उसका निरोध तथा चिकित्सा करने के उपायों को खोज निकाले'। इस कमेटी ने वहुत वड़ा कार्य किया और सारे देश ने कमेटी को पूर्ण सहयोग दिया। उस समय से इस विषय पर रिसर्च को वहुत प्रोत्साहन मिला है जिसके परिणाम स्वरूप अमरीका में सवसे अधिक खोज हुई है, यद्यपि अन्य देशों ने भी भरसक प्रयत्न करने में त्रुटि नहीं की है। इसका फल यह हुआ है कि मानस-मन्दता के अनेक कारणों का पता चला है, अन्वेषण क्रियाओं और विधियों में बहुत प्रगति हुई है और इस दशा के निरोध तथा आक्रान्त व्यक्तियों की देख-रेख, उनकी शिक्षा तथा पुनःस्थापन (rehabilitation) के उपायों में आशातीत सफलता हुई है।

इस विशाल अध्ययन और अन्वेषण का, जिसमें सभी सभ्य देशों ने भाग लिया है, विशेष परिणाम यह हुआ है कि यह भलीभाँति प्रमाणित हो चुका है कि इस संकट के निवारण के लिये, मानस-मन्दता का निरोध करने तथा आक्रान्त व्यक्तियों की चिकित्सा अथवा पुनःस्थापन के लिये अनेक प्रकार के विशेषज्ञों—चिकित्सा, मनोविज्ञान, शिक्षाविज्ञान, प्रशासक

(administrator), सामाजिक कार्यकर्ता, अन्वेषणकर्ता, परिचारिका (nurse), बालचिकित्सक, विकलांगता विशेषज्ञ (orthopaedic surgeon) आदि सब के सहयोग की आवश्यता है। मनोविज्ञानी का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु सबसे प्रधान स्थान है प्रथम चिकित्सक का (primary physician), जो समस्त आयोजनों का केन्द्रीय आधार है। वही सफलता और असफलता के बीच की सीमा है, बालक के जीवन की सफलता और असफलता का विधाता है। शिशु की त्रुटि को शीघ्रातिशीघ्र पहचान लेना और पहचान कर उसकी चिकित्सा तथा परिचर्या के लिये आवश्यक उपकरणों और साधनों को शिशु के लिये सुलभ करना उसी की दक्षता और निरन्तर प्रयत्न का फल होता है। इसी पर सफलता निर्भर होती है।

प्रथम चिकित्सक (primary physician) कौन है ?

प्रथम चिकित्सक उसको कहा जाता है जो सब के पहले नवजात शिशु का परिचय प्राप्त करता है अथवा जो प्रथम बार बालक की किसी अस्वस्थता के लिये देखता है। प्रायः वह परिवार का डॉक्टर होता है जो बहुत समय से परिवार वालों की चिकित्सा करता आया है। बालक के अस्वस्थ हो जाने पर माता-पिता बालक को उसी को दिखाते हैं। आजकल, बड़े नगरों में विशेषकर, प्रायः अस्पतालों में प्रसव कराये जाते हैं। ऐसी दशा में वहाँ प्रसव कराने वाले कर्मचारी शिशु से प्रथम बार भेंट करते हैं और यदि प्रसव में कोई कठिनाई हुई या शिशु में उनको कोई अपसामान्यता दीख पड़ी तो वहाँ के नियुक्त इस ओर चिकित्सक का ध्यान आकर्षित करते हैं। इस इन्चार्ज चिकित्सक का यह कार्य है कि शिशु की पूर्णतया परीक्षा करे और यदि कोई अपसामान्यता (abnormality) उसे मिले तो वह शिशुप्रसव-सम्बन्धी अस्पताल के इतिहास-पत्रों (history sheets) में उसका पूर्ण उल्लेख नोट कर दे। छह या सात दिन के पश्चात् शिशु माता के साथ अपने घर भेज दिया जाता है। जहाँ शिशु परिवार के लगे-बंधे चिकित्सक की देखभाल में रहता है। उसको शिशु की अपसामान्यता का ज्ञान करा देना, अस्पताल के कर्मचारियों का परम कर्तव्य है, क्योंकि अब से तो वही शिशु का प्रथम या मुख्य चिकित्सक होता है। शिशु की त्रुटि की चिकित्सा का सारा उत्तरदायित्व उसी पर रहता है। उसी को उपयुक्त चिकित्सा के उपकरणों को जुटाना होता है। आवश्यक होने पर विशेषज्ञों द्वारा शिशु की जाँच कराना, विशेषज्ञों की समिति द्वारा विचार कराना,

उनके परामर्शानुसार वालक को उपयुक्त परिस्थिति में रखवाने—अस्पताल में, मानस संस्थाओं (institutions) में या घर ही पर रखकर उपचार करवाने आदि का उसी को प्रवन्ध करना पड़ता है।

वहुधा शिशु में कोई अपसामान्यता नहीं होती। उसके अंगों में कोई दोष नहीं होता; शिशु सुरूप होता है, सुन्दर होता है। केवल शिशु के वालक हो जाने, भागने-दौड़ने तथा अन्य वालकों के साथ खेलने के समय ही उसकी त्रुटि का आभास मिलता है। एक युवती""""नाम की थी। उसे एक कन्या हुई। वह सव प्रकार से माता-पिता को स्वस्थ दिखाई पड़ी। तीन मास से अधिक की हो जाने पर वह कुछ अस्वस्थ हुई। डॉक्टर को वुलाया गया। डॉक्टर ने सव हालचाल पूछा। माता ने कहा—'डॉक्टर, यह अद्‌भुत वालिका है, ऐसी वालिका तो मैंने देखी ही नहीं। यह कभी नहीं रोती, जैसे सुला देती हूँ, वैसे ही सोती रहती है, करवट भी नहीं लेती, रात को इसके कारण मुझे कभी नहीं उठना पड़ा, मुझे इसने कभी नहीं कष्ट दिया'। माता ने वड़े गर्व के साथ कहा। अव चिकित्सक को यह कहने का साहस नहीं हुआ कि तुम्हारी कन्या मानस-मन्द है, उसमें मानस त्रुटि है। वह जानता था कि उसके कहने का माता को विश्वास नहीं होगा, न परिवार का अन्य कोई व्यक्ति उसके कथन पर विश्वास करेगा। उसके कथन से उनको जो धक्का पहुँचेगा उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप वे तत्काल उसके कथन को असत्य मानेंगे और वह उनका विश्वास खो देगा।

इससे स्पष्ट है कि जहाँ एक ओर चिकित्सक का उत्तरदायित्व वहुत विस्तृत और विशाल है वहाँ दूसरी ओर उसकी कठिनाइयाँ भी उतनी ही गंभीर हैं। प्रथम तो वह ऐसी दशाओं से परिचित नहीं होता। उसके शिक्षाक्रम में इस विषय का प्रायः अभाव ही होता है। उसको इस दशा से ग्रस्त वालकों या अधिक अवस्था वाले व्यक्तियों को देखने का कम ही अवसर मिलता है। यद्यपि सामूहिक रूप से देश में मानस-मन्दों की संख्या वहुत है, किन्तु व्यक्तिगत सामान्य चिकित्सक को ऐसे रोगियों को देखने का कम अवसर मिलता है।

तीसरी सवसे वड़ी कठिनाई यह है कि मानस-मन्दों की इतनी विस्तृत शृङ्खला है कि ग्रस्त व्यक्तियों के लक्षणों में कोई समानता नहीं मिलती। प्रत्येक मन्दताग्रस्त वालक एक स्वतन्त्र प्ररूप (type) होता है जिसके अपने ही लक्षण हैं। दूसरे व्यक्ति से उसके लक्षणों में भिन्नता है। जहाँ शृंखला के एक छोर पर वे व्यक्ति हैं जिनके लक्षण उनके मुख पर लिखे हुए हैं, देखते ही उनकी दशा को पहचानने में देर नहीं लगती, वहाँ दूसरी छोर पर ऐसे

मानस-मन्द हैं जिनको मानस-मन्द भी कहने में संकोच होता है। साधारण परीक्षा पर भी उनमें कोई त्रुटि नहीं मिलती। शारीरिक दोषों के पूर्ण अभाव के अतिरिक्त उनमें कोई व्यवहारात्मक (behavioral) दोष भी प्रमुखतया स्पष्ट नहीं होता। वे अपना जीवनोपार्जन करने में भी समर्थ होते हैं और सर्पोपरि वे सामान्य स्वस्थ व्यक्ति के समान दीखते हैं। केवल मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म परीक्षण पर उनकी त्रुटि का बोध होता है। ऐसे व्यक्तियों के दोष को उनके शिक्षाकाल से पूर्व पहचानना असंभव है। जब वे स्कूल में जाते हैं और शिक्षा ग्रहण करने में अपने सहपाठियों के साथ नहीं चल पाते, पिछड़ जाते हैं, तब उनकी दशा का सन्देह होता है। अतएव दशा का शीघ्र निदान करने में प्रथम या सामान्य चिकित्सक की कठिनाइयों का अनुमान किया जा सकता है।

किन्तु मानस-मन्दों की चिकित्सा और उनके पुनःस्थापन के आयोजनों की सफलता के लिये प्रथम चिकित्सक की दक्षता अनिवार्य है। अतएव प्रथम अथवा सामान्य चिकित्सक को मानस-मन्दता की भी शिक्षा देकर उसको इस दशा में दक्ष बनाना अत्यन्त वांछित है।

सन् १९६४ में अमरीका के मेडिकल एसोसियेशन ने मानस-मन्दता-सम्बन्धी सभी प्रश्नों पर विचार करने के लिये एक गोष्ठी (conference) बैठाई थी। गोष्ठी के अभिप्राय की व्याख्या करते हुए चिकित्सक संघ (A.M.A) ने घोषित किया था कि चिकित्सा व्यवसायी समुदाय का उत्तरदायित्व है कि "वह मानस-मन्दता को प्रारंभिक अवस्था ही में पहचानने का आयोजन करे और ग्रस्त व्यक्तियों की उपयुक्त चिकित्सा और परिचर्या के लिये उपकरणों को प्राप्त करने का विधान करे"। उसमें यह भी कहा गया था कि चिकित्सक इस त्रुटि की चिकित्सा और निदान की विधियों को उन्नत करने तथा ग्रस्त व्यक्तियों की शिक्षा और पुनःस्थापन में भी पूर्ण सहयोग दे।

इसका मन्तव्य यह था कि उस देश के चिकित्सक वर्ग ने यह भलीभाँति प्रतीत किया कि मानस-मन्दता के रोगियों की चिकित्सा और देखरेख का भी प्रत्येक चिकित्सक पर उतना ही उत्तरदायित्व है जितना सामान्य रोगग्रस्त रोगियों का है। अतएव प्रत्येक सामान्य चिकित्सक को मानस-मन्दता का वैसे ही अध्ययन करना चाहिये जैसे वह सामान्य रोग विज्ञान का करता है। मानस-मन्दता एकजातीय आपत्ति है और उस आपत्ति का निराकरण चिकित्सकवर्ग ही कर सकता है। जहाँ प्रत्येक नवजात १०० शिशुओं में ३ मानस-मन्द शिशु जन्मते हैं वहाँ की मानस-मन्द जनसंख्या का अनुमान किया

जा सकता है। देश के सौभाग्य से इनमें से बहुत से तो जीवन के प्रथम वर्ष ही में अपनी जीवनलीला समाप्त कर देते हैं। कुछ की आगे चलकर बाल्य-काल में मृत्यु हो जाती है। फिर अधिकतर ऐसे होते हैं जिनकी व्यवहारात्मक त्रुटि का उनके शिक्षाकाल में पता लगता है जब शिक्षा ग्रहण की असमर्थता का वे परिचय देते हैं। कुछ में दोष इतना अल्प होता है कि वे कुछ कला या व्यवसाय सीख कर स्कूल छोड़ कर जीविकोपार्जन में लग जाने पर सामान्य जनता समुदाय में विलीन हो जाते हैं और बहुत कुछ स्वावलंबी होने के कारण उनकी ओर ध्यान आकर्षित नहीं होता। इन कारणों से यह जानना कठिन होता है कि किस समय अमुक स्थान की जनता में मानस-मन्दों की कितनी संख्या है। अनुमान किया गया है कि लगभग १ प्रतिशत जनसंख्या ऐसी है जिनमें मानस-मन्दता प्रमाणित हो चुकी है।

मानसमन्दता का शीघ्र निदान बालक अथवा शिशु के हित के लिये अत्यन्त आवश्यक है। अनेक बार शिशु के शरीर में उपस्थित कोई अपसामान्यता मस्तिष्क की क्षति का कारण होती है जिससे मस्तिष्क अथवा उसके किसी विशेष भाग का परिवर्धन नहीं हो पाता। मनस (mind) मस्तिष्क का कर्म है। अतएव मस्तिष्क की वृद्धि रुक जाने से मनस अवर्धित रह जाता है और मानस-मन्दता के रूप में प्रत्यक्ष होता है।

इस अपसामान्यता का बोध हो जाने पर उसको दूर करना अथवा कम करना अनेक बार संभव होता है। आगे चलकर संलक्षणों का जो वर्णन किया गया है उसको पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जायगा। अपसामान्यता हट जाने या उसका ह्रास होने पर मस्तिष्क की क्षति न होने पाएगी और मानस-मन्दता का सुधार संभव होगा।

अनेक बार परिस्थितियों या वातावरण (environment) की प्रतिकूलता बालक में सामाजिक अदक्षता (social incompetence—सामाजिक अनुकूलता का अभाव) का कारण होती है। वह अपने को परिस्थिति के अनुकूल बनाने में असमर्थ होता है। जो बालक हीन कुलों में जन्मते हैं, जहाँ अर्थाभाव के अतिरिक्त परिवार के सदस्यों में कलह होती रहती है, लड़ना-झगड़ना जिनका स्वभाव बन गया है, जहाँ शिक्षा का अभाव है। ऐसे वातावरण में बालक में सद्‌गुणों का अभाव स्वाभाविक है। ऐसे बालक में सामाजिक अनुकूलता कैसे आ सकती है। यदि ऐसे बालक को उस वातावरण से हटा कर उत्तम वातावरण में रखा जाय तो उसमें वे सब गुण आ जाएँगे और उसकी व्यवहारात्मक मानस-मन्दता दूर हो जायगी।

शिशु के शारीरिक और विशेषकर मानसिक विकास पर प्रेम का जो परिवर्धक प्रभाव पड़ता है वह भलीभाँति प्रमाणित हो चुका है। डॉक्टर··· जो प्रसिद्ध बालरोग-चिकित्सक थे, अपने बालचिकित्सा अस्पताल में प्रत्येक शिशु तथा बालक के चिकित्सा-पत्र पर लिख देते थे कि उसको प्रत्येक २ या ४ या ६ घण्टे पर चुम्बन किया जाय, और नर्सों को इस क्रिया की पूर्ति का कड़ा आदेश था। प्रेम की अपेक्षा प्रेम-प्रदर्शन आवश्यक है। बालक यह अनुभव करे कि उसको प्रेम प्राप्त हो रहा है।

कभी-कभी ऐसे माता-पिता होते हैं जो बच्चों से प्रेम नहीं करते, वरन् उनकी ताड़ना ही नहीं, शारीरिक क्षति पहुँचाते रहते हैं। ऐसे मामले न्यायालयों में पुलिस द्वारा लाये गये हैं। ऐसी दशा में मानस विकास कैसे संभव है।

यह भी देखा गया है कि सम्पन्न परिवार में अल्प मानस-मन्द बालक उत्पन्न हुआ है। माता-पिता उसे बहुत प्यार करते है और वे इसके उत्सुक रहते हैं कि उनका लाड़ला पुत्र शीघ्र ही अपनी कुशाग्र बुद्धि का परिचय देकर उनको गर्वान्वित और हर्षयुक्त करे जिससे वे अपने मित्रों और अन्य कुटुम्बियों से कह सकें कि उनका पुत्र इतना मेधावी है। इसके लिये वे बालक की विशेष शिक्षा का प्रबन्ध करते हैं, तथा अन्य आयोजनों द्वारा उसकी प्रतिभा को प्रकट करना चाहते हैं। परिणाम यह होता है कि बालक पर इतना भार पड़ जाता है कि वह उसको सहन नहीं कर पाता और उसको लाभ के स्थान पर हानि होती है। उसकी मानस त्रुटि और बढ़ जाती है। माता-पिता यह नहीं जानते कि बालक में शिक्षा-ग्रहण-शक्ति अल्प है। वह कुछ बुद्धिहीन है और धैर्य से उपयुक्त उपायों तथा विशेष शिक्षणक्रम द्वारा उसकी त्रुटि को बहुत कुछ सुधारा जा सकता है किन्तु ऐसे अकस्मात् प्रति-भार से उसकी त्रुटि और भी बढ़ जायगी।

प्रथम चिकित्सक का यह काम है कि वह बालक के माता-पिता को बालक की त्रुटि और आवश्यक चिकित्सा के उपायों को समझावे। यह कार्य दुस्तर है, किन्तु अनिवार्य और अत्यन्त आवश्यक है। चिकित्सक को कौशल और धैर्य का आश्रय लेना होगा क्योंकि बालकों का वही एक सहारा है।

त्रुटि का शीघ्र निदान कर लेने से चिकित्सक को बालक के दीर्घकाल तक निरीक्षण करते रहने का अवसर मिल जाता है। इस काल में बालक के पारिवारिक इतिहास, त्रुटि उत्पन्न करने वाले संभावित कारणों, इन कारणों की प्रवर्तक अथवा उत्तेजक दशाओं आदि का चिकित्सक अधिक गम्भीर अन्वेषण और छानबीन कर सकता है।

बालक की दशा का अन्तिम निदान तथा उसके चिकित्सा-क्रम और अन्य आयोजनों का अन्तिम निर्णय विशेषज्ञों की एक समिति द्वारा किया जाता है जिसका चिकित्सक एक सदस्य होता है। यहाँ उसका बहुत महत्त्व है। वही बालक को समिति के विचारार्थ उपस्थित करता है। समिति द्वारा निर्णीत चिकित्साक्रम तथा आयोजनों के प्रयोजनों को बालक के माता-पिता तथा अभिभावकों को समझाना और उन पर उनको सहमत करना उसका ही काम है। बालक को समिति के निर्णय से कितना लाभ होगा, इसको वही भलीभाँति समझता है। वह बालक को जन्म से देखता रहा है। परिवार वालों से उसका पुराना सम्बन्ध है। इस कारण उसमें परिवार के सदस्यों का विश्वास होना स्वाभाविक है। वह बालक के पारिवारिक इतिहास से भलीभाँति अवगत है। इन कारणों से बालक के अभिभावकगण उसके आदेशानुसार कार्य करने को तत्पर होंगे।

अमरीका के चिकित्सक संघ (A. M. A.) ने जो सन् १९६४ में शिकागो में मानस-मन्दता पर विचार करने के लिये गोष्ठी का संयोजन किया था, जिसमें चिकित्सा विज्ञान की भिन्न शाखाओं के १७५ विद्वानों ने तथा अन्य संबंधित व्यवसायों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था, उसमें सामान्य चिकित्सकों को अधिक से अधिक सम्मिलित होकर विचार विमर्श के लिये प्रोत्साहित किया गया था। मानस-मन्दता से युद्ध करने वाली सेना में सामान्य चिकित्सक प्रथम श्रेणी में स्थित है। उससे लोहा लेनेवाला वह प्रथम सिपाही है। युद्ध का मुख्य भार उसी पर है। इस कारण उसको पूर्णतया सुसज्जित और युद्धकला में निपुण बनना अत्यावश्यक है। गोष्ठी १४ उपसमितियों में विभाजित की गई थी। प्रत्येक समिति को मानस-मन्दता के पृथक्-पृथक् पक्ष पर विचार करना था। कई दिनों तक विचार-विमर्श और कथनोपकथन के पश्चात् प्रत्येक कमेटी ने अपनी-अपनी रिपोर्ट संघ की कार्यकारिणी समिति को भेज दी जिसने सब रिपोर्टों का समन्वय करके एक पुस्तिका तैयार कराई जो सामान्य चिकित्सक का पथ प्रदर्शन के लिये उपयुक्त प्रमाणित हुई।

तीसरा परिच्छेद

मानस-मन्दता के कारण

मानस-मन्दता के कारणों में उतनी ही विविधता और विचित्रता पाई जाती है जितनी उसके लक्षणों में। गत दो परिच्छेद पढ़ने से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। जिन रोगियों में शरीररचना की विकृतियाँ होती हैं, कपाल की रचना में कोई अपूर्णता होती है या मेरुदंड (spinal column) में असामान्यता अथवा आनन की विकलांगता होती है, ये सव उनकी मस्तिष्क की क्षति की द्योतक होती हैं। ऐसे व्यक्तियों की दशा का सहज बोध हो जाता है। उनमें प्रायः अतिमन्दता होती है। किन्तु अल्पमन्दता का कारण पहचान लेने की संभावना नहीं के समान होती है।

यद्यपि गत ५० वर्षों में इस त्रुटि के कारणों के ज्ञान में, उसकी खोज विधियों में, चिकित्सा के उपायों में तथा रोगी-परिचर्या विधियों में वहुत उन्नति हुई है तो भी अधिकतर ग्रस्त व्यक्तियों में कारण अज्ञात होता है। ग्रस्त वालक की परीक्षा कर चुकने पर चिकित्सक से वालक के माता-पिता का प्रथम प्रश्न होता है, वालक को क्या है, कौन-सा रोग है? दूसरा प्रश्न होता है, क्यों हुआ, रोग किस कारण हुआ। यदि प्रथम प्रश्न का उत्तर चिकित्सक ने दे भी दिया तो दूसरे प्रश्न के उत्तर में प्रायः 'अज्ञात' ही कहना पड़ता है। अनेक वार अतिमन्दता की दशा का कारण नहीं मालूम पड़ता। इंग्लैंड में सन् १९५९ में फाउन्टेन अस्पताल में १९०० भरती हुए मानस-मन्दों की छान-वीन की गई। उनमें से केवल २० प्रतिशत में त्रुटि के कारणों का पता चल सका, और सब अज्ञात कारण रहे।

यह इस दशा के सम्वन्ध में खोज (research) की आवश्यकता का अकाटच प्रमाण है।

मानस-मन्दता के कारण

पहले कहा जा चुका है कि मानस-मन्दता के कारणों को स्थूल रूप से दो विस्तृत विभागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम विभाग वह है जिसमें मानस-मन्दता के कारण शरीर में उपस्थित विकृतियों से उत्पन्न होते हैं। (१) वे रचनात्मक (anatomical) विकृति के कारण उत्पन्न हो सकते हैं, जैसे कपाल की विरूपता (deformity) से

मस्तिष्क की रचना की अपूर्णता के कारण। (२) शरीर में रासायनिक विकृति (chemical disorder) उपस्थित हो सकती है, जैसे एन्जाइम (enzyme) के विकार से। फ़िनाइलकीटोन्यूरिया (phenylketonuria) नामक रोग इसका विशेष उदाहरण है। एक एंजाइम की अनुपस्थिति के कारण शरीर एक अत्यन्त उपयोगी प्रोटीन का पाचन नहीं कर पाता। यह प्रोटीन, जिसको फ़िनाइलएलेनीन (phenylalanine) कहते हैं, मस्तिष्क की वृद्धि के लिये आवश्यक है। इससे वंचित रह जाने से मस्तिष्क का पूर्ण परिवर्धन नहीं होता। इस दशा का वर्णन संलक्षणों में किया गया है।

(३) रासायनिक परिवर्तन शरीर में प्रविष्ट हुए विषों के कारण हो सकते हैं। कुछ विष शरीर में ही उत्पन्न हो सकते हैं। रोगों के जीवाणु शरीर में ऐसे विष उत्पन्न कर देते हैं जिससे मस्तिष्क को क्षति पहुँचती है। कुछ शोथ (inflammation) उत्पन्न करके मस्तिष्क को हानि पहुँचाते हैं। गर्भावस्था के प्रथम तीन मास में माता को रूबैला अथवा जर्मन मीजिल्स (German measles) हो जाने से शिशु मानस-मन्द होता है। विष किस प्रकार क्रिया करते हैं यह नहीं मालूम हुआ है।

(४) फिर स्वयं प्रजनन तत्त्वों (reproductive elements), जिनको शुक्राणु (spermatazoon) और डिम्ब (ovum) कहते हैं, में ऐसे विकार उपस्थित होते हैं कि उनके संयोग से जो शिशु उत्पन्न होता है वह मानस-मन्द होता है। इस विषय का आगे चलकर सविस्तार वर्णन किया जायगा। मानस-मन्दों की सबसे बड़ी संख्या का हेतु यही है।

(५) माता-पिता के रक्त की विपरीतता भी मानस-मन्दता का कारण हो सकती है। इस दशा में प्रायः गर्भावस्था में अथवा जन्म के पश्चात् दो चार दिन में शिशु की मृत्यु हो जाती है। यदि वह बच गया तो मानस-मन्द होता है।

(६) ऐसी दुर्घटनायें, जिनसे शिशु के मस्तिष्क की क्षति पहुँचती है, जो गर्भावस्था के विशेषतया अन्तिम दो या तीन मास में, प्रसव के समय जिनको प्रसव क्षति कहा जाता है (birth injuries) तथा प्रसव के पश्चात् हो सकती हैं।

(७) कुछ संक्रामक (infectious) रोग मस्तिष्क में विकार उत्पन्न करके मस्तिष्क की रचनात्मक हानि कर सकते हैं। जैसे मस्तिष्कावरण शोथ (meningitis)। कुछ मस्तिष्क की केवल क्रियाशक्ति को बाधित करते हैं।

(८) चयापचय (metabolic) अथवा शारीरिक वृद्धि सम्बन्धी (growth) विकारों के उत्पन्न होने से मन्दता हो सकती है।

(९) फिर नये अर्बुद शरीर में उत्पन्न होकर मानस-मन्दता का कारण हो सकते हैं।

इनमें से कुछ कारण प्रसव के पूर्वकाल में होते हैं, कुछ प्रसव के समय और कुछ प्रसव के पश्चात् होते हैं। तदनुसार उनको प्रसवपूर्वकालिक (prenatal), प्रसवकालिक (जन्म के समय, natal) और प्रसवोत्तर-कालिक (postnatal) कहा जाता है। कुछ कारण दोनों अथवा तीनों कालों में आपत्ति के कारण हो सकते हैं, जैसे दुर्घटना। आगे चल कर इन कारणों की सविस्तार व्याख्या की जायगी।

इन सब कारणों या दशाओं का ५० वर्ष पूर्व कुछ भी ज्ञान नहीं था। गत ५० वर्षों में जो नई-नई खोजें हुई हैं, उनमें भी विशेषतया गत ३० वर्ष की खोजों से, इस सम्बन्ध में ज्ञान की विशेष वृद्धि हुई है। प्रजनन-सम्बन्धी ज्ञान का प्रारम्भ तो केवल १९४६ से ही हुआ है जब शुक्राणुओं और डिम्बों में क्रोमोसोमों की उपस्थिति का बोध हुआ था।

दूसरा वर्ग व्यवहारात्मक मानस-मन्दों का है जिनमें व्यवहारात्मक अपूर्णता के अतिरिक्त अन्य कोई दोष नहीं मिलता। सामाजिक अदक्षता (social incompetence) ही उनकी मानस-मन्दता की द्योतिका है। इनके सम्बन्ध में यह बड़ा जटिल प्रश्न है कि उनकी दशा केवल आनुवंशिकता (heredity) का परिणाम है अथवा संस्कृतिहीन वातावरण का फल है। सामान्यतया मनुष्य की उत्पत्ति, वृद्धि, शारीरिक आकृति, गुण, कर्म, स्वभाव, मानसिकता आदि दोनों प्रकार के कारणों का फल होती है। आनुवंशिकता और सांस्कृतिक वातावरण दोनों उत्तरदायी होते हैं। तो भी इसके अकाट्य प्रमाण मिलते हैं कि बालक के स्वभाव, गुण आदि के अभ्युदय पर वातावरण का बहुत प्रभाव पड़ता है। सब प्रकार की संस्कृति से रहित, हीन परिवार के ऐसे बालक, जिनको किसी उत्तम शिक्षित सज्जन परिवार में रहने का अवसर मिल गया उनमें सद्गुणों का उदय हो गया। ऐसे गोद लिये हुए बालक शिक्षा ग्रहण करने में तत्पर और मेधावी प्रमाणित हुए।

मानस-मन्दों में सामान्यतः कौन ऐसे प्रमुख दोष होते हैं जो उनके निदान में सहायक हों ?

१. करोटि की रचना में विरूपता (deformity of skull formation) तथा रीढ़ (पृष्ठवंश spine) की विरूपतायें।

२. आनन के भाव (expressions of face).

ये दोनों दोष केवल अतिमानसमन्दता ग्रस्त व्यक्तियों को पहचानने के साधन हैं। जन्मजात करोटि (skull) की विकलांगता एक ऐसा दोष है है जो प्रायः मानसत्रुटि का निश्चयात्मक है। उसके साथ भावभंगिमा (facial expression) का निरीक्षण आवश्यक है। उसके भी असामान्य होने पर त्रुटि निश्चय है।

कुछ अवसामान्यों (sub-averages) में कोई रचनात्मक त्रुटि नहीं होती, किन्तु आनन की भावभंगिमा वालक की त्रुटि की प्रदर्शिका होती है।

यद्यपि ये दोनों दोष त्रुटि के द्योतक होते हैं तो भी निदान के लिये और त्रुटि का रूप पहचानने के लिए पूर्ण परीक्षा आवश्यक है।

अल्पमन्दता (mild retardation) पहचानना कठिन होता है। उनमें निम्नलिखित दोषों के उपस्थित होने पर अथवा उनमें से किसी एक के प्रकट होने पर वालक पर ध्यान देना चाहिये।

१. वालक किसी एक क्रिया पर अधिक समय तक ध्यान नहीं दे सकता। किसी एक खेल पर उसका आकर्षण अल्पस्थायी होता है।

२. किसी क्रिया को सम्पन्न करते समय दूर पर भी किसी व्यक्ति या वस्तु की उपस्थिति उसको विक्षिप्त कर सकती है।

३. किसी आदेश की सार्थकता समझना और तदनुसार प्रतिक्रिया करना उसके लिये अति दुस्तर होता है।

४. उनकी प्रतिक्रिया कभी अत्यधिक और अस्त-व्यस्त होती है अथवा अतिन्यून।

५. शब्दज्ञान न्यून होने से वे अपने मन्तव्य को समझाने में असमर्थ होते हैं।

६. परिस्थिति के अनुकूल आचरण करने में वे असमर्थ होते हैं। इस कारण साथियों के साथ वे नहीं खेल पाते और न उनसे मेल कर पाते हैं।

माता-पिता की आयु से मानस-मन्दता का सम्बन्ध

कुछ अन्वेषकों ने यह पाया है कि माता-पिता की जितनी अधिक आयु होती है, सन्तान में मानस-मन्दता की उतनी ही अधिक सम्भावना रहती है। जिस मंगोलता (mongolism) को डाउन संलक्षण (Down's Syndrome) कहा जाता है उसमें विशेषतः माता की वय अधिक पाई गई है। ऐसे बालक अधिक वय की माताओं ही के होते हैं। सन् १९६६ में Penrose और Smith महोदयों ने एक लेख में लिखा कि यदि ३७ वर्ष

से अधिक वय की मातायें गर्भ धारण करना बन्द कर दें तो मंगोलताग्रस्त बालक कम से कम ३३ प्रतिशत कम उत्पन्न हों। उनका कथन था कि क्लानफैल्टर संलक्षण तथा अन्य ऐसे मानस-मन्द जिनकी त्रुटि का कारण स्त्री-क्रोमोसोमों की अधिकता होती है, उनकी उत्पत्ति विशेषतया घट जाय।

खोजों द्वारा प्राप्त ऐसे तथ्य इसका प्रमाण हैं कि अधिक वय हो जाने पर प्रकृति द्वारा प्रजनन विधि में भूल हो जाने की अधिक संभावना रहती है। प्रजनन का उपयुक्त काल माता की प्रारम्भिक तरुणावस्था (२० से २५) है। विद्वानों की सम्मति है कि मानसिक (psychological) और सामाजिक कारणों से भी व्यक्ति में प्रारम्भिक तरुणावस्था में अनुकूलन (adaptation, accomodation) शक्ति अधिक होती है। वय के प्रणत हो जाने पर शक्ति का ह्रास हो जाता है।

मानस-मन्दता के प्रमाण

डॉक्टर डॉल ने मानस-मन्दता के ६ प्रमाण माने हैं। उनका कथन है कि यदि किसी व्यक्ति की मानसिक दशा में तथा उसकी उत्पत्ति में ये छहों गुण या अवगुण पाये जायँ तो उसको मानसिक मन्द माना जा सकता है।

१. **सामाजिक अदक्षता** (social incompetence)—इसका अर्थ है 'व्यक्ति की किसी अन्य व्यक्ति की सहायता और दिग्दर्शन के विना समाज के उपयोगी अंश के रूप में अपने अस्तित्व के निर्वाह की जन्मतः असमर्थता'। अर्थात् व्यक्ति अपने जीविकोपार्जन तथा अपने हित के लिए उपयोगी साधनों को समझने तथा उनका व्यवहार करने में जन्म ही से अयोग्य है।

२. **बौद्धिक अविकास या बौद्धिक अवसामान्यता** (mental or intellectual subnormality) ही उपर्युक्त असमर्थता का कारण है जो पैतृक तथा जन्मजात है, किसी आधि (mental disease) या व्याधि (organic disease) के कारण नहीं उत्पन्न हुई है।

३. **बौद्धिक विकास का संरोध** (arrest)—बौद्धिक या मानसिक वृद्धि का बन्द हो जाना ही इस दशा का कारण है। जराजन्य क्षीणता (senility) अथवा आर्थिक या दैहिक कारणों से वह नहीं उत्पन्न हुई है, किसी प्रकार का ह्रास उसका कारण नहीं है।

४. दोष स्वयं शारीरिक है, चाहे वह आनुवंशिक हो, अथवा किसी आकस्मिक दुर्घटना, रोग या मनोनीत अभाव का फल हो।

५. प्रौढ़ वय प्राप्त करने पर भी दोष वैसा ही है। कुछ दोष बालक के बड़े होने पर स्वयं सुधर जाते हैं। वय प्राप्त करने पर भी न सुधरने का अर्थ है कि दशा में भविष्य में सुधार सम्भव नहीं है।

६. त्रुटि अचिकित्स्य है, औषधियों द्वारा अथवा सामाजिक या आर्थिक दशाओं के उन्नत होने से भी उसमें सुधार सम्भव नहीं है।

डॉ॰ डॉल ने मानस त्रुटि के अचिकित्स्य तथा अपरिवर्तनीय होने को बहुत महत्त्व दिया है। उनके मतानुसार इस दोष में कोई सुधार सम्भव नहीं है; यदि उसमें सुधार हो जाता है तो वह मानस मन्दता नहीं है। आधुनिक मत इस मत से सम्पूर्णतया सहमत नहीं है।

मानस-मन्दता के कारण प्रायः जन्मजात होते हैं। उनका सम्बन्ध **परिवर्धन** (development) से होता है। शुक्राणु और डिम्ब (spermatazoon and ovum) के संयोग से एककोशिकीय युग्मज (unicelular zygote) बनकर नौ मास में वृद्धि करके असंख्य कोशिकाओं द्वारा निर्मित भ्रूण बन जाने के प्रक्रम को परिवर्धन कहा जाता है। इसी समय में मस्तिष्क, सुषुम्ना, तन्त्रिकायें तथा सब अंगों की रचना और वृद्धि होती है और नव मास में पूर्ण शिशु बाह्य परिस्थितियों को सहन करने की शक्ति से सम्पन्न होकर जन्म लेता है। इसी काल में मस्तिष्क की वृद्धि के बाधित हो जाने से मानस अवृद्धि हो सकती है।

इसके अतिरिक्त अन्य जो कारण पाये जाते हैं उनका यहाँ संक्षेप में उल्लेख किया जाता है। इन कारणों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है, (१) प्रसव से पूर्व काल में होने वाले कारण (pre-natal causes), (२) प्रसव कालान्तर्गत कारण (natal) और प्रसवोत्तर (postnatal) काल में होने वाले कारण।

एक विशेष कारण, जिसका जननसम्बन्धी या जननिक कारण (genetic factor) कह सकते है, माता-पिता के शरीर में गर्भोत्पत्ति के भी पूर्व उपस्थित रहता है। उसका गर्भ से सम्बन्ध है। उसका संक्षिप्त उल्लेख यहाँ आवश्यक है।

जननिक तत्त्व या कारक (genetic factor)

पुरुष और स्त्री, यह लिंग का भेद, जाति (species) को सुरक्षित रखने का प्रकृति का उपाय है। प्रकृति का सदा यह उद्योग रहता है कि जिस जाति की उसने सृष्टि की है वह नष्ट न हो, अक्षुण्ण बनी रहे। इसी हेतु उसने पुरुष और स्त्री दो लिंगों की रचना की है। पुरुष के शरीर में शुक्राणु (spermatazoa) उत्पन्न किये हैं, स्त्री के शरीर में डिम्ब ग्रन्थि (ovary) की रचना की है जिसमें डिम्ब (ovum) उत्पन्न होते हैं। एककोशिका निर्मित शुक्राणु डिम्ब के शरीर में प्रविष्ट होकर उसका

निषेचन (fertilization) करता है जिससे उसमें बार-बार दो में विभक्त होकर दो नवीन कोशिकाओं को तैयार कर देने की शक्ति आ जाती है जिनमें से प्रत्येक फिर से विभक्त होकर दो नवीन कोशिकायें तैयार करती हैं। इस प्रकार विभक्त होने की कोशिकाओं की शक्ति असीम और अनन्त मालूम होती है, जब तक नौ मास में पूर्ण शिशु तैयार नहीं हो जाता और फिर जन्म के पश्चात् भी इस शक्ति का अन्त नहीं होता। इस विभाग करने की शक्ति से ही नवीन कोशिकाओं के बनने से शरीर की, उसके भीतर के अंगों की वृद्धि होती है, आकार बढ़ता है, अंगों की अथवा सारे शरीर की लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई आदि बढ़ती है। जीवनपर्यन्त, वृद्धावस्था के अन्त तक यह शक्ति बनी रहती है। किन्तु वृद्धावस्था में कोशिका क्षय, कोशिकाओं के विनाश की प्रक्रिया अधिक होती है, निर्माण कम होता है। इसका परिणाम शरीर क्षय होता है।

अतएव डिम्ब, जो एक निश्चेष्ट कोशिका थी उसको सक्रिय होने और विभाजन करके नवीन कोशिकायें बनाने की शक्ति देने वाला पुरुष का शुक्राणु होता है जो डिम्ब में प्रविष्ट होकर स्वयं तो विलीन हो जाता है, किन्तु डिम्ब को अपार शक्ति सम्पन्न कर देता है। इसी शक्ति का फल परिवर्धन (development) होती है। परिवर्धन में त्रुटि से मन्दता उत्पन्न होती है। इस प्रकार मन्दता परिवर्धन के बीज—शुक्राणु और डिम्ब—के दोष का परिणाम होना सम्भव है। जब बीज ही सदोष है तो फल कैसे उत्तम होगा। यही आनुवंशिकता (heredity) कहलाती है।

आनुवंशिकता—ऐसे मानस-मन्द पाये जाते हैं जिनका पारिवारिक इतिहास अध्ययन करने से पता चलता है कि उनके माता-पिता में भी यह दोष उपस्थित था। एक बालिका, जिसका नाम हम सुहासिनी मान लेते हैं, मानस-मन्दों के आश्रम में भरती की गई। पारिवारिक इतिहास लेने पर पता चला कि कन्या के माता-पिता दोनों मानस-मन्द थे। पिता को तीसरी कक्षा के पश्चात् ही स्कूल छोड़ना पड़ा था क्योंकि वह अपने सहपाठियों के साथ नहीं चल पाई। अन्य साधन और प्रयत्न भी उसको शिक्षित करने में सफल नहीं हुए। उसको कोई कला भी नहीं सिखाई जा सकी। बढ़ई, राजगीर, ईंटें बनाना तथा ऐसे ही अन्य छोटे-छोटे कर्मों को सिखाने के उद्योग किये गये जिससे वह सुख से जीवन निर्वाह कर सके। किन्तु किसी में वह सफल नहीं हुई और जीवन पर्यन्त किसी प्रकार अपना कालयापन करती रही। माता की जीवनी भी ऐसी ही थी। कई वर्ष तक वह मानस-मन्दों के आश्रम में रही। अन्वेषण करने से पता चला कि सुहासिनी के ९ भाई बहिनों में से

सात मानसमन्द थे। उन सवों का सुहासिनी ही का-सा जीवन-क्रम था। सुहासिनी के दो चाचाओं की भी जीवन-कहानी उसके पिता के समान थी। परिवार के और भी पूर्वजों का इतिहास खोजने पर मालूम हुआ कि पितामह और मातामही का भी ऐसा ही हाल था। दोनों ही मानसत्रुटि-युक्त थे। उनका वहुत-सा जीवन मानसमन्दों के आश्रम तथा शिक्षालयों में वीता था।

ऐसे अनेक मानसमन्द वालक तथा अधिक आयु वाले व्यक्ति मिलते हैं जिनमें ऐसा ही पारिवारिक इतिहास पाया जाता है। इनमें मन्दता का दोष पूर्वजों से सन्तान में अवतरित होता है। ऐसे व्यक्ति इस वात का प्रमाण हैं कि यह दोष इन व्यक्तियों में पैतृक था। प्राचीन काल से प्रत्येक देश और जाति में ऐसे कुलज और पारिवारिक दोषों से युक्त व्यक्तियों के इतिहास मिलते रहे हैं। वहुधा परिवारों के सदस्यों में कोई ऐसा गुण या दोष पाया जाता है जो उनके कुल में पूर्वजों से चला आया है; वह गुण या दोष या चिह्न शारीरिक हो या मानसिक हो; वह स्वभाव ही का एक अंग हो सकता है किन्तु उसके आनुवंशिक होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

पूर्वजों से सन्तति में गुणों का किस प्रकार प्रादुर्भाव होता है

इस प्रश्न पर भ्रूणविज्ञान (embryology) ने वहुत कुछ प्रकाश डाला है। यह विज्ञान शुक्राणु और डिम्ब के संयोग से युग्मनज (zygote) बनकर, जो केवल एक कोशिकाकृत होता है, किस प्रकार परिवर्धन करके नौ मास में मनुष्य तथा कुछ विशिष्ट समय में अन्य जीवों में, पूर्ण शिशु बन जाता है, इसका विचार करता है। इसी प्रक्रम में पूर्वजों के गुण, दोष, वैचित्र्य, विकृतियाँ, प्रकृति आदि का सन्तति में अवतरण या संचारण होता है। यह महत्त्वपूर्ण विज्ञान की शाखा केवल ५० वर्ष की है। इससे पूर्व परिवर्धन सम्वन्धी अत्यल्प ज्ञान था और अव इसकी भी एक नई शाखा उत्पन्न हो गई है जिसके द्वारा जीवन के अनेक रहस्यों के उद्‌घाटन होने की संभावना है। वहुत से रहस्य खुल चुके हैं तो भी वहुत से शेष है। इस शाखा को **कोशिकाजननिकी** (cytogenetics) का नाम दिया गया है। कोशिका (cell) के वे अंग जिनका प्रजनन (reproduction) से संबंध है, उनका अध्ययन विज्ञान की इस नवीन शाखा का विषय है। इस शाखा का जन्म सन् १९५६ में हुआ था जव मनुष्य में ४६ क्रोमोसोमों होने का वोध हुआ था। प्रत्येक जीव में, जिसमें मैथुन द्वारा सृष्टि होती है, क्रोमोसोमों (chromsomes) की एक विशिष्ट संख्या होती है। भिन्न-भिन्न

जीवों में यह संख्या भिन्न पाई जाती है। प्रत्येक क्रोमोसोम में अत्यन्त सूक्ष्म कण होते हैं और ये कण ही आनुवंशिकता (heredity) का निश्चय करते हैं। ये कण ही इस बात के विधायक होते हैं कि व्यक्ति की आकृति कैसी होगी; नाक, नेत्र, आनन, मुख, हाथ, पाँव अर्थात् देह के सब अंगों की कैसी आकृति होगी, वर्ण कैसा होगा, कौन गुण, प्रकृति, स्वभाव उसमें प्रकट होंगे, कौन नहीं होंगे, संक्षेप से इन कणों ही में व्यक्ति का मानचित्र लिखा रहता है। जैसे मकान बनाने के पूर्व उसका एक मानचित्र या नक्शा, जिसको अंग्रेजी में blneprint कहते हैं बनाया जाता है उसी प्रकार व्यक्ति के भावी जीवनक्रम का मानचित्र इन कणों में चित्रित होता है। उसी के अनुसार व्यक्ति का शारीरिक और मानसिक निर्माण होता है।

इस कणों को 'जीन' (gene) कहा जाता है। समस्त प्रजनन क्रम के नियामक, निर्णायक, विधायक सब कुछ ये ही हैं। एक क्रोमोसोम में जीनों की १७५००० संख्या आँकी गई हैं। शरीर में जितनी क्रियायें होती हैं वे सब इन जीनों ही के नियंत्रण के आधीन हैं। जिन के पैकट में मानो वे सब निर्देश भरे रहते हैं जिसके अनुसार उस कोशिका को भविष्य में आचरण करना है जिसमें वह जीन उपस्थित है। सामान्यतया जीन उन निर्देश ही के अनुसार कोशिका से काम करवाते हैं। किन्तु कुछ दशाओं में जीन भूल भी कर बैठते हैं। यदि क्रोमोसोम में जीन की स्थिति बदल गई, यदि उसका किसी प्रतिकूल प्रकार की जीन से सहयोग हो गया तो जीन पागल सी हो जाती है। विकिरण (radiation), जैसा रेडियोसक्रिय (radio active) पदार्थों के प्रभाव से होता है, जैसा हीरोशीमा में एटमबाम्ब के विस्फोट से हुआ था, जिसे साधारणतया रेडियेशन (radiation) कहते हैं, उससे जीन की सुधबुध जाती रहती है और वह निर्देशों के विपरीत आचरण करके विकृतियाँ उत्पन्न करा देता है! अंगों के आकार बदल जाते हैं, देह में असंगत कृतियाँ बन जाती हैं, मस्तिष्क की रचना उल्टी सीधी हो सकती है, कुछ भी हो सकता है। इस प्रकार जीन के भूल से दैहिक विरूपांगतायें तथा मानसमन्दता उत्पन्न हो जाती हैं।

प्रत्येक मानव शरीर की कोशिका में ४६ क्रोमोसोम होते हैं जिसमें ४४ देहसोम अर्थात् देह की रचना सम्बन्धी और २ लिंग (sex) सम्बन्धी होते हैं जो लिंग निर्माण में भाग लेते हैं। ये × × और × × क्रोमोसोम कहे जाते हैं। पुरुष में × × क्रोमोसोम और स्त्री में × × क्रोमोसोम होते हैं। ये क्रोमोसोम जोड़ों में रहते हैं, अर्थात् दो क्रोमोसोम एक धागे के समान एक दूसरे से चिपटे हुए से रहते हैं, इस प्रकार २३ युग्म बन जाते हैं।

गर्भ द्वारा जब नव शिशु शरीर का निर्माण होता है तो उसमें २३ क्रोमोसोम माता से और २३ पिता से आते हैं। यद्यपि सभी क्रोमोसोमों का आकार समान होता है, वे एक ही से दीखते हैं, किन्तु लिंग क्रोमोसोमों में कुछ विशेषताएँ होती हैं जो ध्यान पूर्वक उनकी परीक्षा करने से दिखाई देती है। उनकी लंबाई कुछ अधिक होती है, उनके शरीर में एक स्थान पर संकोच दीखता है, जो **सेन्ट्रोमीयर** (centromere) कहा जाता है, और एक सूक्ष्म अनुबन्ध होता है जो **अनुषंग** (satellite) कहलाता है।

स्वयं क्रोमोसोमों में असामान्यताएँ (altnormalities) तथा विकृतियाँ पाई गई हैं। कितने ही अन्वेषकों ने इनको देखा है और उनके चित्र तथा वर्णन प्रकाशित किये हैं। ट्राइसोमी (trisomy) दशा में क्रोमोसोम युग्म में एक क्रोमोसोम अधिक होता है, अर्थात् उस युग्म में दो के स्थान में तीन क्रोमोसोम होते हैं। एक क्रोमोसोम का विभक्त होकर दो हो जाना अर्थात् द्विगुणन (doubling) देखा गया है। इसी प्रकार दो के स्थान में केवल एक क्रोमोसोम अर्थात् एक न्यून पाया गया है। यह **न्यूनीभवन** (deletion) कहलाता है। **अन्तर्वर्तन** (inversion) में क्रोमोसोम के दो स्थानों पर टूट जाने से उसके तीन भाग हो जाते हैं और फिर बीच का भाग उलटा (reverse) होकर जुड़ जाता है। **पारस्थिति** (translocation) उस दशा का नाम है जब एक क्रोमोसोम का एक भाग दूसरे असमजात (non-homologous) क्रोमोसोम से जुड़ता है। इसी प्रकार के कई अन्य परिवर्तन पाये गये हैं; उनकी संख्या में तथा उनकी आणवीय रचना (molecular structure) में, दोनों प्रकार के परिवर्तनों का अन्वेषक विद्वानों ने उल्लेख किया है।

मंगोलता (mongolism) या डाउन संलक्षण (Down's syndrome) एक दशा है जो मानसमन्दता की सहगामी है। जो भी इस दशा से आक्रान्त होते हैं वे सब मानस-मन्द होते हैं। इसका विपरीत सत्य नहीं है (अर्थात् सब मानस-मन्द मंगोल नहीं होते)। इसका पूर्ण वर्णन आगे चल कर किया जायगा। इससे आक्रान्त व्यक्तियों में ४६ के स्थान में ४७ क्रोमोसोम पाये जाते हैं। यह मंगोलता की दशा अतिसाधारण नहीं है। ६६० जन्मे हुए शिशुओं में एक इस दशा से आक्रान्त होता है। इस दशा का बहुत अन्वेषण किया गया है। प्रत्येक मंगोलाभ (mongoloid) शिशु में एक क्रोमोसोम अधिक मिलता है। प्रश्न यह है कि यह एक अतिरिक्त क्रोमोसोम कहाँ से आया। यह हमें कोशिका विभाजन में देखना होगा।

कोशिका विभाजन (cell division) एक गुण प्रक्रिया है। इस से एक कोशिका विभक्त होकर दो कोशिकायें वना देती हैं। दो से चार वनती है, चार से आठ, आठ से सोलह, सोलह से वत्तीस, इसी प्रकार उनकी संख्या उत्तरोत्तर वढ़ती चली जाती है। इसी का फल अंग की तथा शरीर की वृद्धि होती है। सारा परिवर्धन (development) इसी प्रक्रम का परिणाम है।

कोशिका स्वयं एक गूढ़ रचना है जिसका अध्ययन एक विज्ञान की शाखा वन गया है और कोणिका विज्ञान (cytology) कहा जाता है। कोशिका में अनेक अंग पाये गये हैं जिनकी व्याख्या पर अनेक वड़ी-वड़ी पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं किन्तु, यहाँ विशेष प्रयोजन केवल क्रोमोसोम से होने के कारण, स्थूल रूप से यह वताना पर्याप्त है कि कोशिका को आवृत्त करती हुई एक सूक्ष्म कला होती है; कोशिका के प्रायः मध्य में एक केन्द्रक (nucleus) होता है, और केन्द्रक और कला के वीच में गाढ़ा लसदार पदार्थ भरा रहता है जो **कोशिकाद्रव्य** (cytoplasm) कहा जाता है। इसके अनेक अंग होते हैं जो अंगक (organelles) कहे गये हैं। मध्य में जो केन्द्रक होता हैं उसमें क्रोमोसोम एक लहरियेदार धागे के गुच्छे के रूप में भरे रहते हैं। प्रत्येक क्रोमोसोम का दो में पृथक् होकर, उनका पुनः नियमन होने पर दो समूहों में, एक का कोशिका के एक ध्रुव (pole) पर और दूसरे समूह का कोशिका के दूसरे विपरीत ध्रुव पर स्थित हो जाना ही कोशिका विभाजन की विशेष घटना होती है। यही कोशिका विभाजन का आधार है। इसके पश्चात् तो कोशिका का कोशिका-द्रव्य सहित मध्य में संकुचित हो। दो समान भागों में विभक्त हो जाना रह जाता है। इस पूर्ण प्रक्रम में कई सूक्ष्म प्रक्रियायें होती हैं, कई वार क्रोमोसोमों के विभक्त होने और विभक्त भागों के पुनः विन्यास (re-arrangement) में परिवर्त्तन होते हैं जिनका कुछ अनुमान चित्र से किया जा सकता है। अन्त में दो पूर्ण कोशिकायें वनती हैं जिनमें क्रोमोसोमों की संख्या पूर्ववत् २३ युग्म अर्थात् ४६ हो जाती है। शुक्राणु और डिम्व के संयोग से जो युग्मनज या जायगोट बनता है 'उसमें माता और पिता दोनों के क्रोमोसोमीय पदार्थ मिल जाते हैं। फिर जव युग्मनज का विभाजन होकर दो कोशिकायें वनती हैं तो उनमें से प्रत्येक में ४६ क्रोमोसोम पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक वार विभाजन में एक क्रोमोसोम दो भागों में विभक्त हो जाता है जो क्रोमेटिड (chromatid) कहे जाते हैं और इनके फिर से सामूहित होने और वर्धन से प्रत्येक कोशिका में क्रोमोसोमों की संख्या पूर्ण हो जाती है।

इस विभाजन की गूढ़ प्रक्रियाओं में कहीं पर गड़बड़ी हो जाने से क्रोमोसासों का विभक्त होना और विभक्त होने के पश्चात् उसके भागों का फिर जुड़ना तथा सामूहित होना—इन प्रक्रियाओं में किसी पर त्रुटि हो जाने से क्रोमोसोमों की संख्या, उनके विन्यास, रूप आदि में दोष आ सकता है। विभाजन के पश्चात् २३ क्रोमोसोमों के कोशिका के प्रत्येक ध्रुव पर सामूहित होने के स्थान पर यदि एक ध्रुव पर २४ और दूसरे ध्रुव पर २२ क्रोमोसोम सामूहित हो गये तो निषेचन के पश्चात् बने युग्मनज में ४७ क्रोमोसोम हो जायेंगे। यदि एक क्रोमसोम विभाजित न हुआ तो भी यही परिणाम होगा।

जीन—क्रोमोसोम वास्तव में DNA (Desoxyribonucleic acid) का महाविशाल अणु है जिसका महत्व भी उतना ही अधिक है जितना उसका आकार। उसमें अनेक लघु अणु हैं। जीन उसी महा अणु के भाग हैं। प्रत्येक जीन लगभग १००० न्यूक्लियोटाइड (nucleotide) नामक रासायनिक योगों का बना है और प्रत्येक क्रोमोसोम में १७५००० जीन का अनुमान किया गया है। तो एक कोशिका में कुल कितने जीन हैं और कितने न्यूक्लियोटाइड हैं, यह अंकगणित के विद्यार्थी के लिये उत्तम अभ्यास है।

जीन दो प्रकार के होते हैं: एक प्रभावी (dominant) और दूसरा अप्रभावी (recessive): **प्रभावी जीन** व्यक्ति में अपने प्रभाव से उत्पन्न लक्षणों का प्रदर्शन करने में समर्थ होता है, चाहे दूसरा समप्रभावी जीन (माता से या पिता से प्राप्त) का उससे सहयोग न भी हो। **अप्रभावी** जीन का, इसके विरुद्ध, प्रभाव प्रकट नहीं होता चाहे दूसरे समान जीन से उसका सहयोग हो भी जाय। इसी के अनुसार सन्तान में दोष या गुण अथवा त्रुटि के लक्षण प्रकट होते हैं या नहीं होते।

जीन का कुछ उल्लेख पहले किया जा चुका है जिसमें उसके कार्यों का दिग्दर्शन मात्र है। इस विषय का यहाँ प्रयोजन न होने से यह बताना ही पर्याप्त है कि जीवन की प्रत्येक क्रिया का संचालन जीन से सम्बन्धित है। वैज्ञानिक लोग जीन के चुनाव के द्वारा अब सन्तान में इच्छानुसार लिंग की उत्पत्ति की विधि की खोज करने में लगे हैं। उसके द्वारा वे मनोनीत सन्तानोत्पत्ति और उसको वांछित गुणों से सम्पन्न करने की सम्भावना देख रहे हैं। क्रोमोसोम और जीन का रासायनिक संघटन भी मालूम कर लिया गया है। क्रोमोसोम[1] एक विशाल अणु है जो DNA (desoxy-

१. जिनकी इस विषय में रुचि हो वे **The Couble Helix by Dr. J. D. Watsen.** पढ़ें।

ribonucleic acid) का बना है। उसकी रचना की समता एक बहुत ही ऊँची सीढ़ी (slaircase) से दी गई है जिसमें १४५००० सीढ़ियाँ हैं। प्रत्येक सीढ़ी एक जीन है जो १००० भागों की बनी है। प्रत्येक भाग एक न्यूक्लोटाइड है।

गत पृष्ठों में जननिक तत्त्व—कोशिका की रचना, उसमें क्रोमोसोमों की उपस्थिति क्रोमोसोम की रचना, कोशिका विभाजन, क्रोमोसोमों अथवा जीनों का नवजात कोशिकाओं में स्थानान्तरण, जीनों का महत्त्व और उनके द्वारा गुण, स्वभाव आकृति का संवाहन आदि का जो विस्तार से वर्णन किया गया है उस सबका अभिप्राय में सन्तान मानस-मन्दता की माता-पिता से संवारण की सम्भावना की व्याख्या करना है जिससे आनुवंशिकता का महत्त्व समझा जा सके।

पूर्वकाल के लेखकों और अन्वेषकों ने आनुवंशिकता को अत्यधिक महत्व दिया है। उस समय तक अनुसन्धानों और अन्वेषणों के प्रारम्भिक अवस्था में होने के कारण उन्होंने आनुवंशिकता को त्रुटि का एकमात्र कारण मान लिया। सन् १९२८ में इंग्लैंड में गेट्स (Gates) द्वारा लिखा गया एक लेख प्रकाशित हुआ जिसमें उसने गोडार्ड (Goddard), जिसने स्काटलैण्ड के फाउन्टेन अस्पताल में भर्ती मानस-मन्द बालकों में अन्वेषण किया था, तथा कुछ अन्वेषकों का हवाला देते हुए लिखा था कि मानस-मन्दों की सन्तति भी मानस-मन्द ही होगी। उसने मानस-मन्द दम्पतियों (दोनों मानसमन्द थे) के ४७६ बालकों का उल्लेख किया है जिनमें केवल ६ बालक सामान्य पाये गये थे। उसका मत था कि मानस-मन्दता साधारण मैंडिलिक अप्रभावी गुण हो सकता है।

आनुवंशिकता संचरण मेन्डेल (Mendel) का कार्य

बालक के शारीरिक संगठन, रूप, स्वभाव, गुण आदि पर उसके पूर्वजों का कितना प्रभाव पड़ता है, इस पर सदा से विद्वानों का ध्यान रहा है। प्राचीन काल से यह मान्य रहा कि माता-पिता के गुणों का बालक में प्रादुर्भाव होता है और इसके अनेक प्रमाण भी मिलते हैं कि सद्गुणों से युक्त माता-पिता की सन्तान भी गुणी होती है। बहुधा बालक की आकृति, शारीरिक रचना अंगों की सुचारुता (अथवा दोष), नेत्र, कर्ण, आनन, हाथ और अंगुलियों की बनावट आदि बहुत कुछ पिता के समान होती है। इसी कारण कन्या के लिये वर खोजने में, हमारे देश में युवक के

कुल की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। यही आनुवंशिकता (heredity) कहलाती है।

किन्तु माता-पिता के गुण किस विधि से सन्तान में उद्भूत होते हैं, किस प्रकार वे सन्तान के शरीर में पहुँचते हैं, इस ज्ञान के वैज्ञानिक खोज के प्रारंभ का श्रेय ग्रेगर जौह्न मैंडिल को है जो सन् १८२२ में आस्ट्रिया देश के मोराविया प्रदेश में उत्पन्न हुआ था। शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् वह पादरी वना और ब्रुन (Brunn) नामक वस्ती के मठ (monastery) में वह नियुक्त हुआ। वहाँ के गिरजा के पीछे जो वगीचा था उसमें उसने sweet peas नामक फूलों के पौधों पर अपना प्रयोग आरम्भ किया। ये पुष्प घरों में वहुत लगाये जाते हैं। वड़े सुन्दर पुष्प होते हैं और वहुतायत से होते हैं। इनमें विशेष सुविधा यह होती है कि पुष्प स्वनिषेचक (self-fertilizing) होते हैं। उनके भीतर जो पराग होता है जिसमें पुमंग (androecium) और जायांग (gynaecium—पुरुष और स्त्री दोनों अंग) होते हैं। वे वहीं अपनी पारस्परिक क्रिया कर लेते हैं। वाहर से कीट पतंग प्रविष्ट होकर उनमें अन्य पुष्पों के पराग का सम्मिश्रण नहीं करवाते और नवजात पौधे और पुष्प शुद्ध (pure) वने रहते हैं। मैन्डेल ने उन्हीं में पारप्रजनन कराना प्रारम्भ किया। उसने ऐसे पौधे चुने जिनमें किसी प्रकार की भिन्नता थी। एक दीर्घ (६ फुट ऊँचा) था तो दूसरा ह्रस्व था; एक प्रकार के पुष्प श्वेत होते तो दूसरे के लाल होते थे। एक में चिकने वीज वनते थे तो दूसरा झुर्रीदार (wrinkled) वीज उत्पन्न करता था। ऐसे विपरीत गुण वाले पौधों को लेकर, एक के पुष्पपराग को दूसरे प्रकार के पुष्प में प्रविष्ट करके पारप्रजनन (cross-breeding) कराना प्रारम्भ किया। दीर्घ और ह्रस्व पौधों के पारप्रजनन से जो पादप या पौधे उत्पन्न हुए, वे सब दीर्घ थे, कोई भी ह्रस्व नहीं था। उसने लाल और श्वेत पुष्पों वाले तथा चिकने और झुर्रीदार बीजों वाले पौधों का भी पारप्रजनन कराया। उससे भी ऐसे ही परिणाम निकले। पारप्रजनन से पौधों की जो प्रथम सन्तति उत्पन्न हुई उन सव पौधों में एक ही प्रकार का गुण था। वे सव दीर्घ अथवा लाल पुष्प उत्पन्न करने वाले अथवा चिकने वीज वाले पौधे थे। मैन्डल ने वड़ी सावधानी से इन सवका हिसाव रखा।

इस प्रथम सन्तति के पौधों में मैन्डेल ने फिर पारप्रजनन कराया। इस दूसरी सन्तति में जो पौधे उत्पन्न हुए उनमें विचित्र वात पाई गई। जहाँ उनमें ७५ प्रतिशत दीर्घ या लाल पुष्प उत्पन्न करने वाले या चिकने बीजों वाले थे वहाँ २५ प्रतिशत ह्रस्व या श्वेत पुष्पों अथवा झुर्रीदार बीजों वाले

थे। मैन्डेल ने इस परिणाम को पुष्ट करने के लिये कई बार अपने प्रयोगों को दोहराया। किन्तु उसको सदा ऐसे ही परिणाम मिले।

उसने फिर इस दूसरी सन्तति का पारप्रजनन कराना आरम्भ किया और उसके लिये केवल दीर्घ पौधों को चुना, दो दीर्घ पौधों ही के बीच पारप्रजनन कराया गया। इससे तीसरी सन्तति में एक सम्पूर्णतया दीर्घ (शुद्ध) पौधा उत्पन्न हुआ; एक अपने पितामह ह्रस्व के समान (शुद्ध) ह्रस्व हुआ और दो में दीर्घता और ह्रस्वता मिश्रित थी, अर्थात् दीर्घ और ह्रस्व दोनों के बीच के थे।

मैन्डेल को इससे बड़ा आश्चर्य हुआ। क्या कारण था कि प्रथम सन्तति में ह्रस्वता तनिक भी प्रकट नहीं होने पाई, सब पौधे दीर्घ ही हुए। फिर वह ४ में से १ में दूसरी सन्तति में क्यों प्रकट हो गई। और आगे चलकर तीसरी सन्तति में ह्रस्वता एक पौधे में पूर्णतः और दो में अपूर्णतः प्रकट हुई और एक पूर्णतः दीर्घ हुआ। इस विभिन्नता का क्या कारण था।

विचार करने पर वह इस परिणाम पर पहुँचा कि प्रत्येक पौधों में, एक नहीं, दो घटक या कारक (factors) थे जो संयुक्त होकर अपना प्रभाव प्रकट करते थे। उनमें से एक **प्रभावी** (dominant) था जो दूसरे **अप्रभावी** (recessive) कारक को ढँक देता था, उसको आवृत्त करता था, प्रच्छन्न कर देता था और उसका प्रभाव प्रकट नहीं हो पाता था।

प्रत्येक उत्पादक कोशिका (germ cell)—शुक्राणु और डिम्ब के निर्माण के समय कारकों का युग्म (pair of factors) दो में विभक्त हो गया था। एक भाग शुक्राणु में गया था और दूसरा डिम्ब में। जब शुक्राणु और डिम्ब के संयोग से नवीन पौधे या जन्तु का निर्माण प्रारम्भ हुआ था तो फिर दोनों कारक मिल गये थे। इसी प्रकार इस सन्तति से फिर नई सन्तति उत्पन्न होगी तो पुनः एक-एक कारक पूर्ववत् माता की ओर से सन्तान में पहुँच कर कारक युग्म (pair) बन जायगा।

यही मैन्डेल का कार्य आनुवंशिकता के विज्ञान की नींव थी। ये कारक ही जीन हैं जो माता-पिता के गुणों को सन्तान में अवतरित करते हैं।

लगभग एक शताब्दी हुई जब मैन्डेल ने ये अन्वेषण किये थे और आनुवंशिकता के नियमों का प्रतिपादन किया। किन्तु इन विषयों में और प्रगति केवल कुछ गत वर्षों ही में हुई है जिसका विशेष कारण सूक्ष्मदर्शक है जिसको माइक्रोस्कोप कहते हैं। रसायन विज्ञान की सहायता और इस यंत्र द्वारा क्रोमोसोमों के निरीक्षण के पश्चात् जीन का पता चला और उसके गहन अध्ययन और प्रयोगों द्वारा यह ज्ञान प्राप्त हुआ कि जीन ही पितृ

गुणों का वाहक है तथा वह किस प्रकार पितृगुणों को सन्तति में पहुँचाता है। मानसमन्दता के संवहन के सम्वन्ध में इस ज्ञान के क्रियात्मक उपयोग में त्रुटि सम्वन्धी ज्ञान की अपूर्णता के कारण अव भी अनेक कठिनाइयाँ हैं।

तो भी इतना वोध हो चुका है कि अधिकतर मानस-मन्दता की दशायें (भिन्न-भिन्न संलक्षण) अप्रभावी गुण (recessive character) के रूप में सन्तति में संवाहित होते हैं, यद्यपि माता या पिता में से किसी में भी रोग के लक्षण न हों। दोनों के रोग से मुक्त होने पर भी वे त्रुटिज जीन के वाहक (carrier) हो सकते हैं। ऐसी दशा में उनकी चार सन्तानों में से एक सन्तान त्रुटि युक्त अर्थात् मानसमन्द होगी। कुछ रोगों जैसे फिनाइल-कीटोन्यूरिया और गैलेक्टोसीमिया में तो चार में से दो सन्तान त्रुटिग्रस्त हो सकती हैं। अव ऐसे प्रयत्न किये जा रहे हैं कि माता-पिता को इस अनिष्ट की संभावना का पहिले पता चल जाय।

मानस-मन्दता के कारणों का सविस्तार वर्णन

गत पृष्ठों में जिन कारण समूहों का उल्लेख किया गया उनमें से प्रत्येक पर संक्षेपतः विचार करना आवश्यक है।

प्रसव पूर्वकालिक कारण (prenatal causes)

प्रसव (delivery) वह क्रिया है जिसके द्वारा शिशु गर्भाशय से निकल कर वाह्य जगत् में आता है। इससे पूर्व वह २८० दिन तक गर्भाशय के भीतर एक कोशिकीय युग्मनज (zygote) से बढ़कर असंख्य कोशिका निर्मित पूर्ण अंगों युक्त, सम्पूर्ण शिशु वनता है। इस परिवर्धन काल में उसकी वृद्धि वहुत ही सुरक्षित स्थिति में होती है। माता के गर्भाशय में स्थित वह चारों ओर से उल्वोदक (liquor amnil) से घिरा रहता है जिसके वाहर गर्भाशय की मोटी भित्ति होती है। इससे वाहर के आघातों से वह सुरक्षित रहता है; वाह्य तापक्रम के परिवर्तनों का भी उस पर कोई प्रभाव नहीं होने पाता। अतिशीत और अतिताप से वह वचा रहता है। उसकी वृद्धि के लिये आवश्यक पोषण भी उसको अत्यन्त शुद्ध रूप में माता के रक्त द्वारा पहुँचता रहता है। माता के रक्त से पोषक पदार्थ शिशु के शरीर में, जो अभी भ्रूण (embryo) या गर्भ (foetus) की अवस्था में है, अपरा (placenta) नामक चलनी या निस्यन्दक (filter) में होकर, उसके द्वारा छनकर पहुँचता है। माता का रक्त भ्रूण या गर्भ के रक्त से कहीं मिलने नहीं पाता। दोनों के रक्तसंवाहक संस्थान (circulatory systems) सम्पूर्णतया पृथक् रहते हैं, कहीं सम्मिलन नहीं होता। माता के रक्त में

उपस्थित गर्भोपयोगी अवयवों—पोषक पदार्थ और आक्सीजन का अपरा में होकर भौतिक प्रक्रमों (physical processes) द्वारा शोषण होता है जो गर्भ के शरीर में पहुँच जाता है। इसी प्रकार गर्भ के शरीर में चयापचय (metabolism) की क्रियाओं से उत्पन्न हुए त्याज्य अवयव (waste products) अपरा कला द्वारा छनकर माता के रक्त में पहुँचते हैं और माता के उत्सर्गी अंग उनका शरीर से त्याग कर देते हैं। माता के तंत्रिका तन्त्र (nerves system) का भी गर्भ के तंत्रिका तंत्र से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार गर्भ सब प्रकार से सुरक्षित रहता है। न केवल शारीरिक आघातों से वरन् माता के मानसिक प्रभावों से भी बचा रहता है।

तो भी यह न भूलना चाहिये कि उसकी वृद्धि या परिवर्धन का सारा क्रम माता के शरीर के भीतर सम्पादित होता है। अतएव माता की अस्वस्थता का उस पर प्रभाव पड़ना बहुत ही स्वाभाविक है। इसी कारण गर्भकाल में माता के स्वास्थ्य की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है, विशेषकर उसके खान-पान पर तथा मानसिक दशा पर; क्योंकि उद्वेगों तथा चिन्ताओं से स्वयं उसका पाचन तथा शारीरिक पोषण प्रभावित हो सकता है। फिर कुछ ऐसे विषैले पदार्थ पाये गये हैं जो अपरा द्वारा छनकर गर्भ के शरीर में पहुँच जाते हैं और उसको हानि पहुँचाते हैं। कुछ रोगों के जीवविष या टौक्सिन (toxins) भी गर्भ के शरीर में पहुँच सकते हैं। ऐसे कारणों तथा दशाओं का यहाँ विचार किया गया है जिनसे शिशु में मानस-मन्दता उत्पन्न हो सकती है।

संक्रमण या उपसर्ग (infection)

संक्रामक रोग जीवाणुओं (bacteria) के कारण होते हैं। रिकेट्सिया और वाइरसों (virus) द्वारा भी संक्रामक रोग उत्पन्न होते हैं। रिकेट्सिया जीवाणुओं से छोटी किन्तु वाइरस से बड़ी होती है। इनके द्वारा होने वाले रोग थोड़े ही हैं। वाइरस अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। यह भी विवादास्पद है कि उनको जीव कहा जाय या नहीं। वे कोशिका में प्रविष्ट होकर वृद्धि करते हैं, कोशिका के बाहर वृद्धि नहीं करते। जीवाणु कोशिका के बाहर ही रहकर वृद्धि करते हैं। जीवाणु तथा वाइरस अपनी क्रिया से विष उत्पन्न करते हैं जो जीवविष या टौक्सिन कहे जाते हैं। ये रोगी के शरीर को आक्रान्त करके शारीरिक अंगों की क्रियाओं को बाधित करते हैं और रोग के लक्षण उत्पन्न करते हैं।

सिफ़िलिस (फ़िरंगरोग syphilis) एक लहरदार (spiral) लम्बे शरीर वाले जीवाणु के कारण उत्पन्न होने वाला रोग है, जिसको

स्पाइरोकीट पैलियम (spirochetae pallida) कहा जाता है। यह रोग व्यभिचार का फल है। प्राय: पुरुष से स्त्री को होता है, स्त्री को पुरुष से। यह संसारव्यापी रोग है।

पैनिसिलिन के आविष्कार के पूर्व इस रोग की कोई पूर्ण और सुलभ चिकित्सा नहीं थी। यद्यपि सन् १९१० में जर्मनी के अर्हलिख (Ehrlich) नामक विद्वान् ने इसकी विशिष्ट औषधि सालवर्सन और नियोसालवर्सन (salvarsan, neosalvarsan) की खोज कर ली थी तो भी वह इतनी सुलभ नहीं थी और कभी-कभी उससे हानिकारक प्रभाव भी होते थे।

इस रोग का प्रभाव सन्तान पर भी होता है, केवल रोगी पर परिमित नहीं रहता। रोगग्रस्त होने पर स्त्री को दो या तीन बार तो गर्भपात होता है। तीसरी या चौथी सन्तान जीवित हो सकती है। किन्तु रोग से प्रभावित होने के कारण उसको जन्मजात रोग (congenital syphltis) होता है जिसके लक्षण जन्म से प्रकट होते हैं। प्रथम तो शिशु का जन्म कालपूर्व (premature) हो जाता है जिससे उसके शरीर का परिवर्धन अपरिपक्व रह जाता है; उसमें इतनी शक्ति नहीं होती जितनी नियत समय पर जन्में शिशु में होती है। ऐसे शिशु को अनेक बार तो जन्म के पश्चात् अथवा कुछ समय पश्चात् मृत्यु हो जाती है। जो जीवित रहते हैं उनमें अनेक दोष उपस्थित हो सकते हैं, मस्तिष्क की विकृति, मानसिक विकार, अस्थियों में विकृतियाँ, नेत्र विकार वहुत पाये जाते हैं। मानसिक विकार शिशु के गर्भकाल में तन्त्रिका तन्त्र के रोगाक्रान्त होने से उत्पन्न होता है।

आविष्कार के पश्चात् पैनिसिलिन की अतिमात्राओं द्वारा चिकित्सा से इस प्रकार के रोगी अब कम मिलते हैं।

रूबैला (Rubella) जिसको जर्मन मीजिल्स (German measles) भी कहते हैं। गर्भ के लिए एक भयंकर रोग है। यह वाइरस के कारण उत्पन्न होता है। गर्भावस्था के प्रथम तीन मास में होने से शिशु में मानसमन्दता, हृद्रोग (heart diseases), बधिरता तथा दाँतों के दोष उत्पन्न हो सकते हैं। वैसे यह अत्यन्त मृदु रोग है जिसमें ज्वर और त्वचा पर रोमान्तिका (measles) के समान विस्फोट निकलते हैं। रोग शीघ्र ही शान्त हो जाता है।

वाइरस (virus) जन्य रोग गर्भ के लिये तथा शिशुओं के लिये विशेषतया भयंकर माने जाते हैं। रूबैला से जो गर्भ के लिये आपदा उत्पन्न हो सकती है वह केवल उपर्युक्त त्रुटियों और रोगों में ही सीमित नहीं है।

गर्भ के प्रथम मास में वाइरस के संक्रमण (infection) से ५० प्रतिशत भ्रूण (embryo) नष्ट हो जाते हैं और २५ प्रतिशत असंगतियाँ (anomalies)--हृदय की अपूर्णता, बधिरता, नेत्ररोग आदि—उत्पन्न हो जाती हैं। दूसरे मास में भी नष्ट भ्रूणों की संख्या उतनी ही रहती है, अर्थात् ५० प्रतिशत; किन्तु असंगतियों की संख्या २५ प्रतिशत से घट कर १० प्रतिशत रह जाती है। तीसरे मास में भ्रूण की क्षति नहीं होती, वे जीवित रह जाते हैं। किन्तु ५ से ७ प्रतिशत में गम्भीर असंगतियाँ पाई जाती हैं। तीसरे मास के पश्चात् भी वाइरसजन्य हानि समाप्त नहीं होती। जो शिशु जन्मते हैं वे कालपूर्व (premature) होते हैं, उनका शरीरभार कम होता है, जिसका अर्थ है अशक्त होना, जिससे वे शीघ्र ही किसी रोग का विशेषकर श्वास सम्वन्धी रोग का ग्रास वनकर अपनी जीवन लीला समाप्त कर देते हैं। वाइरस विशेषतया हृदय, मस्तिष्क, नेत्र और कर्ण को अपना क्रियाक्षेत्र बनाता है। शिशु का एक कर्ण वधिर हो, अथवा दोनों कर्णों की वधिरता हो सकती है। रूवेला द्वारा आक्रान्त शिशुओं में से आधे मानस-मन्द होते हैं।

डेढ़ सौ से अधिक वाइरस मानव शरीर में अभी तक मिल चुके हैं। और भी वाइरसों के मिलने की संभावना है। जो मिले हैं उनमें से अधिकतर का सम्वन्ध रोगों से है। अन्य का अव भी अध्ययन हो रहा है। आन्त्र से मिलने वाले वाइरसों को पृथक् करना और उनका अध्ययन और भी करना कठिन है। किन्तु सम्भावना यही है कि वे अनेक रोगों का कारण होते हैं और कितने ही अपनी सक्रियता को मानसमन्दता के रूप में प्रकट करते हैं।

पोषण (nutrition)

शरीर का पोषण आहार से होता है। आहार द्वारा शरीर को वे सव अवयव मिलते हैं जिससे शरीर पुष्ट होता है। गर्भवती स्त्री को दो शरीरों को पोषित करना पड़ता है, अपने शरीर को और गर्भ के शरीर को। अतएव उसको पुष्टिदायक आहार की उपयुक्त मात्रा मिलनी चाहिये; आहार बलदायक हो और उसकी राशि भी आवश्यकतानुसार पर्याप्त हो।

किन्तु अभी तक वैज्ञानिक अनुसन्धानों से यह प्रमाणित नहीं हो सका है कि माता को उपर्युक्त आहार न मिलने से गर्भ को हानि पहुँचती है। आहार के अनुपयुक्त होने पर, जिसको कुपोषण (malnutrition) कहा जाता है, शिशु का उचित परिवर्धन न हो, इसके प्रमाण नहीं मिले हैं। प्रणाशी अरक्तता (pernicious anemia) से ग्रस्त स्त्रियों के शिशुओं में अवश्य

मानसमन्दता पाई गई है। इस रोग में रक्त की कणिकायें विकृत हो जाती हैं जिससे रक्त की गर्भ को पोषण पहुँचाने की शक्ति, विशेषकर आक्सीजन पहुँचाने की शक्ति का ह्रास हो जाता है। विटामिन-वी १२ की न्यूनता इसका कारण हो सकती है जिससे गर्भ को आवश्यक मात्रा में आक्सीजन न मिलने से उसके मस्तिष्क की उचित वृद्धि रुक जाती है। आक्सीजनन्यूनता का मस्तिष्क की कोशिकाओं पर विनाशकारी प्रभाव होता है। कुछ जन्तुओं पर किये गये प्रयोगों से भी यही समझा गया है कि विटामिन न्यूनता का मानस-मन्दता से घनिष्ट सम्बन्ध है।

आक्सीजन न्यूनता अनाक्सिता (Anoxia)

अनाक्सिता वास्तव में आक्सीजन न्यूनता होती है। आक्सीजन की सम्पूर्ण अनुपस्थिति कभी नहीं होती जैसा शब्द का अर्थ है। किन्तु मस्तिष्क अल्प आक्सीजन न्यूनता भी सहन नहीं कर सकता। उसकी कोशिकायें इतनी विशिष्ट हैं और उनकी क्रियायें इतनी जटिल होती हैं कि उनको वहुत आक्सीजन की आवश्यकता होती है। आक्सीजन की कमी का उनपर अत्यन्त हानिकारक प्रभाव होता है। दो मिनट तक आक्सीजन न मिलने से मस्तिष्क कोशिका नष्ट हो जाती है। फिर वह पुनर्जीवित नहीं हो सकती। मस्तिष्क कोशिकाओं में पुनर्जनन (reproduction) की शक्ति नहीं है। शरीर की अन्य कोशिकाओं के समान वे विभाजन (division) द्वारा नई कोशिकाओं की सृष्टि नहीं कर सकतीं। परिवर्धन काल में जो मस्तिष्क की कोशिकायें (२२ billions) वन गईं सो वन गईं। उसके पश्चात् नई नहीं वन सकती। इससे मस्तिष्क के नष्ट हुये भाग या कोशिका समूह फिर से नहीं उत्पन्न होते। इस कारण आक्सीजन न्यूनता से मस्तिष्क तथा सारे तन्त्रिका तन्त्र को जो क्षति पहुँचती है वह जन्म भर वनी रहती है, उसका सुधार सम्भव नहीं है।

गर्भ का आक्सीजन माता के रक्तपरिसंचरण (blood circulation) से प्राप्त होती है। यदि माता को पर्याप्त आक्सीजन नहीं मिलती, जैसे कार्वन-मानो-आक्साइड विषालुता (carbon-monoxide poisoning) में अथवा डूवने की दुर्घटना में (drowning), तो उससे गर्भ के मस्तिष्क और तन्त्रिका तन्त्र की क्षति सम्भव है। ऐसे व्यक्ति पाये गये हैं जिनकी मानसमन्दता ऐसी दुर्घटनाओं का परिणाम थी।

अभिघात (Trauma)

साधारणतया माता को किसी दुर्घटना से आघात पहुँचने से गर्भ को हानि होती हो, इसका कोई प्रमाण नहीं पाया गया है। यदि उस दुर्घटना

से माता को इस प्रकार का आघात पहुँचा है कि गर्भाशय में अपरा (placenta) गर्भाशय से अंशतः भी पृथक् हो गया है तो गर्भाशय के भीतर रक्तस्राव होकर गर्भ की मृत्यु तक हो सकती है। यदि अपरा अत्यन्त पृथक हुआ है और रक्तस्राव भी अल्प है तो उससे भी गर्भ को अनाक्सिता हो जायगी और कालपूर्व प्रसव (premature deleivary) होगा। प्रायः शिशु की मृत्यु हो जाती है। यदि वह जीवित रहा तो मानसमन्द होगा। आक्सीजन न्यूनता का प्रभाव स्थायी होता है।

औषधियाँ (drugs)

कितनी ही औषधियों का गर्भ पर हानिकारक प्रभाव होता है। थैलिडोमाइड नामक योग के प्रभाव की कथा तो जगत् विख्यात हो चुकी है। उससे विकलांग शिशुओं का जन्म होने के कारण उसका निर्माण करने वाली कम्पनी को विशाल आर्थिक हरजाना देना पड़ा है जिन स्त्रियों ने गर्भकाल के प्रथम तीन महीनों में इस योग का प्रयोग किया उनकी संतान एक या दो अंगहीन हुई अथवा अंग ऐसे विकृत या विरूप थे कि उनको शिशु उपयोग ही नहीं कर सकता था।

कई अन्य औषधियाँ भी गर्भ की हानिकारक सिद्ध हुई हैं। मधुमेह (diabetes) की औषधियाँ गर्भ के परिवर्धन के लिये बाधक पाई गई हैं। जन्तुओं पर किये गये प्रयोगों में उनको कोर्टीसोन (cortisone) खिलाने से शिशुओं में जन्मजात त्रुटियाँ (congenital defects) उत्पन्न हुई हैं। क्विनीन (Quinine) के प्रभाव से गर्भपात होना जनता को भी सुविदित है। कितने ही विशेषज्ञ विद्वानों ने लिखा है कि अत्यधिक धूम्रपान से कालपूर्व प्रसव की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

विकिरण (radiation)

इसका कुछ उल्लेख पहिले किया जा चुका है। जिन पदार्थों को रेडियो-सक्रिय या रेडियो एक्टिव कहा जाता है, जैसे स्वयं रेडियम (radium), जिससे यह शब्द बना है, उनसे कुछ किरणें (अवश्य) निकल कर शरीर पर पड़ कर उसको उग्र हानि पहुँचाती हैं। वे जीवन का नाश करने वाली होती हैं। एक्सरे भी ऐसी ही किरणें हैं। रेडियम तथा उसके अनेक रूपों का भी ऐसा ही प्रभाव होता है। घातक अर्बुदों (malgnant tumonrs), कैंसर की चिकित्सा में ऐसी किरणों का उपयोग किया जाता है। उनसे अर्बुदों की कोशिकाओं का नाश होता है। किन्तु वे अन्य स्वस्थ कोशिकाओं को भी क्षत कर सकती हैं।

गर्भावस्था में स्त्रियों की श्रोणि (pelvis) पर पर इन किरणों को डालने से गर्भ को हानि पहुँच सकती है। एक अस्पताल में ऐसे ७४ रोगियों को विशेष निरीक्षण में रखा गया। उनके शिशुओं में से केवल ३६ स्वस्थ थे। शेष ३८ में से अधिकतर लघुशिरस्क (microcephalic) थे। हीरोशिमा और नागासाकी नगरों से, जिन पर दूसरे विश्व संग्राम में एटम बम्ब डाला गया था, ऐसी ही रिपोर्ट मिली थी। ऐसे ११ बालकों की जीवन कथा समाचार पत्रों में प्रकाशित की गई थी, जो मानसमन्द थे। इन किरणों के प्रभाव से, जिसको विकिरण कहा जाता है, जीन में उत्परिवर्तन (mutation) हो जाता है। उनकी सामान्य क्रिया शक्ति बदल जाती है जिसके कारण असंगतियुक्त शिशु उत्पन्न होते हैं। अंगों के रूप परिवर्तित हो सकते हैं, मानसिक परिवर्तन हो सकते हैं। किसी भी प्रकार का परिवर्तन संभव है। एक्स-रे की क्रिया के लिये सबसे अधिक भयास्पद काल गर्भावस्था ११ से १८वें सप्ताह के बीच का काल होता है। जन्तुओं पर किये गये प्रयोगों से भी इस मत का समर्थन होता है।

गर्भावस्था की रक्तविषाक्तता (Taxaemia of Pregnancy) **या विषरक्तता**—यह अत्यन्त भयंकर रोग है। इस संज्ञा के अन्तर्गत वास्तव में दो या तीन अवस्थायें हैं जो गर्भावस्था में उत्पन्न होती हैं। किन्तु उनमें से एक अत्युग्र दशा है जिसको इक्लैम्पिसिया (eclampsia) कहा जाता है। उपयुक्त चिकित्सा न होने से रोगी की मृत्यु हो जाती है। इसका कारण अभी तक अज्ञात है। यह रोग गर्भावस्था के अंतिम तीन महीनों में होता है। इस रोग के विशेष लक्षण अतिरिक्त दाब (hypertension), मूत्र में अल्बूमिन (albuminuria) का आना, जो अलबूमिनमेह कहलाता है, शिरदर्द और शोफ (oedema) हैं। शरीर सूज जाता है, चेहरे पर, नेत्रों के नीचे सूजन आ जाती है। ठीक-ठीक चिकित्सा न होने पर, या उसमें विलम्ब होने पर शरीर में बांयठे आने लगते हैं जिनको वैज्ञानिक भाषा में आक्षेपक (convulsions) कहा जाता है; कुछ समय पश्चात् रोगी बेहोश हो जाता है जो सन्निपात या कोमा (coma) कहलाता है। इस कोमा की दशा में ही मृत्यु हो जाती है।

कुछ विद्वानों की सम्मति अनुसार रक्तविषाक्तता की मृदु अवस्थायें भी होती हैं; विषरक्तता इतनी अल्प होती है कि उसकी ओर ध्यान नहीं आकर्षित होता, लक्षण अनुग्र होते हैं। किन्तु वह गर्भ को हानि पहुँचाने को पर्याप्त होती है। ऐसी विषरक्तता गर्भ के लिये अधिक भयंकर होती हैं, उग्र लक्षणहीन होने से उसकी चिकित्सा नहीं होती और गर्भ में माता के रक्त

से निरन्तर विषसंचार होता रहता है। ऐसे शिशुओं में आक्षेपक, कोमा तथा मानस-मन्दता हो सकती है। उग्र रोग से चिकित्सा द्वारा रोगी के निरोग हो जाने पर भी मानस-मन्द शिशु का जन्म हो सकता है।

कालपूर्वता या अपक्वता (prematurity)

गत पृष्ठों में इसका उल्लेख किया गया है। निश्चित समय अथवा २८० दिन से पूर्व जन्मे हुए शिशु को कालपूर्व कहा जाता है। शिशु का पूर्ण परिवर्धन ९ मास में होता है जिसके पश्चात् सशक्त होकर, वह इस बाह्य संसार में प्रवेश करता है। उसके जितने कालपूर्व वह जन्मता है उतना ही वह अधिक अशक्त होता है; उसका परिवर्धन उतना ही अपूर्ण रह जाता है जिससे वह जन्म लेने की क्रिया (प्रसव) में जो उस पर भार पड़ता है या उसको जो कष्ट होता है तथा बाह्य वायुमण्डल के प्रभाव को, जिसका वह अभ्यस्त नहीं है, उनको सहन करने में असमर्थ होता है। ये दशायें उसके प्रतिकूल होती हैं। प्रसव काल में जो नवजात शिशुओं की मृत्यु होती हैं उनमें से २४.५ प्रतिशत का कारण कालपूर्वता होती है।

कालपूर्वता का विशेष प्रमाण शिशु के जन्मकालिक शरीरभार पर होता है। ५½ पौंड से कम भार वाला शिशु कालपूर्वों की श्रेणी में गिना जाता है। ऐसा शिशु नवीन परिस्थिति का सामना करने के अयोग्य माना जाता है। आजकल नवीन आविष्कारों द्वारा ऐसे यन्त्र बन गये हैं जिनमें कालपूर्व शिशु को रखकर वहाँ सब वैसी ही परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी जाती हैं जैसी गर्भाशय के भीतर शिशु को प्राप्त थी और वहाँ वह आवश्यक कालतक रहकर अपना परिवर्धन क्रम पूरा कर सकता है। इस यन्त्र को ऊष्मायित्र (incubator) कहा जाता है। यह पाया गया है कि ५½ (२२००—२५०० औंस) पौंड के शिशु के इस इन्क्युबेटर द्वारा जीवित रहने की संभावना पूर्ण स्वस्थ शिशु के समान होती है। किन्तु ५½ पौंड से शरीर भार जितना कम होता है, जीवन की आशा या संभावना भी उतनी कम होती चली जाती है। यहाँ तक कि यदि शिशु का शरीर भार २¾–३ पौंड (१००० औंस) है तो उसके जीवित रहने की सम्भावना १० प्रतिशत से अधिक न समझनी चाहिये। इसका कारण शिशु के शरीर की आन्तरिक रचना की अपरिपक्वता के फलस्वरूप उसकी बाह्य परिस्थिति को सहन करने की असमर्थता मानी जाती है।

एक विद्वान् (Drillon 1861) ने अन्वेषण करके यह पता लगाया है कि कालपूर्व शिशुओं की बुद्धि प्रज्ञा या मेधा (intellect) का दो वर्ष

की आयु से ह्रास होने लगता है। जिन कालपूर्व बालकों को उसने निरीक्षण में रखा उनमें उसने पाया कि ५ वर्ष की आयु तक अधिकतर बालक ऐसे बुद्धिहीन या मानसमन्द हो गये थे कि उनको शिक्षा भी नहीं दी जा सकती थी।

कालपूर्व प्रसव में दुर्घटनायें भी अधिक होती हैं। उनको अभिघात पहुँचने का अधिक भय रहता है। जो जुड़वा (twins) बालक होते हैं उनमें प्रसव अभिघातों (birth injuries) की संख्या अधिक पाई जाती है।

विषैली वस्तुओं (toxic substances) का माता के प्रयोग करने से गर्भ को हानि पहुँच सकती है। कितनी ही बार नल के जल द्वारा माता को सीसविषाक्तता (lead poisoning) हो जाने के कारण शिशुओं में मानस-मन्दता पाई गई है।

बहिर्जात जीवविष (exogenous toxins)—इस शब्द का अर्थ है शरीर से बाहर उत्पन्न हुए जीव विष। माता के किसी तीव्र रोग से ग्रस्त हो जाने पर उसके शरीर की कोशिकाओं में होने वाला चयापचय (metabolism) बढ़ जाता है और उससे उत्पन्न होने वाली त्याज्य वस्तुओं की मात्रा बढ़ जाती है। ये शरीर के भीतर रहने पर विष का काम करती हैं। अनेक संक्रामक रोगों में ऐसे विष उत्पन्न होते हैं। गर्भवती माता के शरीर में उत्पन्न हुए ऐसे कितने ही विष अपरा में से छन कर गर्भ के शरीर में पहुँच कर गर्भ को विषाक्त करते हैं।

गर्भिणी की गम्भीर कामला (Icterus neonatorum gravis) एक ऐसा ही रोग है जिसका प्रथम उल्लेख रीसस घटक (rhesus factor) के साथ किया गया था, जिसके कारण माता और गर्भ के रक्त में असंयोज्यता (incompatibility) उत्पन्न हो जाती है। दोनों एक दूसरे के विषम या विरोधी हो जाते हैं (इस विषय का आगे अधिक विचार किया गया है)। अब यह प्रमाणित हो चुका है कि माता को प्रसव के निकट काल में किसी भी प्रकार की उग्र कामला (severe jaundice) होने से गर्भ नष्ट हो सकता है। गर्भ के बच जाने पर शिशु मानसमन्द होते हैं, अथवा उनमें मानस या तंत्रिका संबंधी अन्य क्षति हो सकती है।

२. प्रसवकालिक कारण (neonatal causes)

प्रसवक्रिया सम्पन्न होने में जिन कारणों से कठिनाई हो, शिशु के गर्भाशय में बाहर आने के प्रक्रम में जिनके कारण बाधा उपस्थित हो जाय,

उनको प्रसवकालिक कारण कहते हैं। इनमें कुछ ऐसे कारण भी हैं जो कुछ समय से, पूर्व ही से उपस्थित होते हैं। किन्तु उनका पता प्रसव के समय लगता है। यहाँ उन्हीं पर विचार करना अभीष्ट है।

रीसस तत्त्व या घटक (rhesus factor) का नाम गत पृष्ठों में आया है। शिशु के लिये इसका वहुत महत्त्व है। यह घटक रीसस (rhesus) नामक वन्दर के रक्त में पाया जाता है। ८५ प्रतिशत मनुष्यों के रक्त में भी यह उपस्थित रहता है। उसी से इसका नाम रीसस रख दिया गया है। जिनमें यह उपस्थित होता है उनको रीससग्राही (rhesus positive) कहा जाता है। जिनमें नहीं होता वे रीसस ऋणात्मक या रीसस अग्राही (rhesus negative) कहे जाते हैं। आपत्ति उस समय उत्पन्न होती है जब पिता रीसस धनात्मक होता है और माता रीसस ऋणात्मक होती है। ऐसे दम्पति की सन्तान रीसस धनात्मक होगी। रीसस धनात्मक घटक प्रभावी (dominant) है और ऋणात्मक अप्रभावी (recessive) है। इसका फल यह होगा कि गर्भ के रक्त परिसंचरण से रक्त की अत्यल्प मात्रा माता के रक्त में पहुँचती रहेगी जिससे माता का क्षमीकरण (immunization) होता रहेगा; अर्थात् उसके रक्त में ऐसी वस्तुएँ उत्पन्न होती रहेंगी जो गर्भ के रीससघटक की विरोधी होती हैं, उसको नष्ट कर सकती हैं। यह क्रिया समस्त गर्भकाल में निरन्तर होती रहेगी और उससे माता के रक्त में इन गर्भविरोधी वस्तुओं की वहुत मात्रा उत्पन्न हो जायगी। वास्तव में माता के रक्त से इन गर्भविरोधी रीससघटक की थोड़ी-थोड़ी मात्रा गर्भावस्था में शिशु के रक्त में पहुँचती रहेगी। रीससघटक रक्त की लाल कणिकाओं में रहता है। अतएव गर्भ की लाल कणिकायें निरन्तर नष्ट होती रहेंगी जिससे गर्भावस्था के अन्त तक गर्भ को समस्त अथवा अधिकांश लाल रक्त कणिकायें नष्ट हो जायँगी। जव यह दशा उपस्थित होती है तो गर्भ के परिवर्धनशील मस्तिष्क तथा तंत्रिकातन्त्र (brain and nervous system) को आक्सीज़न नहीं मिल पाती। इससे शिशु की मृत्यु हो सकती है। जो शिशु जीवित रहता है वह मानस-मन्द तथा विकृतियों से युक्त होता है।

कूम्ब परीक्षण (Coomb's test) द्वारा यह पता लग जाता है कि माता में उत्पन्न प्रतिपिंडों (antibodies) द्वारा गर्भ का रीससघटक, अर्थात्, गर्भ की लाल रक्तकणिकायें नष्ट तो नहीं हो रही हैं। शिशु के जन्म के पश्चात् तुरन्त ही उपर्युक्त परीक्षण द्वारा निश्चय करना आवश्यक होता है। परीक्षण के धनात्मक होने पर शिशु के रक्त को पूर्णतया तीन

या चार वार बदलना होता है और नया सम्पूर्ण रक्त उसके शरीर में पहुँचाना होता है। इससे न केवल रक्त की लाल कणिकायें उसके शरीर में पहुँचती हैं, वरन् उसकी अपनी लाल कणिकाओं के नाश से उत्पन्न हुई विलिरुविन (bilirubin) जो उसके शरीर में एकत्र हो गई है वह भी शरीर से निकल जाती है। वीस ग्राम प्रति १०० सी. सी. रक्त से अधिक विलिरुविन का शरीर में एकत्र हो जाना गर्भ के लिये भयंकर होता है।

शिशु के सम्पूर्ण रक्त को वदल देने अथवा सम्पूर्ण रक्त को उसके शरीर में पहुँचाकर जिससे उसका अपना रक्त शरीर से निकल जाता है उसको **पूर्णपरिवर्त रक्ताधान** (exchange blood transfusion) कहते हैं।

कष्ट प्रसव (difficult labour)

प्रसव क्रिया द्वारा शिशु जन्म लेता है। यह गर्भाशय के भीतर से शिशु को वाह्य जगत में लाने का प्रकृति का उद्योग है जिसका अभी तक पूर्ण ज्ञान नहीं हो सका है। इस क्रिया में प्रथम प्रसवा (primipara) में, जिसने प्रथम वार गर्भ धारण किया है, लगभग १८ घंटे लगते हैं और वहुप्रसवा (multipara) में, जो फिर से गर्भधारण किये हैं, अनुमानतः ६ घंटे का समय लगता है। इससे अधिक समय लगने पर उसको **कष्टप्रसव** कहा जाता है। उसके अनेक कारण हो सकते है जिससे प्रसव क्रिया के सम्पूर्ण होने में वाधायें उत्पन्न हो सकती हैं। इन बाधाओं को दूर करने ही में प्रकृति को अधिक समय लगता है जिससे प्रसव क्रिया विलम्वित होती है।

कष्ट प्रसव का सव से सामान्य कारण गर्भ की अनुचित स्थिति होती है जिसको **अपस्थिति** या **कुस्थिति** (malposition) कहा जाता है। सामान्यतया गर्भ की वाम पश्चकपालअग्र (left occipito anterior L. O. A) स्थिति होती है; अर्थात् गर्भ के शिर का पश्चकपाल (occiput) माता की श्रोणि में वाम ओर आगे या सामने रहता है। उदर के निम्न भाग में इस स्थिति में उसको प्रतीत किया जा सकता है। यह सामान्य (normal) स्थिति मानी जाती है; शिर नीचे को, पश्चकपाल आगे को, आनन पीछे को, नितम्ब ऊपर को (गर्भाशय के ऊर्ध्व ध्रुव में)। इसके अतिरिक्त अन्य स्थितियाँ असामान्य (abnormal) मानी जाती हैं। पश्चकपाल श्रोणि में दक्षिण ओर आगे को स्थित हो सकता है; पश्चकपाल सामने की ओर न होकर श्रोणि में पीछे की ओर वाम या दक्षिण ओर स्थित पाया जा सकता है। आनन उससे विरुद्ध स्थित होगा। पश्चकपाल के स्थान में आनन सामने स्थित हो सकता है; तब पश्चकपाल पीछे को

होगा। कभी-कभी नितम्ब नीचे और सामने स्थित होते हैं। ऐसे प्रसव अति कष्टमय होते हैं। सबसे गर्हित और भयंकर स्थिति **आरपार** (transverse) होती है जब गर्भ गर्भाशय में आरपार स्थित होता है, जो **अनुप्रस्थ स्थिति** (transverse lie) कही जाती है। इसमें प्रसव अत्यन्त कठिन, प्रायः असम्भव होता है और आपरेशन करके शिशु को निकालना होता है, नहीं तो गर्भाशय का विदार (rupture) हो जाता है। यदि तत्काल शस्त्रकर्म द्वारा सुधार न किया गया तो माता और गर्भ दोनों की मृत्यु निश्चित है।

प्रसव के सम्पूर्ण और सफल होने के लिये इन अपस्थितियों को सुधार करके गर्भ को वाम-पश्चकपाल-अग्र स्थिति में (LOA) लाना आवश्यक है। यह गर्भवर्तन (version) विधि द्वारा किया जाता है जो अनेक बार सफल नहीं होती। इस स्थिति में लाकर गर्भ को उसी स्थिति में प्रसव के पूर्ण होने तक रखना दुस्तर कार्य है। यदि यह सफल नहीं हो पाता तो शस्त्र कर्म माता और गर्भ की जीवन रक्षा का एकमात्र उपाय रह जाता है।

अन्य कठिनाइयाँ जो कष्टप्रसव का कारण हो सकती है, गर्भाशय की असंगति, अपरा तथा गर्भनाल के दोष से उत्पन्न हो सकती हैं। गर्भाशय द्विशाखी या द्विखण्डी हो सकता है, वह दो अपूर्ण भागों में विभक्त हो सकता है। और भी रचना सम्वन्धी असंगतियाँ पाई जाती हैं जिनसे गर्भ की स्थिति कष्टदायक हो जाती है।

अपरा (placenta) में कितनी ही असंगतियाँ पाई जाती हैं। सबसे अधिक होने वाली असंगति सम्मुख अपरा (placenta praevia) है जो गर्भाशय के निम्न ध्रुव पर बनता है और गर्भाशय की ग्रीवा की नलिका के अन्तर्मुख (internalos of cervical canal) को आच्छादित किये रहता है। प्रसव के समय गर्भ इसी नलिका से होकर वाहर आता है। ज्यों ज्यों प्रसव पीड़ायें (labour pains) वढ़ती जाती हैं त्यों त्यों अन्तर्मुख और ग्रीवा की नलिका का प्रसार होता जाता है और गर्भ का शिर आगे बढ़ता जाता है। जब यह अन्तर्मुख अपरा द्वारा ढँका होता है तब अन्तर्मुख के प्रसार करने से अपरा पृथक् होने लगती है जिससे रक्तस्राव होकर माता और शिशु दोनों को दारुण भय उपस्थित हो जाता है। शिशु को आक्सीजन न मिलने से उसके मस्तिष्क तथा तंत्रिका तन्त्र को क्षति पहुँचती है। रक्तस्राव से माता का जीवन संकटमय हो जाता है। यह बहुत भयंकर

दशा है। गर्भाशय छेदन (Caesarean section) ही माता और शिशु के जीवन की रक्षा का एकमात्र उपाय है।

कभी-कभी **अपरा** (placenta) कालपूर्व पृथक् हो जाती है जिससे माता और शिशु का जीवन आपदग्रस्त हो जाता है। इसके कारण आभ्यन्तर रक्तस्राव (internal haemorrhage) होता है जिसके कोई वाह्य लक्षण नहीं होते। केवल चिकित्सक रोगी की सामान्य शारीरिक परीक्षा से जान सकता है। दशा का ज्ञान और चिकित्सा का आयोजन होने से पूर्व माता और शिशु के जीवन का अन्त हो सकता है। रक्तस्राव के अत्यल्प होने पर भी शिशु के मस्तिष्क और तन्त्रिका तन्त्र को क्षति पहुँच सकती है।

गर्भनाल (umbilical card) के द्वारा गर्भ और अपरा का सम्बन्ध होता है। गर्भनाल होकर अपरा में रक्त गर्भ के शरीर में पहुँचता है, और उसके शरीर से शिरीय रक्त (veinous blood) अपरा में लौटता है। अतएव गर्भनाल शिशु का जीवनदायक मार्ग (life line) है।

इसमें भी असंगतियाँ (anomalies) पाई जाती हैं। अतिलघु होने पर उसके विदार का डर रहता है जिससे रक्तस्राव होकर गर्भ और माता दोनों के लिये आपत्ति उपस्थित हो जाती है। कभी-कभी गर्भनाल बहुत लम्बा होता है। यह भी भय का कारण होता है। प्रसव के समय आगे की ओर प्रगति करते हुए गर्भ के शिर और माता की श्रोणि की अस्थियों के बीच आकर वह दब सकता है, उसका सम्पीडन (compression) हो सकता है जिससे उसके भीतर की धमनी और शिरा में होता हुआ रक्तप्रवाह रुक कर गर्भ के रक्तपरिसंचरण (blood circulation) को अवरुद्ध कर देगा जिससे उसको आक्सीजन मिलनी वन्द हो जायगी अर्थात् वह अनाक्सिता (anoxia) का ग्रास बनेगा।

गर्भनाल अधिक लम्वा होने पर कभी-कभी शिशु की ग्रीवा पर लिपटा होता है। ऐसी अवस्था में प्रसव के समय खिंचने से वह गर्भ के गले की फाँसी बन सकता है, उसका गला घुट जायगा और ग्रीवा में होकर जो आभ्यन्तर कैरोटिड धमनी मस्तिष्क को जा रही है उसका रक्तप्रवाह रुक जायगा जिससे मस्तिष्क को भयंकर क्षति हो सकती है। यदि शिशु बच भी गया तो वह जन्म भर के लिये बुद्धिहीन होगा। प्रसव के समय इस दशा को सुधारने में केवल दक्ष चिकित्सक सफल हो पाते हैं।

माता की श्रोणि की विरूपतायें (pelvic deformities) कष्ट प्रसव का विशेष कारण होती है। श्रोणि में कितनी ही प्रकार की विरूपतायें

मिल सकती हैं। वह अति लघु हो, जिसमें प्रसव के समय गर्भ की आगे को प्रगति ही न होगी। वहाँ स्थान की कमी के कारण श्रोणि का वहिर्द्वार इतना लघु हो सकता है कि उसमें होकर शिर वाहर नहीं आ सकता। श्रोणि इतनी विशाल हो सकती है कि सहसा या त्वरित प्रसव (precipitate labour) हो जाय। श्रोणि टेढ़ी हो सकती है : श्रोणि की कोई एक अस्थि टेढ़ी या विकृत हो जिससे श्रोणि के भीतर के स्थान का रूप वदल जायगा। इस कारण गर्भ की स्थिति में व्यतिक्रम आ जायगा जो कष्ट प्रसव का कारण होगा। श्रोणि की विरूपताएँ या असंगतियाँ जन्मजात अथवा दुर्घटनाओं का फल हो सकती हैं।

प्रसव सन्दंशों (obstetric forceps) का प्रयोग उस समय किया जाता है जव गर्भाशय की शिथिलता या दौर्वल्य के कारण प्रसव क्रिया में भ्रूण की प्रगति सन्तोषजनक नहीं होती। ये संदंश इस प्रकार के वने होते हैं कि वे भ्रूण के सारे शिर तथा करोटि (skull) को दोनों पार्श्वों से घेर लेते हैं और जवड़े के नीचे तक पहुँच जाते हैं। इनसे पकड़ कर प्रसव पीड़ा के समय गर्भ को धीरे-धीरे वाहर खींचा जाता है जिससे गर्भाशय को गर्भ के निष्कासन में सहायता मिलती है।

पहले यह माना जाता था कि इन संदंशों के प्रयोग से भ्रूण को हानि पहुँचती है जो मानस-मन्दता का कारण हो सकती है। किन्तु यह प्रमाणित हो चुका है कि दक्ष हाथों में इन सन्दंशों के उपयोग से कोई हानि नहीं होती, वरन् कष्ट प्रसव का समय कम हो जाता है। परन्तु उनके अनुचित प्रयोग का परिणाम अवश्य हानिकारक हो सकता है।

सहसा प्रसव (precipitate labour)

इसका अर्थ है अकस्मात् प्रसव हो जाना; अत्यल्प समय में प्रसव क्रिया के सम्पूर्ण होने से शिशु का जन्म हो जाना। ऐसे प्रसवों का लेख पाया जाता है जहाँ दो चार पीडायें हुई और शिशु वाहर आ गया। कुछ ऐसे भी प्रसव पाये गये हैं जहाँ शिशु के जन्म हो जाने पर माता को पता चला कि प्रसव हो गया।

ऐसे प्रसवों के शिशु को अभिघात लगने का वहुत अवसर रहता है जिसको **प्रसव क्षति** (birth injury) कहा जाता है। अधिकतर शिशु के कपाल पर अभिघात लगता है। प्रसव में शीर्ष ही प्रथम वाहर आने वाला भाग होता है। प्रायः इसी भाग पर अभिघात होता है। फर्श (floor) पर गिरने से शीर्ष या करोटि के किसी भाग पर अभिघात लगने

से अन्तःकपाल रक्तस्राव (intracranial haemorrhage) हो सकता है। इससे रक्तस्राव के नीचे स्थित मस्तिष्क कोशिकायें नष्ट हो सकती हैं जिससे शरीर के जिस भाग में उन कोशिकाओं के तन्तु तन्त्रिकाओं द्वारा जाते हैं उसका अंगघात हो जायगा।

गर्भ का अतिलघु आकार तथा प्रसवनलिका (गर्भाशय, ग्रीवा, योनि, भग, जिनमें से होकर शिशु बाहर आता है) का अतिलघु होना, ये दोनों दशायें सहसा प्रसव का कारण हो सकती हैं और अन्तःकपाल रक्तस्राव प्रायः उसका परिणाम होता है। रक्तस्राव अल्पमात्रा में हो सकता है यदि अभिघात तीव्र नहीं है। जन्म के समय अथवा उसके पश्चात् के प्रथम दो चार दिनों में होने वाले आक्षेपकों (convulsions) का कारण प्रायः अन्तः-कपाल रक्तस्राव ही होता है यद्यपि अन्य कारण भी हो सकते हैं। टिटेनी (tetany) रोग में भी आक्षेपक होते हैं। किन्तु उनका कारण कैलसियम और फ़ास्फोरस (phosphorus) के चयापचय का दोष होता है जिसको शिशु के अपरिपक्व वृक्क (kidneys) दूर करने में असमर्थ होते हैं। शिशु के रक्त में ग्लूकोज की अतिन्यूनता (hypoglycaemia) तथा मस्तिष्क के संक्रामक रोगों से भी आक्षेपक होते हैं। इन रोगों से मृत्यु बहुत होती है।

३. प्रसवोत्तरकालिक कारण (postnatal causes)

शिशु के जन्म लेने के पश्चात् जिन कारणों से मानस-मन्दता उत्पन्न हो सकती है उनका विचार यहाँ अभीष्ट है। ये कारण अनेक प्रकार के हो सकते हैं : न केवल शारीरिक किन्तु मानसिक या आवेशजन्य (emotional)। शारीरिक कारण वे हैं जो शरीर के किसी विकार के कारण उत्पन्न होते हैं। उदाहरण—मस्तिष्क का अपूर्ण परिवर्धन, करोटि के अभिघात, मस्तिष्क के संक्रामक रोग। सामाजिक दोषों में अर्थाभाव के कारण परिवार का सामाजिक अनादर अथवा अन्य कारणों से अपने संघ में तिरस्कार। आवेशजन्य कारणों में शिशु को प्रेम की अप्राप्ति, माता के देहान्त अथवा अरुचि के कारण, अभिभावकों की उदासीनता। स्नेह न मिलने का शिशु पर बहुत हानिकारक प्रभाव होता है। न केवल मानस विकास, किन्तु शिशु के जीवन तक के लिये स्नेह आवश्यक है।

यहाँ शारीरिक कारणों का विचार ही अभीष्ट है। अन्य कारणों का आगे चलकर विचार किया जायगा। इनमें निम्नलिखित मुख्य हैं।

संक्रामक रोग (infectious diseases)

मस्तिकावरण शोथ (meningitis) में मस्तिष्क पर प्राच्छादित आवरण जो उसको आवृत्त किये रहते हैं (meninges), रोगोत्पादक जीवाणुओं (pathogenic bacteria) के आक्रमण से उनमें शोथ उत्पन्न हो जाता है जिसको मैनिंजाइटिस कहते हैं। यह एक अत्यन्त तीव्र रोग है जिसका निश्चित परिणाम मृत्यु होता था। किन्तु नवीन प्रतिजीवी औषधियों (antibiotics) के आविष्कार के पश्चात् यह रोग साध्य हो गया है। किन्तु रोगमुक्त शिशुओं में से २० प्रतिशत मानस-मन्दता से ग्रस्त पाये जाते हैं।

यह रोग कई प्रकार के जीवाणुओं के कारण हो सकता है। प्रायः हीमोफाइलस इन्फ्लुयेंजी प्रकार–बी (haemophilus influenzae type–B), न्यूमोकोकस (pneumococcus) और मैनिंगोकोकस नामक जीवाणु उपर्युक्त रोग के कारण होते हैं। इनके अतिरिक्त मायोवैक्टीरियम ट्यूवर्क्यूलोसिस (myobacterium tuberculosis), जो राजयक्ष्मा (pulmonary tuberculosis) का कारण होता है, वह भी जीर्ण प्रकार का मस्तिष्कावरणशोथ उत्पन्न करता है। रोग का यह रूप तीव्र नहीं होता, वरन् मन्द रूप में वहुत काल तक चलता है। यह राजयक्ष्मा, अर्थात् फुफ्फुसीय रूप के रोग से ग्रस्त होते हैं उनसे ही शिशुओं या वालकों को होता है। तत्काल रोगनिदान और नवीन प्रतिजीवी औषधियों द्वारा चिकित्सा से रोगी आरोगलाभ करता है। तो भी रोग का मस्तिष्क पर कुछ प्रभाव रह ही जाता है।

मस्तिष्क शोथ (encephalitis) दूसरा रोग है जिसमें स्वयं मस्तिष्क का शोथ होता है। कई प्रकार के जीवाणु इसका कारण हो सकते हैं। स्वयं मस्तिष्क कोशिकाओं के आक्रान्त हो जाने से यह एक अति उग्र रोग है। किन्तु नवीन प्रतिजीवी औषधियों की प्रचुर मात्रा के प्रयोग से यह शान्त हो जाता है। तो भी जिन रोगियों में रोग का अत्युग्र रूप होता उन पर उसकी छाप रह जाती है। इसके कारण कितने ही बालक मानस-मन्द दशा को प्राप्त होते हैं।

अभिघात (trauma)

आधुनिक समय में दुर्घटनाओं की संख्या वहुत वढ गई है। यातायात के वाहनों की गति वढ़ती ही जा रही है और उसके साथ ही घातक दुर्घटनाओं की संख्या भी निरन्तर वृद्धि कर रही है। इन दुर्घटनाओं में सवसे भयंकर वे

होती हैं जिनमें शिर पर आघात लगता है। करोटि के अस्थिभंग (fractures of skull) बहुत बार होते हैं। प्रायः इनमें व्यक्ति अचेत हो जाता है। संज्ञालोप (unconsciousness) अल्पस्थायी हो सकता है; क्षणिक से होकर दो चार दिन के पश्चात रोगी संज्ञा लाभ कर ले, अथवा कई सप्ताह तक वह उसी दशा में रहे।

अधिकतर करोटिभंगों (skull fractures) में अन्तःकपाल रक्तस्राव (intracranial haemorrhage) होता है और मस्तिष्क पर आच्छादित आवरणों में से बाह्य कठिन आवरण के बीच रक्त एकत्र हो कर जम जाने से अवदृढ़तानिका रक्त गुल्म बन जाता है। इसको सबड्यूरल हीमेटोमा (subdural haematoma) कहते है, क्योंकि बाह्य कठिन आवरण को ड्यूरामेटर (duramater) कहा जाता है। इस रक्त गुल्म से जो मस्तिष्क कोशिकायें दबती हैं वे निष्क्रिय हो जाती हैं। इस कारण जिन अंगों को उनके तंतु जाते हैं उनका अवघात (paralysis) हो जाता है। दबाव अधिक काल बने रहने से अथवा अधिक दाब होने से कोशिकाएँ नष्ट हो जाती हैं और अंग की क्रियाशक्ति सदा के लिये जाती रहती है। अतएव एकत्र हुए रक्त या रक्तगुल्म को शस्त्रकर्म द्वारा तत्काल दूर करना आवश्यक होता है। शिर पर अभिघात लगने के पश्चात यदि रोगी को वमन हो तो रक्तगुल्म का सन्देह करना चाहिये।

कपाल पर ऐसे अभिघात लगने से सदा मस्तिष्क और बहुधा मानसिक क्षति होती है।

सीसविष (lead poisoning)—इसका पहले उल्लेख किया गया है। यदि दीर्घ काल से सीसविषाक्तता होती रही है तो उससे मस्तिष्क की कोशिकाओं का चयापचय दूषित हो जायगा, चयापचय में जो अनेक रासायनिक क्रियायें होती हैं, वे अस्तव्यस्त होने लगेंगी और उनका फल मानस मन्दता हो सकती है।

अनाक्सिता (anoxia)

आक्सीजन न्यूनता से मस्तिष्क कोशिकाओं को होने वाली क्षति का उल्लेख किया जा चुका है। किसी भी समय मस्तिष्क कोशिकायें आक्सीजन की कमी नहीं सहन करतीं। कार्बन-मानो-आक्साइड विषाक्तता हो जाने पर रक्त द्वारा मस्तिष्क को पर्याप्त आक्सीजन नहीं पहुँच सकता। गला घुटने का भी यही प्रभाव होता है। डूबने से भी मस्तिष्क को आक्सीजन नहीं पहुँच पाती। हृद्संरोध (cardiac arrest) एक भयंकर दशा है

जिसमें हृदय की क्रिया वन्द हो जाती है। दशा में सुधार हो जाने पर भी अनेक व्यक्तियों की मानसिक क्षति वनी रहती है।

जन्म के समय अथवा इन्क्यूवेटर में कालपूर्व शिशु को रखने के समय अत्यधिक आक्सीजन देने से भी भयंकर क्षति हो सकती है। नेत्र में लेन्स (lens) के पीछे कुछ अपारदर्शी (opaque) ऊतक (tissue) वन जाता है जिससे शिशु अंधा हो जाता है। इस रोग को retrolenticular fibroplasia कहते हैं। जन्तुओं पर प्रयोगों के ऐसे ही परिणाम हुए हैं।

एलर्जीय प्रतिक्रियायें (allergic reactions)

कुछ व्यक्ति किसी विशेष पदार्थ को सहन नहीं कर पाते। यदि वह पदार्थ उनके शरीर के भीतर पहुँच जाए, चाहे वह आहार के साथ पहुँचे अथवा श्वास द्वारा या किसी अन्य प्रकार से शरीर में प्रविष्ट हो जाय तो उससे उनके शरीर में ऐसी प्रतिक्रियायें होती हैं कि रोगों के समान लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। दमे (asthma) के समान श्वास फूलने लगता है; छीकें आती हैं, प्रतिश्याय (जुकाम) के समान नाक बहने लगती है; त्वचा पर विस्फोट या चकत्ते निकल आते हैं जिनमें खुजली आती है जिसको सामान्यतया पित्ती (urticaria) कहा जाता है। इस दशा को **एलर्जी** (allergy) कहा जाता है। कुछ को तैल के प्रति एलर्जी होती है। पराग की एलर्जी वहुत पाई जाती है। अनेक को घर झाड़ने से जो धूल उड़ती है उसकी एलर्जी होती है। इस दशा में वास्तव में शरीर के भीतर क्या रासायनिक प्रतिक्रियायें होती हैं, इसका अभी तक ज्ञान नहीं प्राप्त हो सका है।

कुछ वालकों में चेचक (small pox) का टीका लगाने से जिसमें वैक्सीन-लिम्फ शरीर में प्रविष्ट किया जाता है जो एक प्रकार की प्रोटीन होती है, मानस-मन्दता उत्पन्न हो गई है। इससे यह माना जाता है कि एलर्जीजन्य प्रतिक्रियायें मानस-मन्दता का कारण हो सकती हैं।

अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के विकार (disorders of endocrine glands) शरीर में पिच्यूटरी (पीयूष ग्रन्थि, piluitary), अवटुका (thyroid) और उपवृक्क (adrenals) ग्रन्थियाँ ऐसे स्राव उत्पन्न करती हैं जो सीधे ग्रन्थियों से रक्त में चले जाते हैं, ग्रन्थि से वाहर नहीं निकलते। अंड या वृषण ग्रन्थियाँ (पुरुष में) और डिम्व ग्रन्थि (स्त्री में) तथा अग्न्याशय (pancreas) नामक ग्रन्थि दो प्रकार के स्राव (secretion) उत्पन्न करती हैं, जिनमें से एक ग्रन्थि से सीधा रक्त में शोषित हो

जाता है और दूसरा एक नलिका द्वारा ग्रन्थि से बाहर निकलता है। ये सीधे रक्त में चले जाने वाले स्राव हारमोन (hormone) कहे जाते है और शरीर के लिये वहुत महत्त्व के हैं।

इनमें से पिच्यूटरी और अवटुका ग्रन्थि का मानस-मन्दता से विशेष सम्बन्ध पाया गया है।

पिच्यूटरी की क्रियाल्पता (hypopituitarism) अर्थात् स्राव की न्यूनता से जो दशा उत्पन्न होती है उसको **फ्रोहलिख का संलक्षण** (Frohlich's syndrome) कहा जाता है। इस दशा में उदर के निम्न भाग और नितम्बों पर अत्यधिक वसा एकत्र हो जाती है। उरु और स्तन भी वसा की अधिकता से विशेषतया स्थूल हो जाते हैं। किन्तु मैथुन अंगों की वृद्धि नहीं होती। वे अपरिपक्व अथवा वालिश अवस्था ही में रह जाते हैं। साथ ही लिंग (sex) के गौण लक्षण (secondary characters) भी नहीं प्रकट होते। पुरुषों में मूछ, डाढ़ी, वक्ष पर रोमों का उगना, वाणी (voice) का गम्भीर होना आदि लक्षणों का विकास नहीं होता। ऐसे ही वालिकाओं में स्त्रीत्व के भाव तथा लक्षणों का उदय नहीं होता।

मानसिक विकास भी अपूर्ण रहता है। बालक की समझने की शक्ति अत्यल्प रहती है, उसकी चेष्टाएँ अतिमन्द होती हैं। वह अपने चारों ओर की परिस्थिति से जैसे नितान्त अवनत या उदासीन हो, कुछ समझ ही न पाता हो। चारों ओर क्या हो रहा है इसकी ओर उसका ध्यान नहीं जाता। न समवयस्क बालकों के साथ खेलने या लड़ने में ही वह किसी प्रकार की रुचि प्रकट करता है। दस या बारह वर्ष के बालक की बुद्धि चार या तीन वर्ष के बालक के समान होती है।

इसी प्रकार की दशा **अवटुक्रियाल्पता** (hypothyroidism) है जो अवटुका ग्रन्थि (thyroid gland) की क्रिया के ह्रास से उत्पन्न होती है। जन्म के पूर्व से ग्रन्थि की क्रिया शिथिल होती है जिसका परिणाम शिशु की अस्थियों की वृद्धि का रुक जाना होता है, अतएव शिशु वामन (dwarf) रह जाता है, लम्बाई में नहीं बढ़ता। उसका शिर बड़ा होता है किन्तु टागें छोटी और चापवत् बाहर को मुड़ी होती हैं। हाथ और पाँव भी कुछ कुरूप होते हैं। सुड़ौल नहीं होते। पेट आगे को बढ़ा होता है, जिह्वा मुख से बाहर को लटकी हुई और उससे लार (लाला, saliva) बहती रहती है। चेहरे पर उदासीनता, अग्राह्यता, नासमझ, तथा पूर्ण अरुचि का भाव चित्रित होता है। भूख न लगने तथा अल्पाहारी होने पर भी उसका शरीरभार

बढ़ता रहता है। शिशु में चंचलता का पूर्ण अभाव होता है। शिथिलता, दैहिक तथा मानसिक दोनों की प्रधानता उसका मुख्य गुण होती है। शिर तथा शरीर पर बाल कम उगते हैं। मानसिक मन्दता किसी प्रकार की हो सकती है; प्रायः अतिमन्दता होती है। रक्तपरीक्षा पर अरक्तता (anaemia) पाई जाती है तथा कोलेस्टरोल (cholesterol) की मात्रा अधिक होती है। किन्तु आयोडीन-संयुक्त प्रोटीन की मात्रा अल्प होती है। आयोडीन की कमी इस दशा का मूल कारण माना जाता है। ऐक्सरे चित्र से, जो प्रायः मणिवंध (wrist) का लिया जाता है, अथवा अन्य स्थान के एक्सरे चित्र से अस्थि वृद्धि की मन्दता का प्रमाण मिलता है।

इस दशा का जितना शीघ्र हो निदान (diagnosis) आवश्यक है। बालकाल में शीघ्रातिशीघ्र अवटुका सत्व (thyroid extract) खिलाने से कुछ वर्षों ही में बालक स्वस्थ हो जाता है। शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की संतोषजनक वृद्धि होती है और बालक युवक होने तक पूर्ण पौरुष प्राप्त कर लेता है।

चयापचय के विकार (disorders of metabolism)

चयापचय वह प्रक्रम है जिसके द्वारा शरीर आहार-पदार्थों के पाचन से काम करने तथा वृद्धि या नवीन निर्माण की शक्ति प्राप्त करता है और उन पदार्थों के अंतिम त्याज्य रूपों का शरीर से त्याग करता है। इन सब प्रतिक्रियाओं के सामूहिक रूप को चयापचय कहा जाता है। इस सारे प्रक्रम में अनेक रासायनिक और भौतिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं जिनका परिणाम शरीर को ऊर्जा (energy) की प्राप्ति होती है। इन प्रतिक्रियाओं की प्रवृत्ति के लिये भी कोई कारक या प्रवर्तक चाहिये। इन प्रवर्तकों को एन्जाइम (enzyme) कहते है। ये रासायनिक पदार्थ होते हैं जिनको कोशिकायें ही उत्पन्न करती हैं और इनकी सहायता से उन सब रासायनिक प्रतिक्रियाओं को पूर्ण करती हैं जिनके कारण शरीर ऊर्जा प्राप्त करता है। इन सब क्रियाओं को चयापचय का सामूहिक नाम दिया गया है। इन ऐंजाइमों की अनुपस्थिति में रासायनिक प्रतिक्रिया नहीं हो पाती।

फिनाइलकीटोनिक मेह (phenylketonuria) और अल्पग्लूकोज-रक्तता (hypoglycaemia) दोनों ऐसे ही रोग हैं जो उनके विशिष्ट एंजाइमों की अनुपस्थिति के कारण उत्पन्न होते हैं। एंजाइमों की उत्पत्ति न होने का हेतु जीन (gene) सम्बन्धी होता है जो जीनिक कारक

(genetic factor) कहा जाता है अर्थात् क्रोमोसोमों में कुछ जीनों के अस्त-व्यस्त हो जाने से वे एन्जाइम उत्पन्न नहीं होते जो फिनाइलकीटोनों का विभंजन करते हैं। ऐसे कुछ एंजाइम ग्लूकोज के चयापचय का नियन्त्रण करते हैं।

फिनाइलकीटोनीनमेह का अर्थ है फिनाइलकीटोनों (phenyl ketones) का मूत्र द्वारा शरीर से निकलना। ये फिनाइलएलेनीन (phenylalanine) नामक एमीनोअम्ल (amino acid) के चयापचय के सम्पूर्ण न होने से बनते हैं। फिनाइलएलेनीन प्रोटीनों का एक मुख्य अवयव होता है। इसका अर्थ है कि प्रोटीनों का पूर्ण चयापचय नहीं हो पाता जिससे फिनाइलकीटोन रक्त में एकत्र हो जाते हैं और मूत्र द्वारा निकलते रहते हैं। किन्तु वृक्क इनका सम्पूर्ण त्याग करने में असमर्थ होते हैं। ये मानसमन्दता के विशेष कारण होते हैं। ५% मानसमन्दों में यह कारण पाया जाता है। अधिक चिन्ताजनक यह है कि इस प्रकार की मन्दता निरन्तर बढ़ती जाती है। शिशु का आहार दूध होता है। दूध के प्रोटीन के पाचन से उत्पन्न हुए फिनाइल कीटोन रक्त में एकत्र होकर मानसक्षति को बराबर बढ़ाते रहते हैं। प्रायः रोग का निदान शिशु की ३–१२ मास की अवस्था में होता है जब शिशु के मानस-मन्द होने के सन्देह के कारणों की ओर ध्यान आकर्षित होता है।

अल्पग्लूकोजरक्तता भी जीनिक कारकों की अस्त-व्यस्तता से उत्पन्न होती है। रक्त में शर्करा की न्यूनता के कारण मस्तिष्क की कोशिकाओं को अपनी क्रिया के लिये पर्याप्त शर्करा नहीं मिल पाती जिससे उनका ह्रास होता रहता है। रक्त में शर्करा की कमी से शिशु को आक्षेप होने लगते हैं जिनसे चिकित्सक का ध्यान इस रोग की ओर आकर्षित होता है। रक्त परीक्षा पर रोग का निश्चय होता है।

कुछ रोगों में **आक्षेप** (convulsions) होते रहते हैं। अपस्मार, जिसको ऐपीलेप्सी (epilepsy) या मिरगी भी कहते हैं, ऐसा ही रोग है। इसमें रोगी को समय समय पर आक्षेप होते हैं जो मृदु या हलके से अतितीव्र तक हो सकते हैं। मानस-मन्दता और आक्षेप दोनों मस्तिष्क की उस क्षति के लक्षण हैं जो मस्तिष्क के किसी क्षेत्र में स्थित होते हैं और वे ही क्षति या विकृति के कारण प्रकट होते हैं। ये आक्षेप मानस-मन्दता का कारण नहीं होते, किन्तु आक्षेप जितने तीव्र होते हैं उतनी ही मस्तिष्क कोशिकाओं की अधिक क्षति होती है और मानस-मन्दता उतनी ही बढ़ती

है। अपस्माररोधी (antiepileptic) औषधियों के अन्वेषण और निर्माण में विशेष प्रगति के कारण अपस्मार के आक्षेपों का उपचार सरल हो गया है और अधिकतर रोगियों में आक्षेपों को रोका जा सकता है। जिन रोगियों में आक्षेपों का शमन नहीं हो पाता उनमें मानसिक क्षति निरन्तर बढ़ती जाती है।

केन्द्रीय तन्त्रिकातन्त्र के **व्यपजननकारी** (degenerative diseases) रोग भी दैहिक और मानसिक क्षति के कारण होते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं। एक प्रकार में तन्त्रिकातन्तुओं (nerve fibres) के मायलिन पिधान (myelin sheath) नष्ट हो जाते हैं जिससे वे तन्तु आवेगों (impulses) का संवहन करने में असमर्थ होते हैं, अर्थात् उनके द्वारा मस्तिष्क से कोई आदेश या सन्देश अङ्गों को नहीं पहुँच पाता। किस अङ्ग पर या अङ्ग के किस भाग पर क्या प्रभाव होता है, यह परिणाम उन तन्तु समूहों पर निर्भर करता है जिनके मायलिन पिधान नष्ट हुए हैं।

ऐसे रोगों का एक दूसरा समूह है जो **श्वेत अपविकासताएँ** (leucodystrophies) कहलाती हैं। मस्तिष्क के श्वेत पदार्थ (white matter) का व्यपजनन इस रोगसमूह में होने वाली विशेष विकृति है। श्वेतपदार्थ केवल तन्त्रिकातन्तुओं और उनको धारण करने वाले तन्त्रिकावन्ध (neuroglia) ऊतक का बना होता है।

इन रोगों से वहुधा अत्यन्त पंगुता हो जाती है और रोगी दारुण यन्त्रणा का ग्रास होता है। रोग ग्रस्त शिशु की प्रायः कुछ मास में मृत्यु हो जाती है। कुछ कई वर्ष तक लटकते रहते हैं।

मस्तिष्क का घातक अर्बुद **(कैन्सर) मानस-मन्दता उत्पन्न करता** है। उसकी कोशिकायें निरन्तर विभाजन द्वारा संख्या में वृद्धि करती रहती हैं और मस्तिष्क की सामान्य कोशिकाओं को विस्थापित करती जाती हैं और अन्त में उनको नष्ट कर देती हैं। यद्यपि आधुनिक उन्नत साधनों और प्रविधियों (techniques) द्वारा अर्बुद को निकाल देना सर्जन के लिये सम्भव हो गया है, तथापि रोगी के स्थायी रूप से रोगमुक्त रहने में अब भी सन्देह है। अर्बुद की पुनरावृत्ति की सदा सम्भावना रहती है। फिर अर्बुद पहले ही मस्तिष्क की अनेक कोशिकाओं को नष्ट कर देता है। शस्त्रकर्म में और भी कोशिकायें नष्ट होती हैं। इन कोशिकाओं की पुनरुत्पत्ति न होने से मस्तिष्क की भारी क्षति होती है जिसका स्वाभाविक परिणाम मानस-मन्दता होता है।

मस्तिष्क अभिघात (brain injury : trauma)

इसका विचार पहले भी किया जा चुका है। अभिघात का परिणाम उसकी स्थिति पर निर्भर करता है; मस्तिष्क के किस भाग को अभिघात से क्षति पहुँची है तथा क्षति का विस्तार कितना है उसी के अनुसार लक्षण प्रकट होते हैं। कुछ सीमा तक रोगी की आयु का भी उस पर प्रभाव होता है। यदि अभिघात से मस्तिष्क के संचालक क्षेत्र (motor area) की क्षति हुई है तो उस क्षेत्र द्वारा संचालित अङ्ग का अङ्गघात (paralysis) हो जायगा। यदि वह क्षेत्र व्यक्ति के व्यवहार या आचरण (behaviour) का नियन्त्रण करने वाला है तो उसके व्यवहार में अन्तर दिखाई देगा और रोगी का व्यक्तित्व (personality) ही वदल जायगा। यदि अभिघात से उस क्षेत्र की क्षति हुई है जिसमें जीवन केन्द्र (vital centres), हृदय, श्वसन आदि के केन्द्र स्थित हैं जिन पर जीवन आधारित है तो जीवन संकट में पड़ सकता है और परिणाम घातक हो सकता है।

शीर्ष की असंगतियाँ (cranial anomalies)

कपाल की रचना में कितनी ही प्रकार की विरूपतायें पाई जाती हैं जिनमें निम्नलिखित विशेष हैं।

कालपूर्व कपाल सीवनी का अस्थिभवन (craniosynostosis)

इसके नाम ही से इस दशा का रूप स्पष्ट है। जन्म के समय कपाल की अस्थियाँ एक दूसरे से पृथक् रहती हैं। उनके बीच का अन्तर सीवनी (suture) कहा जाता है। कपाल के दोनों पार्श्वों में स्थित पार्श्विकास्थियों के बीच में **अग्रपश्च सीवनी** (sagittal suture) कपाल के सामने से पीछे तक चली जाती है। पार्श्विकास्थियों (parietals) और शंखास्थियों (temporals) के बीच **किरीटी सीवनी** (coronal suture) कपाल के दोनों पार्श्वों में स्थित है। चौथी काकपद या लैंम्वडाइडल सीवनी (lambdoidal), पश्चकपालास्थि (occipital) पीछे की ओर दोनों पार्श्विकास्थियाँ सामने की ओर, के बीच में दक्षिण से वाँई ओर को जा रही है। अन्य कई छोटी सीवनियाँ अन्य अस्थियों के बीच में हैं।

इन सीवनियों अर्थात् अस्थियों के बीच के अन्तर का प्रयोजन यह है कि जब आयु के साथ मस्तिष्क का परिवर्धन हो तो उसको फैलने का स्थान मिल जाय। ज्यों ज्यों मस्तिष्क का आकार बढ़ता है त्यों त्यों उसको

अधिक स्थान की आवश्यकता होती है। यदि अस्थियाँ आपस में जुटी हों तो मस्तिष्क का विस्तार सम्भव नहीं है। इस रोग में यही होता है। कुछ अस्थियों के जुड़ जाने से उनके बीच की सीवनी लुप्त हो जाती है और मस्तिष्क की वृद्धि की दिशा बदल जाती है। ऐसी भी दशा पाई गई है जब सब सीवनियों का अस्थिभवन (ossification) होकर कपाल की सब अस्थियाँ जुड़ गई हैं। ऐसी दशा में मस्तिष्क की वृद्धि नहीं होती, वह अपरिवर्धित रह जाता है।

कपाल के शीर्ष के मध्य में दोनों पार्श्विकास्थियों के बीच, अग्रपश्च सीवनी के अस्थिभवन से **दीर्घशिरस्कता** या डौलिकोकिफैली (dolicocephaly) होती है; मस्तिष्क अग्रपश्च दिशा में वृद्धि करता है जिससे लम्बा सा दिखाई देता है। पार्श्विकास्थियों और शंखास्थियों के बीच की किरीटी सीवन के जुड जाने से मस्तिष्क ऊपर की ओर को बढ़ेगा जिससे **उच्चशिरस्कता** (oxycephaly) होगी। इसको tower head भी कहा जाता है। **लघुशिरस्कता** (brachycephaly) में शिर लघु तथा गोल या चौड़ा होता है। यदि एक ही ओर की सीवनी जुड़ी है तो शिर असममित (asymmetrical) दिखाई देगा, एक पार्श्व में विरूप हो जायगा।

शीर्ष की सब अस्थियों के जुड़ जाने की सम्भावना का पहले उल्लेख किया गया है, यद्यपि यह बहुत कम होता है। आधुनिक शल्य विज्ञान की नवीन प्रविधियों द्वारा इन विकृतियों का सुधार सम्भव हो गया है, किन्तु सर्जन की दक्षता पर फलप्राप्ति निर्भर होती है।

लघुशिरस्कता (microcephaly) एक और भी प्रकार की होती है जिसमें कपाल का नेत्रों से ऊपर का भाग अत्यन्त लघु होता है; अनुपस्थित सा दीखता है। वह अकस्मात् पीछे को सपाट सा हो जाता है। इसका कारण प्रमस्तिष्क के गोलार्धों (cerebral hemispheres) का अपरिवर्धन होता है। इस कारण उनके ऊपर शीर्ष का भाग परिवर्धित नहीं होता। ऐसे मस्तिष्कों का भार बहुत कम होता है, सामान्यतया ६०० ग्राम के लगभग होता है। एक शिशु के मस्तिष्क का भार ३२५ ग्राम पाया गया है, जो छै मास का था। ऐसे मस्तिष्कों में अनुमस्तिष्क (cerebellum) अपेक्षतः आकार में बड़ा पाया जाता है। सारा शीर्ष बहुत छोटा-सा दीखता है। ऐसे अनेक शिशुओं की प्रथम एक या दो वर्षों में मृत्यु हो जाती है। जो जीवित रहते हैं उनके आनन पर मानस-मदन्ता स्पष्ट दीखती है।

इन असंगतियों का कारण जीनों (genes) में स्थित होता है। किसी प्रकार की जीनिक अस्तव्यस्तता इन विकृतियों को उत्पन्न करती है। विद्वान् इन कारणों को खोजने में लगे हैं और उनका पता लगाने की सफलता में पूर्ण विश्वास रखते हैं।

जलशीर्ष (Hydrocephalus)

इस शब्द का अर्थ है शिर में जल। मस्तिष्क तथा सुषुम्नाकांड (brain and spinal cord), मस्तिष्कमेरु तरल (cerebrospinal fluid) नामक तरल से घिरे रहते हैं जो मस्तिष्क तथा सुषुम्नाकांड और उन पर आच्छादित दृढ़ तानिका (dura mater) या ड्यूरामेटर के बीच भरा रहता है और उनको अभिघातों से बचाता है। इस रोग में प्रमस्तिष्क के भीतर पार्श्व निलयों में (lateral ventricles) इसकी अतिमात्रा एकत्र हो जाती है और उपयुक्त चिकित्सा न होने पर निरन्तर बढ़ती रहती है, जिससे पार्श्व निलयों के बाहर का प्रमस्तिष्क का भाग दबता चला जाता है। अतएव उस भाग की कोशिकायें नष्ट होती रहती हैं। जितना तरल का आधिक्य होता है उतना ही प्रमस्तिस्क के भाग का नाश होता है और मानस-मन्दता बढ़ती चली जाती है। शिशु का शिर इतना विस्तृत हो सकता है कि वह उसको उठाने में भी असमर्थ हो और पूर्णतया शैय्याबद्ध हो जाय। अधिकतर शिशुओं की मृत्यु हो जाती है।

इस रोग का विस्तृत वर्णन आगे चलकर किया गया है। इसकी चिकित्सा का केवल एक ही उपाय है—सर्जरी। शस्त्र कर्म द्वारा प्रमस्तिष्क मेरु तरल के परिसंचरण का पुनरुद्धार। दक्ष हाथों में अधिकतर सफल परिणाम होते हैं।

शिक्षा को ग्रहण करने की योग्यता भी मानसमाप का एक मापदंड मानी गई है। बालक का स्कूल में अपनी कक्षा के सहपाठियों के साथ न चल पाना, भिन्न-भिन्न विषयों को समझने और स्मरण करने तथा परीक्षाओं में उत्तम अथवा अपने सहपाठियों के समान फल प्राप्त करने में जो बालक असमर्थ होते हैं उनको मानस-मन्द माना जाता है। यह भी मानस-मन्दता की एक जाँच है।

इंद्रियहीनता—कुछ शारीरिक त्रुटियाँ या दोष ऐसे होते हैं जो विद्या ग्रहण करने तथा उत्तम फल प्राप्त करने में बाधक होते हैं। अन्धता, बधिरता, वाणी के दोष (defects of speech) जैसे बोलने में हकलाना (stammering), जिसके कारण बालक अपने भावों को प्रकट करने में असमर्थ होता है, ऐसी त्रुटियाँ बालक को शिक्षा का पूरा लाभ उठाने में विशेष बाधा उत्पन्न करती हैं। अन्धता के कारण बालक पुस्तक का पाठ ही

नहीं कर सकता। वधिरता इतना बड़ा दोष है कि वह वालक को शब्दों का उच्चारण तक नहीं सीखने देती। फलतः उसको शब्द ज्ञान नहीं हो पाता। जो कुछ वालक सुनता है उसी को उसी प्रकार वोलने का प्रयत्न करता है जैसा उसने सुना है। नेत्रों और कानों द्वारा जो उद्वेग (impulses) उसके मस्तिष्क केन्द्रों में पहुँचते हैं वे ही वहाँ की कोशिकाओं को उद्दीपन (stimulation) प्रदान करते हैं और वे ही भावों के रूप में वहाँ एकत्र रहते हैं। इन्हीं भावों के उचित समय पर उपयोग करने का नाम शिक्षा अथवा पांडित्य (learning) है। जव भौतिक वाधाओं के कारण ज्ञानेन्द्रियों द्वारा आवेग मस्तिष्क केन्द्रों तक पहुँच ही नहीं पायेंगे तो भावों की उत्पत्ति ही नहीं होगी। यही वालक के शिक्षा-ग्रहण की असमर्थता का कारण होता है।

किन्तु ऐसे वालकों या व्यक्तियों को मानस-मन्द नहीं कहा जा सकता। उनके मस्तिष्क में कोई त्रुटि नहीं है, न मनस् (intellect) में कोई दोष है। दोष है उन अंगों में, इन्द्रियों में, जिनका काम मस्तिष्क केन्द्रों को शिक्षित करना है, आवेगों को उन केन्द्रों तक पहुँचाना है। यदि किन्हीं विशेष साधनों द्वारा आवेगों को मस्तिष्क केन्द्रों तक पहुँचाया जा सके तो वे दृष्टि या श्रवण-हीन व्यक्ति भी वैसे ही शिक्षा ग्रहण करने में समर्थ पाये जायेंगे जैसे उनके सर्वांगसम्पन्न सहपाठी हैं। ब्रेल पद्धति (Brail system) शिक्षा का ऐसा ही साधन है जिसके द्वारा नेत्रहीनों के मस्तिष्क केन्द्रों को आवेग पहुँचते हैं। अनेक नेत्रहीन उसकी सहायता से उच्च शिक्षा प्राप्त करने में सफल होते हैं और डिगरियाँ प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार वाणी या भाषण के दोषों को दूर करने के भी साधन मालूम किये हैं जिनसे दोषयुक्तों की असुविधायें भी दूर होती हैं।

परिस्थिति, वातावरण (Environment)

गत पृष्ठों में मानस-मन्दता के जिन कारणों का विचार किया गया है वे सव शरीर से संवंध रखने वाले हैं। कुछ में शारीरक त्रुटियाँ, असंगतियाँ, अभिघात कारण हैं; अन्य में रोग, दुर्घटना, विषाक्तता आदि मन्दता के हेतु हैं, चाहे वे माता के शरीर से अथवा शिशु के शरीर से सम्वन्धित हों, तथा माता-पिता दोनों के शरीर से उत्पन्न होने वाले हों, किन्तु वे सव शरीर संभूत ही हैं। अमरीकी संघ (A. A. M. D.) ने इन कारणों से ग्रस्त मानस-मन्दों को रोगसंवंधी (medical) वर्ग में रखा है। उन्होंने दूसरा वर्ग **आचरण** या **व्यवहार संवंधी** (behavioural) माना है जिनमें केवल व्यवहार प्रदर्शित मन्दता पाई जाती है। उनमें शारीरिक्त दोष नहीं पाया जाता। शरीर से वे सम्पूर्ण होते हैं। शारीरिक क्रियायें भी सामान्य होती हैं। केवल उनके व्यवहार में त्रुटि होती है।

ऐसे मानस-मन्द भी दो प्रकार के होते हैं; एक में अन्वेषण करने पर उनकी परिस्थिति, अथवा जिस वातावरण में उनका पालन-पोषण हुआ है वह दूषित पाया जाता है। दूसरे प्रकार में वातावरण का दोष भी नहीं पाया जाता। इनको **अज्ञानहेतुक** (idiopathic) कहते हैं।

पहले प्रकार के व्यक्तियों में मन्दता का कारण उसके पारिवारिक वातारण में ही स्थित होता है, यह भली भाँति सिद्ध हो चुका है। पारिवारिक कलह, माता-पिता की निरन्तर अनवन, लड़ाई-झगड़े, परिवारवालों के अन्य संबंधियों से अथवा पड़ोसियों से कलह, मदात्यय (alcoholism), सामाजिक दुराचरण— इन सवका शिशु के मानसिक विकास पर बुरा प्रभाव होता है, 'नहिं विषवेल अमिय फल फरहीं'। सो शिशु का परिवार का अनुसरण करना स्वाभाविक ही है। माता-पिता के प्रेम का अभाव, हीनता का भाव, परिवार की उदासीनता (शिशु के प्रति), शिशु का भाव कि उसको कोई नहीं चाहता, इन सब दशाओं का शिशु पर अत्यन्त हानिकारक प्रभाव होता है। यह प्रमाणित हो चुका है कि नवजात शिशु भी प्रेम, स्नेह से प्रभावित होता है। माता का चुम्वन और आलिंगन शिशु की शारीरिक तथा मानसिक वृद्धि दोनों के लिये वहुत आवश्यक है, अनिवार्य है। प्रथम मास के अन्त तक शिशु माता या अभिभावकों के प्रेम का अनुभव करने लगता है। उसके अभाव में उसकी सब प्रकार की वृद्धि ही वन्द हो जाती है। ऐसा वालक, यदि जीवित रहा, तो उसके मानस-मन्द होने की वहुत संभावना है।

पश्चिमी देशों में मदात्यय और विवाहविच्छेद (divorce) वहुत पाये जाते हैं। ऐसे परिवारों में सभी प्रकार के दोष आ जाते हैं और उनके वच्चे भी दोषों से रहित नहीं होते। शिक्षा का प्रायः परिवार में अभाव होता है। ऐसी दशा में उनके वालकों का विद्याप्रेमी होने की आशा नहीं की जा सकती।

मनुष्य आनुवंशिकता (heredity) **और वातावरण** (environment) का फल कहा जाता है। उसकी प्रकृति तथा उसके व्यक्तित्व के ये ही दो कारण होते हैं। यद्यपि उनका बीज आनुवंशिक होता है, जो वैज्ञानिक भाषा में जीनिक कारक (genic factor) कहा गया है, किन्तु उनका विकास वातावरण द्वारा नियंत्रित होता है। यह वातावरण पर ही निर्भर करता है कि वालक में कौन से गुणों का उपयुक्त विकास और किसका लोप या दमन हो जायगा, अप्रदर्शित रह जायगा। इसी कारण अधिकतर विद्वान् वातावरण कारक (environment factor) को अधिक महत्व देते हैं।

वे मानते है कि मनुष्य के शारीरिक विकास के प्रधान हेतु जीनिक कारक होते है, तो भी उपयुक्त वातावरण न मिलने से सन्तोषजनक विकास नहीं हो सकता। यदि व्यक्ति को उत्तम पौष्टिक आहार न प्राप्त होगा, अन्य जीवन सुविधायें न होंगी, तो उसकी शारीरिक उन्नति में बाधा होगी। इसके विरुद्ध मानसिक विकास प्रधानतः वातावरण पर निर्भर करता है। यद्यपि जीनिक कारक उसका भी मूल हेतु है, वह वातावरण से भी बदला नहीं जा सकता किन्तु उसका विकास अथवा प्रदर्शन (manifestation) वातावरण के अनुसार होगा, 'साधु असाधु सदन सुक सारी। सुमरहिं राम देहि गन गारी।' अतएव वे व्यवहारात्मक मानस-मन्दता का प्रधान हेतु वातावरण को मानते हैं। उनका मत है कि वातावरण शारीरिक विकास को भी प्रभावित करता है, यद्यपि इतना नहीं जितना मानसिक विकास को जो व्यवहारात्मक मानसिक मन्दता की जननी है।

तो भी यह नहीं भूलना चाहिये कि हेत्वात्मक मन्दता का प्रदर्शन व्यवहारात्मक मन्दता ही के द्वारा होता है। बालक या व्यक्ति अपने व्यवहार द्वारा ही मन्दता प्रदर्शित करता है। उसके व्यवहार की असामान्यता ही से उसकी ओर निरीक्षक, माता-पिता या अभिभावकों का ध्यान आकर्षित होता है और मानस-मन्दों के पुनःस्थापन (rehabilitation) के लिये उनके व्यवहार ही को सुधारने के लिये आयोजन करने होते हैं।

इन सब कारणों से विद्वान् इस पर सहमत हैं कि मानस-मन्दता का हेतु जीनिक और वातावरणीय, दोनों प्रकार के, कारक में मानस-मन्दता का उदय निहित है।

वातावरणीय कारक अनेक और विविध प्रकार के हो सकते हैं। वे रासायनिक, जीवाणवीय, आहार या पोषण-संबन्धी, विकिरणात्मक या दुर्घटनाजन्य हो सकते हैं जिनका गत पृष्ठों में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है, अथवा मानसिक, सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक हो सकते हैं। इस सब का ज्ञान रोगनिश्चिति (diagnosis) तथा पुनःस्थापन की आवश्यक क्रियाओं की आयोजना करने के लिये आवश्यक है। अनेक बार मन्दता की उत्पत्ति में उत्पत्ति काल, बालक की आयु, कारण तथा उसकी अवधि (जितने समय तक होता रहा), बालक की मानसिक दशा पर उसका प्रभाव तथा उसके प्रति बालक की मानसिक प्रतिक्रिया, इन सब बातों का विचार भी आवश्यक होता है।

चौथा परिच्छेद

कुछ संलक्षण

(Syndromes)

गत तीन परिच्छेदों में मानस-मन्दों का जो वर्णन किया गया है अथवा उनके सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उससे उनके लक्षण बहुत कुछ स्पष्ट हो गये होंगे। पाठकों के नेत्रों के सामने उनका कल्पित चित्र दीखने लगा होगा।

इस परिच्छेद में कुछ ऐसे संलक्षणों का वर्णन है जो मानस-मन्दता को उत्पन्न करने वाले कारकों (factors) के उदाहरण रूप हैं। संलक्षण उन लक्षणों के पुंज (group) को कहा जाता है जो यद्यपि एक ही कारण से उत्पन्न होते हैं, किन्तु उनमें आपस में कोई समानता नहीं होती। जैसे फ्रोलिख संलक्षण (Frohlich's syndrome) में जनेन्द्रियों का परिवर्धन (development) नहीं होता, वे बालिश रह जाती हैं। साथ में, विशेषकर शरीर के निम्न भाग जैसे नितम्ब, उरु आदि पर वसा (fat) एकत्र होने से स्थूलता आ जाती है और बुद्धिहीनता होती है। व्यक्ति देखने ही से मूढ़ दिखाई देता है। फैनिलकीटोनमेह (phenylketonuria) नामक संलक्षण में फेनिलएलेनीन नामक एमीनोअम्ल (phenylalanine amino acid) का पूर्ण चयापचय (metabolism) न होने से वह रक्त में एकत्र होकर मूत्र द्वारा स्वयं या किसी चयापचयज (metabolite) के रूप में निकलने लगता है और साथ ही मानस-मन्दता (mental retardation) हो जाती है, यद्यपि देखने में दोनों दशाओं में कोई सम्बन्ध नहीं मालूम होता। ऐसी दशा को संलक्षण कहते हैं।

यह कहना कठिन है कि जो शारीरिक विकृति (pathology) पाई जाती है वही मानस-मन्दता का कारण होती है। कुछ दशाओं में हो सकती है, किन्तु सब ही में ऐसा है, इसका कोई प्रमाण नहीं है।

जननिक संलक्षण (Genetic syndromes)

फेनिल कीटोनमेह (Pheylketonuria)

फेनिलकीटोनमेह एक जन्मजात विकार है जिसमें एक एन्जाइम (enzyme) की अनुपस्थिति के कारण फेनिलएलेनीन नामक अमीनोअम्ल

का पूर्ण चयापचय करने में शरीर असमर्थ होता है। वह फेनिलएलेनीन को उसके अंतिम रूप में विभंजित नहीं कर पाता। इस कारण फिनाइलएलेनीन ही अथवा उसके अपूर्णतया विभंजित घटक रक्त में एकत्र हो जाते हैं और मूत्र द्वारा निकलते रहते हैं। ये पदार्थ शरीर के लिये विषैले होते हैं और शारीरिक हानि के कारण होते हैं। इस अमीनो-अम्ल का पूर्ण उपयोग करने की शरीर की असमर्थता का कारण एक एन्जाइम का अभाव होता है। इसके न होने के कारण फेनिलएलेनीन का पूर्ण विभंजन नहीं हो पाता और इस कारण शरीर उसके उपयोग से लाभ नहीं उठा सकता। यह प्रोटीन मस्तिष्क के लिये अत्यन्त आवश्यक होता है।

हेतुकी (etiology)—इस विकार के हेतु, एन्जाइम की अनुत्पत्ति का कारण दैहिक क्रोमोसोम (somatic chromosome) में उपस्थित एक अप्रभावी जीन (recessive gene) को माना जाता है (देखो दूसरा परिच्छेद)। अतएव विकार का कारण जननिक है।

आघटन (incidence)—१५००—२००० शिशुओं में एक इस दशा से ग्रस्त होता है।

विकृति (pathology)—उपर्युक्त एंजाइम तथा अन्य एंजाइम भी यकृत में बनते हैं। इस एंजाइम के न बनने से, संभव है उसके साथ अन्य कुछ एंजाइम न बनते हों या क्रिया न करते हों। फेनिल एलेनीन नामक अमीनो अम्ल अपने अंतिम घटकों टायरोसीन (tyrosine) और फ़िनाइल एलेमीन (phenylalamine) में चयापचय द्वारा विभंजित नहीं होता। कारण अपूर्णतया विभंजित चयापचयज फ़िनायल पायरुविक अम्ल, और फ़िनायल लैक्टिक अम्ल (phenylpyruvic phenyl lactic acids) रक्त में एकत्र हो जाते है और मूत्र में निकलते रहते हैं।

लक्षण (symptoms)—शिशु जन्म के समय स्वस्थ होता है। प्रायः उसका गौर या हलका वर्ण होता है। शिर के वाल भी हलके रंग के होते है। किन्तु लक्षण शीघ्र ही प्रकट हो जाते हैं। फैनिल एलेनीन और उसके अन्य रूप रक्त और मूत्र में मिलने लगते हैं। शारीरिक वृद्धि रुक जाती है। शिशु की लम्बाई और शरीर भार आयु की अपेक्षा सदा कम होते है। बहुत से शिशुओं, प्रायः २५ प्रतिशत, को वाँयठे (convulsions) आते हैं। वालक का क्रियात्मक विकास भी मन्द हो जाता है, विलम्ब से होता है। उसको जो क्रियायें छह मास पर या एक वर्ष पर करनी चहिये थी, जैसे शिर को उठाना, बैठना, कुछ शब्द माँ आदि बोलना, उनको दो या तीन वर्ष पर करता है।

बालक में व्यवहारात्मक दोष बहुधा प्रकट हो जाते हैं : वस्तुओं को तोड़ना, क्रोध, लड़ना, चिड़चिड़ापन ऐसे बालकों में मानस-मन्दता इसी रूप में उपस्थित होती है। ये सब उसी के चिह्न हैं और वे निरन्तर बढ़ते ही जाते हैं।

निदान (Diagnosis)—केवल मूत्र और रक्त परीक्षा द्वारा सम्भव है। किन्तु चिकित्सक का ध्यान उसकी ओर आकर्षित होना चाहिये। बहुधा जन्म के समय कोई लक्षण या चिह्न न होने से चिकित्सक या प्रसव करानेवाले व्यक्ति को यह विचार भी नहीं आता कि शिशु विकारग्रस्त हो सकता है। प्रथम सप्ताह में मूत्र और रक्तपरीक्षा से कुछ मालूम भी नहीं पड़ेगा। जब शिशु कुछ दिन तक दूध पी लेगा तब उसके रक्त में फैनिल-एलेनीन एकत्र होगा और मूत्र में पाया जायगा। फैनिलएलेनीन एक अत्यावश्यक प्रोटीन है। प्रोटीन का अत्यावश्यक घटक है। इस कारण वह दूध में भी होता है और जब शिशु कुछ समय तक दूध पी लेता है तब मूत्र द्वारा निकलता है। इसके विरुद्ध यह भी सम्भव है कि ४ सप्ताह के पश्चात् एन्जाइम का प्रभाव दूर हो जाय और मूत्रपरीक्षा से कोई विकृति न पाई जाय। ऐसी दशा में कुछ भी चिकित्सा न करनी होगी।

निदान के विशेष साधन मूत्र परीक्षा और रक्त परीक्षा हैं।

मूत्र परीक्षा—५ से १० मिलीलिटर (सी सी) मूत्र में ५% फैरिक क्लोराइड के ५% विलयन (solution) की कुछ बूंदे मिलाने से मूत्र का रंग हरा हो जाता है जो कुछ समय में जाता रहता है।

रक्तपरीक्षा—इस परीक्षण को डाक्टर राबर्ट गुथरी ने सन् १९६१ में रचा था और उन्हीं के नाम से गुथरी जांच कहा जाता है। एक एगर-एगर प्लेट (agar-agar-plate) पर सालिटिलिस दंडाणु (Bacillus salitilis) को उगाया जाता है (growth) जो उसका संवर्धन (culture) कहा जाता है। इस में एक ऐसा रासायनिक पदार्थ मिला दिया जाता है जो दंडाणु की वृद्धि नहीं करने देता। ऐसी वस्तु रासायनिक भाषा में संदमक (inhibitor) कहलाती है। यदि इसी एगर-एगर प्लेट में फैनिलकीटोन-मेह ग्रस्त शिशु के रक्त की दो चार बूंदों से भींगे ब्लाटिंग पेपर के टुकड़े को रख दिया जाय और फिर प्लेट को दंडाणु की वृद्धि के लिये इन्क्यूबेटर (incubator) में रखा जाय तो दंडाणु की वृद्धि होगी। फैनिलएलेनीन के कारण संदमक का प्रभाव न होने पाएगा। अतएव यदि वृद्धि होती है तो शिशु या बालक रोग ग्रस्त है। वृद्धि न होने पर बालक रोगमुक्त या स्वस्थ समझा जायगा।

मूत्र का भी यही परीक्षण किया जा सकता है।

चिकित्सा—रोग के निषेध (prevention) तथा चिकित्सा के लिये यथासंभव शीघ्र निदान आवश्यक है। जितना शीघ्र निदान हो जायगा उतना ही शीघ्र रोग और मानसमन्दता रोकी जा सकती है। इस कारण शिशु के जन्म के प्रथम सप्ताह में ही मूत्र की परीक्षा करनी चाहिये और ४–६ सप्ताह के पश्चात् पुनः परीक्षा उचित है। इस प्रकार परीक्षा दो तीन वार दोहरानी चाहिये।

चिकित्सा का आधार दूध तथा अन्य प्रोटीन युक्त आहार को रोक देना है। ऐसे विशेषतया बने आहार बाजार में मिलते हैं जिनमें फेनिलएलेनीन की मात्रा को इतना घटा दिया जाता है कि उससे शिशु को कोई हानि नहीं पहुँचती। चिकित्सक को यह भली भाँति निश्चय कर लेना चाहिये कि शिशु को उसकी वृद्धि के लिये आवश्यक आहार प्राप्त हो। ऐसा करने पर शिशु की मानसहानि नहीं बढ़ने पाती। और इसके प्रमाण मिलते हैं कि उनकी मानसिक दशा में सुधार होता है।

अधिक आयु वाले बालकों में, रोग का निदान देर से होने पर, चिकित्सा का क्रम यही रहता है, अर्थात् आहार की रोकथाम उपर्युक्त प्रकार की ही होती है। संभव है उनमें अन्य उपद्रव प्रकट हो गये हों, वांयठे या आक्षेपक (convulsions) आते हों, मानसिक विकार या हानि भी प्रारम्भ हो गई हो, तो लक्षणानुसार औषधियों द्वारा चिकित्सा करनी होगी।

यदि मस्तिष्क को अधिक हानि पहुँच चुकी है तो वह नहीं सुधर सकती। बालक के लिये मानसमन्दों ही के समान सब योजनाएँ करनी होंगी। उनकी शिक्षा तथा प्रशिक्षण के लिये विशेष प्रबन्ध करने होंगे।

इस रोग को साधारणतया बोलचाल में केवल PKU कहा जाता है।

फ़िनाइलएलेनीन तथा उसके चयोचयपनों को रक्त या मूत्र में अधिकता सदा मानसमन्दता का द्योतक नहीं होती। कितने ही सामान्य व्यक्तियों में फ़िनाइलएलेनीन तथा टायनोर्सी की अधिक मात्रायें पाई गई हैं; किन्तु उनमें मानस मंदता का अन्य कोई लक्षण नहीं था। यह भी पाया गया है कि विटामिन सी की अधिक मात्राओं के प्रयोग से फ़िनाइलएलेनीन तथा टायरोसीन की रक्त या मूत्र में उपस्थित मात्रायें विशेषतया घट जाती है।

इस कारण चिकित्सक का उत्तरदायित्व और भी बढ़ जाता है।

अन्य अमीनो-अम्ल विकार (Amino acid disorders)

ऐसे ही कितने अन्य अमीनो-अम्ल सम्बन्धी विकारों का समय-समय पर विद्वानों तथा अन्वेषकों ने वर्णन किया है। प्रायः प्रत्येक अमीनो-अम्ल-वेलेरीन (valerine), ल्यूसीन (leucine), आइसो-ल्यूसीन (iso-leucine) के अप्रभावी जीन द्वारा संवाहित विकारों का उल्लेख पाया जाता है। इन सब विकारों में ये अमीनो-अम्ल तथा उनके चयापचयज पदार्थ रक्त में एकत्र हो जाते हैं और मूत्र द्वारा शरीर का त्याग करते हैं। वृक्क इन सब को शरीर से निकाल सकने में समर्थ नहीं होते। इस कारण वे रक्त में एकत्र होकर शरीर को हानि पहुँचाते हैं। मानसमन्दता सबों में पाई जाती है। और वे अप्रभावी जीन द्वारा ही संचरित (transmitted) होते हैं। ग्लायसिन मेह (glycenuria), अतिग्लाइसिनरक्तता (hyperglycenaemia), आइसोवेलेरिक अम्लरक्तता . isovaleric acidaemia), मेपिल सीरप रोग (maplesyrup disease) ये सब ऐसे ही चयापचय सम्बन्धी दशायें हैं जिनका कारण जीन की त्रुटि से उत्पन्न एंजाइम का अभाव माना जाता है। इन सबों ही में मानसमन्दता पाई जाती है। सौभाग्य से ये दशाएँ बहुत ही असाधारण हैं।

संयोजी ऊतक संबधी विकार

(Connective Tissue Disorders)

शरीर में संयोजी तन्तु का काम जोड़ने, बांधने, धारण करने अथवा दो संरचाओं को पास-पास मिलाये रखना, अर्थात् अपनी स्थिति में रखना है। इस का कार्य उसके नाम ही से विदित है। इसमें कोशिकायें (cells) तथा तन्तु (fibres) होते है जो एक रचनाहीन (structureless) असंगठित (unorganised) भौमिक पदार्थ में दूर-दूर पर बिखरे रहते हैं। यह भौमिक पदार्थ जिसमें कोशिका और तन्तु आश्रित रहते हैं, **आधात्री** (matrix) कहा जाता है। स्नायु (ligaments), कण्डराएँ (tendons) उपास्थि (cartilage) आदि संयोजी ऊतक के उदाहरण हैं।

रासायनिक विश्लेषण करने पर एसिडम्यूकोपोलीसैकेराइड (acid mucopolysaccharide) नामक रासायनिक योग सब ही प्रकार के संयोजक ऊतकों में पाये जाते हैं। यह रासायनिक योगों का एक समूह है जिसमें अनेक योग, आपस में निकट सम्बन्धित, सम्मिलित हैं। संक्षेप में इनको AMPS समूह कहा जाता है। इन AMPS योगों का संगठन इस प्रकार का है कि कोर (मध्यकेन्द्र) में प्रोटीन का एक अंश स्थित होता है

उस पर कई कारवोहाइड्रेट के अंश जुड़े रहते हैं। कोंड्रोटिन सल्फेट–ए (chondrotin sulphate–A) कोंड्रोटिन सल्फेट–बी (chondrotin sulphate–B), कोंड्रोटिन सल्फेट–सी (chondrotin sulphate–C) किरेटोसल्फेट (keratosulphate) तथा हिपार्टिन सल्फेट (hepartin sulphate) AMPS के उदाहरण हैं। स्नायु, कंडरा, उपास्थि के अतिरिक्त अस्थि, रक्त, कलायें (membranes) प्रावरणिकाएँ (fascia) आदि भी जो संयोजी ऊतक है उन सबों में ये रासायनिक योग उपस्थित मिलते हैं।

जो भी विकार या रोग उपर्युक्त शीर्षक के अन्तर्गत वर्गीकृत किये गये हैं, उन सबों की विशेषता यह है कि संयोजी ऊतकों में इनमें से एक या अधिक योगों की घटावढ़ी हो जाती है। स्वस्थ ऊतक में उनका जितना परिमाण होता है उससे वे कम हो जाते हैं अथवा अधिक राशि में एकत्र हो जाते हैं जिससे उनके रासायनिक संघटन के विगड़ जाने से शारीरिक परिवर्धन विकृत हो जाता है, शरीर के किसी एक भाग या अधिक भागों में कुरूपता आ जाती है और अंग की क्रिया में वाधा पड़ती है। इस प्रकार के सब विकारों में मानसमन्दता होती है जो उनकी विशेषता है। ये सब अप्रभावी अलैंगिक (ऑटोसोमल) जीन द्वारा संचरित माने जाते हैं।

हर्लर का संलक्षण
(Hurler's Syndrome)

इस विकार को हन्टर का रोग, हर्लर का रोग तथा हर्लर–फौन्डलर संलक्षण (Hunter's Disease, Hurler's Disease, Hurler–Pfaundler syndrome) भी कहा जाता है।

यह संलक्षण चार प्रकार का होता है:—Type i. Type ii. Type iii और Type iv। कौन AMPS या उनका कौन-सा समूह विकार उत्पन्न कर रहा है उसी के अनुसार समूहों को माना गया है। Type i का संलक्षण अधिक पाया जाता है।

यह भी चयापचय से उत्पन्न हुई दशा है जिसमें दो AMPS प्रभावित होते हैं : कोन्ड्रोटिन सल्फेट–B और हेपारिटिन सल्फेट। इन दोनों का अपूर्ण चयापचय होने से ये रक्त में एकत्र होकर मूत्र द्वारा निकलने लगते हैं। PKU के समान यह दशा भी अप्रभावी जीन द्वारा संचरित है।

ऐसे विकारग्रस्त व्यक्ति के शरीर की लम्वाई नहीं वढ़ती। वह वामन आकार का होता है; अस्थि विरूपतायें (bony deformities) प्रायः

उपस्थित होती है। कर्निया पर फुल्ली (corneal opacities) बहुधा पाई जाती है। मानसमन्दता अधिक होती है और निरन्तर बढ़ती जाती है। यद्यपि यह रोग सन् १९०० और १९०७ में दो विद्वानों द्वारा पहिचान लिया गया था, किन्तु १९१८ में डाक्टर गर्ट्रंड हर्लर (Gertrude Hurler) ने इसके दो रोगियों का वर्णन प्रकाशित किया था। तब से उसी के नाम पर इस रोग का नाम रख दिया गया है।

हेतुकी (etiology)—जैसा ऊपर कहा गया है अलिंगी अथवा आँटोसोमल (autosomal) अप्रभावी जीन इस दशा का कारण होता है। किन्तु जीन के कारण वास्तव में शरीर में क्या परिवर्तन होता है जिसका फल उपयुक्त दो AMPS का अपूर्ण चयापचय होता है, इसका अभी तक पता नहीं लगा है। PKU में जैसे एंजाइम न उत्पन्न होने से फेनिलएलेनीन का चयापचय अधूरा रह जाता है वैसा कोई परिवर्तन इस दशा में अभी तक नहीं पाया गया है।

लक्षण और चिह्न
(Symptoms and signs)

शिशु जन्म के समय स्वस्थ दीखता है, उसमें कोई विकार नहीं दिखाई देता। किन्तु रोग के चिह्न शैशव या बाल्यकाल में ही प्रकट होने लगते हैं। प्रथम परिवर्तन अस्थियों ही में होते हैं। नासिकास्राव (rhinitis) के साथ कटि प्रान्त में अथवा वक्ष में एक कड़ी गाँठ बन जाना प्रथम चिह्न प्रतीत होता है। उसके पश्चात् सब ही अस्थियों में विकार उत्पन्न होने लगते हैं जिससे अस्थियाँ मोटी और भारी हो जाती हैं, उनका आकार कुरूप होने लगता है। आनन का रूप भद्दा हो जाता है। अस्थियों के एपीफ़िसेस (epiphyses) जहाँ से अस्थि वृद्धि होती है, आक्रान्त होने से अस्थियों की वृद्धि बन्द हो जाती है। हाथों की अँगुलियाँ छोटी-छोटी रह जाती हैं और हाथ चौड़े दिखाई देते हैं तथा हाथ की सन्धियाँ भी स्नायुओं के विकार-ग्रस्त हो जाने से कड़ी हो जाती है। इस कारण सारा हाथ पक्षी के पजे के समान दीखता है जिसको नखहस्त (clawhand) कहा जाता है।

पर्शुकाएं (ribs), विशेषतया वक्ष के निम्न भाग की, भी आक्रान्त होने से नहीं बचतीं। वे चौड़ी और बाहर को फैली सी हो जाती हैं जिससे सारा वक्ष कुरूप दीखता है। सब ही अथवा बहुत सी सन्धियों के चारों ओर के स्नायु और कंडराओं में भी ऐसे ही परिवर्तन होने से सन्धियों की गति परिमित हो जाती है और अवकुंचन (contractures) बन जाते हैं। इस

प्रकार स्कंध, कूर्पर (elbow), मणिवन्ध (wrist), नितम्ब (hip), जानु (knee), गुल्फ (ankle) आदि सब ही संधियों पर अवकुंचन (contracture) वन सकते हैं जिससे रोगी को अंगों का उपयोग करना कठिन होता है। चलने या वाहुओं को उठाने में कष्ट होता है, इस कारण सब प्रकार की गतियाँ परिमित हो जाती हैं।

माथा या ललाट वहुधा अधिक चौड़ा होता है जिससे आनन की चौड़ाई भी वढ़ जाती है। इससे नासारन्ध्र (नथुने) चौड़े हो जाते हैं। इस कारण नासारन्ध्रों की श्लेष्मिक कला (mucous membrane) में सदा शोथ वना रहता है (rhinitis) और नासिका से स्राव निकलता रहता है, नाक वहती रहती है। नासा से शोथ ऊर्ध्वश्वसनमार्गों (upper respiratory passages) में तथा मुख में वहुधा विस्तार कर जाता है। इससे गले में शोथ, खाँसी, ग्रसनिका, टौंसिल तथा स्वरयन्त्र तक आक्रान्त हो सकते हैं। ग्रस्त वालक का मुँह खुला हुआ, होठ मोटे तथा जिह्वा उसमें से लटकती दिखाई देती है। मानसमन्दता के चिह्न आनन पर ही स्पष्ट होते हैं। वालक अपनी परिस्थिति से पूर्णतः अनभिज्ञ, उसके चारों ओर क्या हो रहा है उसकी जैसे उसे कुछ सुध ही न हो, ऐसा दीखता है। प्रायः वधिरता होती है। नेत्र की कार्निया पर फुल्ली होना या कार्निया का धुँधलापन (haziness) असाधारण नहीं है। हृदय, यकृत, प्लीहा विवर्धित (enlarged) होते हैं। हृद धमनियों (coronary arteries) में अन्तर्रोध (occulsion) हो सकता है। मानसमन्दता निरन्तर वढ़ती चली जाती है। प्रायः १० वर्ष के वय तक पहुँचने से पूर्व ही वालक की मृत्यु हो जाती है।

निदान में कठिनाई नहीं होती। रोगी को देखने पर चिकित्सक को रोगी की वास्तविक दशा का सन्देह हो जाता है। फिर मूत्र और रक्त की परीक्षा से रोग का निश्चय हो जाता है। AMPS की प्रचुर मात्रा रक्त और मूत्र में उपस्थित मिलती है।

प्राग्ज्ञान (Prognosis)—रोग घातक है, उसका अन्त सदा मृत्यु होती है। अभी तक सफल चिकित्सा के किसी साधन का आविष्कार नहीं हुआ है। रोग को रोकने का भी कोई उपाय नहीं मालूम हो सका है।

चिकित्सा—तो भी रोगी की चिकित्सा करनी ही होती है। अन्तिम परिणाम जानते हुए भी, रोगग्रस्त वालक को जितना भी विश्राम दिया जा सके, जितना भी उसको कष्टमुक्त रखा जा सके उसके लिये भरसक प्रयत्न

करना चिकित्सक का कर्तव्य है। चिकित्सा लक्षणानुसार करनी होती है। रोगी को जो पीड़ा हो उसका शमन ही चिकित्सा का उद्देश्य है। साथ ही उपद्रव न उत्पन्न होने पावें इसका पूर्ण उद्योग करना उचित है। त्वचा की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है, जिसमें शैया व्रण (bed sores) न बनने पावें। मुख सदा खुला रहता है। इससे वह शुष्क हो जाता है। साथ ही खुले मुख द्वारा संक्रमण (infection) पहुँचने का भय रहता है। इससे बालक को बार-बार कुछ पीने को देना होता है। साथ ही उसके होठों पर कुछ स्नेहक (emollients) बोरिक-ग्लिसरिन आदि का लेप करना लाभदायक होता है। बालक को कोई म्युनिसंक्रामकयुक्त चूषिकायें चूसने को दी जा सकती हैं।

बालक को उपयुक्त और पर्याप्त पोषण मिलना चाहिये। उसके आहार का पहिले ही निश्चय कर लेना चाहिये, किस समय कौन-कौन पदार्थ दिया जायगा। बालक की रुचि का उचित ध्यान रखना योग्य है जो उसको विशेष रुचिकर हों वे उसको दिये जायँ, किन्तु वे हानिकर न हों। उसकी जिह्वा के मुख की अपेक्षा बड़े होने के कारण उसको खिलाने में कुछ कठिनाई हो सकती है। किन्तु धैर्य के साथ बाधाओं को दूर करना होगा।

बालक के मनोभावों को भी न भूलना चाहिये। ज्यों-ज्यों उसका दृष्टि-दोष और बधिरता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों नैराश्य और क्लेश उसकी उद्विग्नता बढ़ाते जाते हैं। ऐसी दशा में उसको और अधिक प्रेम, सहानुभूति, आत्मीयता के अनुभव की आवश्यकता होती है। चिकित्सक को बालक के माता-पिता, अभिभावकों तथा जो भी बालक की देखभाल कर रहे हों, उनको यह सब भलीभाँति बता देना चाहिये। वे भी बालक के दुख से दुखी और भविष्य के ज्ञान से निराश होंगे। तो भी बालक को आश्वासन देना, उसको शांत करना, न केवल प्रेम करना, किन्तु बालक को प्रेम प्रदर्शित करना, जिससे वह उसको अनुभव करे, प्रत्येक प्रकार से उसको मानसिक तथा शारीरिक सुख पहुँचाना उन सबों का कर्तव्य है, जब तक बालक जीवनलीला समाप्त नहीं करता।

मातापिता को भविष्य के लिये, भावी सन्तानों के सम्बन्ध में भी परामर्श की आवश्यकता होगी। यह भी चिकित्सक का कर्तव्य है।

सानफिलिपो संलक्षण
(Sanfilippo Syndrome)

यह भी संयोगी ऊतक का विकार है जिसका कारण AMPS के चयापचय की अपूर्णता है। इसमें हेपारिटिन सल्फेट (Heparitin Sulphate)

नामक AMPS रक्त में अत्यधिक मात्रा में एकत्र हो जाता है और मूत्र द्वारा निकलता रहता है। इसके साथ ही मानसमन्दता होती है जो निरन्तर बढ़ती जाती है। शारीरिक परिवर्तन उतने तीव्र नहीं होते जैसे हर्लर संलक्षण में होते हैं।

सन् १९६३ में डाक्टर सैनफ़िलिपो ने इस दशा का वर्णन किया था। उस ही नाम पर इसका नामकरण कर दिया गया था।

हेतुकी—हर्लर संलक्षण के समान आटोसोमल अप्रभावी जीव द्वारा इस की संगति में संचरण होता है। उसके साथ ही शारीरिक परिवर्तन और मानसमन्दता पाई जाती है।

चिह्न और लक्षण
(Signs and symptoms)

अस्थियों में परिवर्तन होते हैं, और संधियाँ (joints) भी स्नायु और कण्डराओं के आक्रान्त होने से कड़ी हो जाती हैं जिससे गति में बाधा पड़ना स्वाभाविक है। किन्तु ये सब दशायें इतनी तीव्र नही होतीं जितनी हर्लर दशा में होती हैं।

वामनता थोड़ी होती है, अधिक नहीं। व्यक्ति विशेष बौना नहीं दीखता। और चेहरा भी इतना भद्दा नहीं दीखता जैसा पहली दशा में दीखता है। ग्रीवा छोटी होती है, और मुख खुला रहता है, जिह्वा थोड़ी बाहर को लटकी रहती है।

बालक सदा उद्विग्न रहता है। मानसमन्दता धीरे-धीरे प्रकट होती हैं; प्रायः स्कूल जाने के वय तक स्पष्ट हो जाती है। उसके पश्चात उसकी प्रगति तीव्र हो जाती है, और १५ वर्ष की वय तक मानसमन्दता पूर्णतया स्थापित हो जाती है। साथ ही, वाक् या बातचीत की शक्ति निरन्तर कम होती चली जाती है।

यकृत और प्लीहा भी विवर्धित हो जाते है, किन्तु अत्यधिक नहीं।

हर्लर रोग के समान यह दशा भी अचिकित्स्य है। उसका अन्त भी सदा मृत्यु में होता है। किन्तु कितने वर्ष तक रोगी जीवित रहता है, यह निश्चित प्रकार से नहीं मालूम है। संभव है २०–३० वर्ष की वय तक चलता रहे।

चिकित्सा—हर्लर दशा के समान संलक्षण की कोई चिकित्सा अभी तक नहीं मालूम हो सकी है। लक्षणानुसार चिकित्सा की जाती है जिसका प्रयोजन केवल रोगी के क्लेश या पीड़ा का शमन करना होता है। जब तक रोगी जीवित रहता है तब तक उसको यथासंभव शारीरिक विश्राम पहुँचाना

चिकित्सक का कर्त्तव्य है और अभिभावक या माता-पिता द्वारा बालक को मानसिक शांति देना, निरन्तर स्नेह प्रदर्शित करना, उसको यथा-समय पौष्टिक आहार खिलाना, वस्त्रों की स्वच्छता, शैयाव्रणों से त्वचा की रक्षा, उसके आमोद के लिये खिलौने, पुस्तकें, तथा अन्य प्रकार के आयोजन उपलब्ध करना चाहिये।

गैलेक्टोज़रक्तता
(Galactosaemia)

यह भी ऑटोसोमल अप्रभावी जीन द्वारा संचरित रोग है जिसमें गैलेक्टोज (galactose) नामक शर्करा का एन्जाइम की अनुपस्थिति के कारण पूर्णचयापचय नहीं होता और गैलेक्टोज के ग्लूकोज में परिवर्त्तित न होने के कारण रक्त में गैलेक्टोज एकत्र होकर मूत्र द्वारा निकलता है।

हेतुकी—P.K.U. के समान इस दशा का कारण भी गैलेक्टोज का चयापचय करने वाले एन्जाइम का शरीर में उत्पन्न होना है। इस एन्जाइम का रासायनिक रूप भली भाँति अध्ययन किया जा चुका है और इसका भी निश्चित बोध प्राप्त कर लिया गया है कि अप्रभावी ऑटोसोमल जीन ही एन्जाइम की अनुपस्थिति का कारण है। अतएव यह भी एक जननिक दशा है।

चिह्न और लक्षण

जन्म के समय बालक स्वस्थ और सामान्य (normal) दीखता है। किन्तु दूध पीने अथवा लैक्टोज मिश्रित जल (जो प्रथम २४ या ४८ घंटे तक दिया जाता है) के पीने के पश्चात ही लक्षण प्रकट हो जाते हैं; अथवा वे एक या दो सप्ताह पश्चात उत्पन्न होते हैं।

साधारणतया वमन (vomiting), प्रवाहिका (diarrhoea पतले दस्त आना), भावहीनता अथवा वेसुध सा होना ये लक्षण होते हैं। वमन अथवा प्रवाहिका चिकित्सक को रोग का सन्देह करने के लिये पर्याप्त लक्षण हैं। शीघ्र ही बालक में जलाल्पता (dehydration) के लक्षण दीखने लगते हैं जैसे विसूचिका (cholera) या अतितीव्र प्रवाहिका में होते है। वमन या प्रवाहिका द्वारा शरीर के ऊतकों से जल खिच कर शरीर से वाहर निकला करता है। इससे ऊतकों में जल की न्यूनता होती रहती है। यही जलाल्पता अथवा निर्जलीकरण कहलाता है। बालकों तथा शिशुओं के लिये यह दशा अत्यन्त चिन्ताजनक होती है। वे जल की न्यूनता को सहन

करने में तनिक भी समर्थ नहीं होते। चिकित्सा की दृष्टि से इसको लगभग घातक ही समझना चाहिये। जितना शीघ्र इसको दूर किया जा सके उतनी ही रोगी के जीवन की रक्षा की आशा की जा सकती है। बालक का आनन सूखा हुआ सा दीखता है। नेत्र धँस जाते हैं। सारे शरीर की त्वचा में झुर्रियाँ दीखने लगती हैं। बालक का शरीर भार घट जाता है। यकृत प्लीहा बढ़े हुएं मिलते हैं। कामला (jaundice) उत्पन्न होने से नेत्रों का वर्ण पीला होता है; यकृत का सिरोसिस (cirrhosis) हो सकता है। अत्युग्र दशाओं में शिशु की प्रथम दो चार दिन ही में मृत्यु हो सकती है।

कुछ शिशुओं में दो मास के पश्चात् लक्षण प्रकट होते हैं। उनमें मानस-हानि प्रारंभ हो चुकी होती है, मस्तिष्क को क्षति पहुँच चुकी रहती है। संभव है नेत्रों मे मोतियाविन्द (cataract) वनना प्रारंभ हो गया हो।

ऐसे भी रोगी पाये जाते है जहाँ शिशु में रोग का लक्षण केवल दूध का वमन कर देना होता है। शिशु दूध पीता है और तुरन्त वमन कर देता है। वह उसे पचा नहीं सकता। बहुधा दूध वैसा ही निकल आता है जैसा उसने पिया था, वह फटता तक नहीं। यह दशा 'दुग्ध असह्यता' (milk intolerance) कही जाती है। ऐसी दशा में मानस हानि की अधिक संभावना है। 'दुग्ध असह्यता' ही चिकित्सक को सतर्क करने के लिये विशेष लक्षण है।

सौभाग्य से यह दशा सामान्यतः नहीं पाई जाती। बहुत विरल है। इसका आघटन (incidence) १८०० में १ पाया गया है।

निदान—रक्त और मूत्र की गैलेक्टोज के लिये परीक्षा करने से रोग का तत्काल निश्चय हो जाता है।

चिकित्सा—यथासंभव शीघ्र निदान मस्तिष्क को क्षति से बचाने के लिये आवश्यक है, जिसका पुनः सुधार संभव नहीं होता। चिकित्सा का प्रथम आयोजन शिशु को दूध देना बन्द करना है। उसको ऐसा आहार दिया जाय जिसमें दूध न हो अथवा गैलेक्टोज या लैक्टोज युक्त पदार्थ न हों। कुछ कम्पनियों के बने हुए ऐसे कृत्रिम आहार आते हैं जिनमें लैक्टोज या गैलेक्टोज नहीं होते। दूध के अवयवों से लैक्टोज गैलेक्टोज को रासायनिक विधियों द्वारा निकाल कर अन्य अवयवों के संश्लेषण से इस रोग के लिये उपयुक्त आहार बनाये गये है। वे दूध ही के समान दीखते हैं, किन्तु उनमें लैक्टोज या गैलेक्टोज नहीं होते। शिशु को ऐसे आहार को देने से उसका वमन करना या प्रवाहिका तत्काल रुक जाते हैं और मस्तिष्क भी भावी हानि से सुरक्षित हो जाता है। बालक का शरीर भार बढ़ने लगता है। किन्तु मस्तिष्क की पहिले जो क्षति हो चुकी है वह नहीं सुधरती।

लाइपिड चयापचय के विकार

(Disorders of lipid metabolism)

लाइपिड उच्च वसाम्ल (higher fatty acids) के योग होते हैं जो प्रकृति में पाये जाते हैं। वसा ऊतक (fatty tissue) के ये मुख्य अवयव होते हैं। इस प्रकार ये आहार की सब ही वस्तुओं में उपस्थित रहते हैं। प्रोटीन, कार्वोहाइड्रेट के समान वसा वा स्नेह (fat) का चयापचय मुख्यतया इन्हीं का चयापचय होता है। जिन मानसमन्दता की दशाओं का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है उनमें लिपायडों का विशेषकर तन्त्रिका तन्त्र (nervous system) की कोशिकाओं में संग्रह हो जाता है।

पारिवारिक अन्धतामय जड़बुद्धिता

(Amaurotic Family Idiocy)

इसको प्रमस्तिष्क–मैकुली व्यपजनन (cerebro-macular degeneration) तथा Tay-Sach's रोग भी कहते हैं।

इस रोग के चार रूप पाये जाते हैं :—

१. **शैशव (Infantile) रूप**—यही रूप Tay-Sach's रोग कहा जाता है।

शिशु में ४–६–१० मास की अवस्था में प्रकट होता है। शिशु दृष्टिहीन होता है। शिर बड़ा होता है। यकृत और प्लीहा दोनों का आकार विवर्धित होता है। शिशु को वाँयठें आते रहते हैं। वह जड़वत्, सुधवुध हीन, वातावरण से अनभिज्ञ, एक मास के लौंदे के समान होता है। दूसरा रूप इतना उग्र नहीं होता और अधिक वय होने पर प्रारंभ होता है और अधिक काल तक चल सकता है। क्रम और रूप दोनों ही अनिश्चित होते हैं।

लक्षण—मानसिक व्यपजनन (mental degeneration) की गति तीव्र होती है। शिर प्रायः पीछे को खिचा या झुका—अतिप्रसरित दशा (hyperextension) में रहता है। दोनों नेत्र विपरीत दिशाओं में रहते हैं (भैंडापन)। शरीर की सब ही पेशियाँ शक्तिहीन सी होती हैं। बालक अंगों को उठाना भी नहीं चाहता। किन्तु वे कड़ी और संकुचित सी रहती हैं। बालक को आहार के ग्रास या जल भी निगलने में कष्ट होता है।

यकृत और प्लीहा की अतिवृद्धि हो सकती है।

मानसिक मन्दता शीघ्र ही अत्यधिक हो जाती है।

विकृति—इस दशा का कारण भी एक एंजाइम का प्रभाव होता है जो सेरीब्रोसाइडी (cerebrosides) से ग्लूकोज (glucose) को

पृथक करती है। इस कारण शैशव रूप में यकृत, प्लीहा और न्यूरोनों में भी सेरीब्रोसाइड एकत्र मिलते हैं। प्रौढ़ रूप में वे न्यूरानों में एकत्र नहीं होते। केवल प्लीहा और यकृत ही में एकत्र होते हैं।

निदान—यकृत तथा अस्थिमज्जा में गौकर कोशिकाओं (typical Gaucher cells) की उपस्थिति द्वारा रोग का निदान किया जाता है। वेधन सूची द्वारा यकृत से कुछ वस्तु निकाल कर (liver puncture) और इसी प्रकार प्रायः उरोऽस्थि (sternum) से अस्थिमज्जा प्राप्त कर सूक्ष्मदर्शी द्वारा उनकी परीक्षा की जाती है।

चिकित्सा—रोग अचिकित्स्य है। प्रथम वर्ष के अन्त तक बालक की मृत्यु हो जाती है।

२. **विलम्बित शैशव रूप** (late infantile)—१ से ४ वर्ष तक की आयु में रोग प्रारम्भ होता है। इसमें भी दो प्रकार मिलते हैं, एक में अभ्यन्तरांगों—यकृत, प्लीहा आदि का विवर्धन (enlargement) पाया जाता है, और साथ ही एक्सरे द्वारा अस्थियों में परिवर्तन भी दीखते हैं। दूसरे रूप में यकृत, प्लीहा या अन्य अभ्यन्तरांग वेद्य नहीं होते और न अस्थियों में परिवर्तन होते हैं।

दोनों रूपों में प्रारंभ में अंधता पूर्ण नहीं होती, किन्तु धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। बाँयठे या आक्षेपक होते रहते हैं। गतिविभ्रम (ataxia) और संस्तम्भता (spasticity)—चाल में अस्तव्यस्तता, अंगों के कड़ापन—के कारण अंगों की गति में रुकावट होती है।

प्ररूप १ और प्ररूप २ दोनों में विकार युक्त या विस्थापित जीन अलिंगी अप्रभावी गुण के रूप में (autosomal recessive character) सन्तति में संचरित होते हैं।

३. **बालरूप** (juvenile)—रोग ५–८ वर्ष की वय में प्रारंभ होता है। दृष्टि धीरे-धीरे क्षीण होती चली जाती है। अन्त में अन्धता पूर्ण हो जाती है। गतिविभ्रम पहिले के समान होता है। हाथों-पावों में कड़ापन भी होता है जो बढ़ता चला जाता है यहाँ तक कि सारा शरीर संस्तम्भित हो जाता है। चलने में बालक अपने को नहीं सम्भाल सकता। लड़खड़ाता है; कुछ समय में वह चलने में नितान्त असमर्थ हो जाता है। वह अपस्मार (epilepsy) के आक्षेपकों का ग्रास बन जाता है। मानसमन्दता निरन्तर बढ़ती रहती है।

रोग के इस रूप को स्पीलमेयर–वोट–वैटेन (Spielmeyer–Vogt–Batten) रोग भी कहा जाता है।

बालरूप का रोग ५–१० वर्ष तक चल सकता है। अंत में कोई अन्य संघातक रोग होकर बालक को उसके कष्ट से मुक्त कर देता है। रोग अचिकित्स्य है।

(४) **प्रौढ़ रूप** (Kuf's disease)—यह रोग १५ से २६ वर्ष तक किसी समय प्रारंभ हो सकता है। इसको मानसमन्दता नहीं माना जाता, वरन मनोभ्रंश (dementia) का प्रारंभिक रूप समझा जाता है। यह बहुत विरल दशा है।

रोग के चारों रूप जिनका ऊपर वर्णन किया गया है उनमें लाइपिड तंत्रिका तन्त्र में एकत्र होते हैं। किन्तु इसी समूह के दूसरे रोग—नीमान-पिक नामक रोग में तंत्रिकातन्त्र के अतिरिक्त लाइपिड जालीय अन्तर्कला तन्त्र (reticulo–endothelial system) में भी एकत्र हो जाते हैं। लाइपिडों के रूप भी दोनों दशाओं में भिन्न होते हैं। पारिवारिक अन्धतामय जड़बुद्धिता में लाइपिडों के गैंग्लियोसाइड (gangliosides) रूप न्यूरानों में एकत्र होते हैं। किन्तु नीमानपिक रोग से स्फिंगोमाइलिन (sphingo-myelin) रूप के लाइपिड योग एकत्र रहते हैं। ऐसा ही एक तीसरा रोग गौकर रोग (Gaucher's disease) इसी समूह में स्थित है। उसमें किरेटिन (keratin) एकत्र होती है।

ii—नीमान–पिक रोग

(Niemann–Pick's Disease)

इस दशा का भी अप्रभावी प्रकार से संचरण होता है। जैसा ऊपर कहा गया है इस दशा में सिरिंगोमाइलीन (syringomyline) मस्तिष्क, जालीय–अन्तर्कला तन्त्र और कभी-कभी यकृत और प्लीहा के सारऊतक या पैरेन्काइमा की कोशिकाओं में भी एकत्र मिलती है।

लक्षण—शैशव रूप का रोग जन्म के कुछ सप्ताह पश्चात् से लेकर ७ या ८ वर्ष पश्चात् तक आरम्भ हो सकती है। शारीरिक वृद्धि अतिमन्द होती है। यकृत् और प्लीहा दोनों की अतिवृद्धि के कारण बालक का उदर प्रमुखतया सामने को निकला हुआ दीखता है। और बाहु और टांगों तथा जंघाओं के क्षय के कारण उसकी उन्नतोदरता और भी स्पष्ट हो जाती है। बालक वेसुध सा रहता है। उसकी मानसमन्दता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। सारे शरीर में या कुछ विशिष्ट स्थानों में लसीका पर्व (lymph nodes)

बढ़े हो सकते हैं। बहुतों के नेत्र के भीतर मेकूला (macula) में गहरी लाल चित्ती (cherry-red spot) मिलती है। अपस्मार के आक्षेपक हो सकते हैं।

बाल रूप में रोग की प्रगति धीमी होती है। मनोभ्रंश (dementia) होता है। गतिविभ्रम हो सकता है।

एक्स-रे में फुफ्फुस में विकरित राजयक्ष्मा (miliary tuberculosis) के समान छोटी छोटी फुल्ली या अपारदर्शितायें (opacities) दिखाई देती हैं।

निदान—यकृत् तथा अस्थिमज्जा में फेन-कोशिकायें (foam cells) के दिखाई देने से रोग स्पष्ट हो जाता है। रक्त के सीरम में लाइपोप्रोटीन की न्यूनता निदान का समर्थक है।

चिकित्सा—रोग की कोई चिकित्सा नहीं है। शैशव रूप में ३ वर्ष के वय में बालक की मृत्यु हो जाती है।

गौकर रोग (Gaucher's disease)

इस रोग का संचरण भी अलिंगो अप्रभावी जीन (autosomal recessive gene) द्वारा होता है।

रोग के दो रूप पाये जाते हैं। उग्र रूप शैशव काल के प्रथम छह महीने में आरम्भ हो जाता हैं। इसमें स्फिंगोमायलिन यकृत् और प्लीहा के अतिरिक्त न्यूरानो में भी एकत्र हो जाती है। एक विद्वान ने चेतक (thalamus) और हिप्पोकैम्पस में भी एकत्र होने का उल्लेख किया है। शिशु का मानसिक व्यपजनन (mental degeneration) तीव्र गति से होता है। निगलने में कष्ट होने लगता है और पृष्ठवंश की पेशियों के आकुंचन से पृष्ठायाम (opisthotonos) की दशा हो जाती है जिसमें शरीर सामने की ओर से धनुषाकार हो जाता हैं; शिर और पांव पीछे की ओर शैया पर लग जाते हैं और उदर सामने की ओर को मुड जाता है। प्रथम वर्ष के अन्त तक मृत्यु हो जाती है।

दूसरे वयस्क रूप में स्फिंगोमायलिन केवल यकृत् और प्लीहा तथा जातीय-अन्तर्कला तन्त्र (reticuloendothelial) में एकत्र पाई जाती है।

रोग की कोई चिकित्सा नहीं है।

इस रोग का संचरण अलिंगी अप्रभावी जीन (autosomal recessive gene) के द्वारा हो सकता है।

कार्बोहाइड्रेटों के चयापचय के विकार
(Disorders of Carbohydrates Metabolism)

गैलेक्टोज़रक्तता (Galactocaemia)

इसका पहिले वर्णन किया जा चुका है। एंजाइम के प्रभाव से गैलेक्टोज का विभंजन न होने से गैलेक्टोज रक्त में एकत्र हो जाती है, अन्य तलों में भी एकत्र हो सकती है।

अलिंगी अप्रभावी जीन द्वारा यह दशा संचरित होती है।

ग्लायकोजन-संग्रह रोग (Glycogen Storage Disease)

इसको ग्लायकोजनरुग्णता (glycogenosis) भी कहा जाता है। इसके कई प्ररूप पाये जाते हैं। कुछ में ग्लायकोजन के संश्लेषण (synthesis) में विकार होता है तो दूसरों में उसके विभाजन में गड़बड़ी आ जाती है। सब प्ररूपों में मानसमन्दता नहीं पाई जाती है। यकृत की वृद्धि भी सब में नहीं होती। एक रूप में केवल प्लीहावृद्धि होती है। एक रूप में केवल यकृत वृद्धि होती है, और रक्त में ग्लूकोज़ाल्पता (hypoglycaemia) होती है।

इन विविध दशाओं के अनुसार एंजाइमों में भी विविधता पाई जाती है। किसी में कोई एंजाइम नहीं बनती तो दूसरी दशा में अन्य कोई एंजाइम अनुपस्थित होती है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न एंजाइमों का प्रभाव रोग के भिन्न प्ररूपों का कारण होता है।

सब ही प्ररूप अलिंगी अप्रभावी जीनों के संचरण के परिणाम होते हैं।

अवटुक-वामनता तथा क्रिटिनता
(Cretinism)

यह उस दशा का नाम है जिसमें अवटुका ग्रन्थि की अनुपस्थिति से या उसकी क्रिया अल्पता से शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की वृद्धि नहीं होती। शरीर छोटा सा रह जाता है; अस्थियों की लम्बाई नहीं बढ़ती और बुद्धि भी क्षुद्र रह जाती है। सामान्यतया इनको 'बौना' कहा जाता है।

किन्तु सब बौने बुद्धिहीन नहीं होते। इसका कारण यह होता है कि वामनता अनेक कारणों से उत्पन्न हो सकती है। शरीर की कई अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ ऐसे स्राव बनाती हैं जो ग्रन्थि से सीधे शरीर में व्याप्त होकर अस्थियों की वृद्धि को प्रभावित करते हैं। ये स्राव 'हारमोन' कहलाते हैं।

अवटुका और पिच्यूटरी (thyroid, pituitary) ऐसी दो विशिष्ट ग्रन्थियां है यद्यपि अन्य भी अस्थिवृद्धि तथा सामान्य शारीरिक वृद्धि पर प्रभाव डालती हैं।

साथ ही पिच्यूटरी एक ऐसी महत्तम ग्रन्थि है जो अन्य सब ग्रन्थियों की अधिपति है, उनकी क्रिया का नियन्त्रण करती है, उन पर शासन करती है। इसके स्राव सब ही ग्रन्थियों को उत्तेजित करते हैं। उनके प्रभाव से ग्रन्थियों की क्रिया का ह्रास हो जाता है।

अवटुका में जो स्राव या हारमोन बनता है वह थायरोक्सीन (thyroxin) कहा जाता है। उसका विशेष अवयव आयोडिन (iodine) होता हैं जिसके साथ कई प्रकार की प्रोटीनें संयुक्त रहती हैं। इस कारण रासायनिक संघटनात्मक संकेत के लिये उसको PBI कह देते हैं जिसका अर्थ है protein bound iodine. रक्त में उपस्थित PBI की मात्रा से यह मालूम हो जाता है कि अवटुका अपने हारमोन की उपयुक्त मात्रा बना रही है अथवा कम बना रही है या कुछ भी नहीं बना रही। जन्म के पश्चात शिशु-जीवन के प्रथम सप्ताह में PBI की अत्यधिक मात्रा बनती है। वह रक्त के १०० मिली लिटर में १२.५ माइक्रोग्राम हो सकती है। इसको संकेतानुसार 12.5 mg/100 ml लिखा जाता है। किन्तु कुछ समय पश्चात उसकी मात्रा घट कर युवावस्था की उपयुक्त मात्रा, 3.5 mg/100 ml हो जाती है जिसको पर्याप्त अथवा उपयुक्त माना जा सकता है। किसी भी वय के शिशु में PBI की इससे न्यून मात्रा अवटुका की क्रियाल्पता (hypothyroidism) की द्योतक है। 1.0 mg/100 ml PBI अवटुका के पूर्ण अभाव या पूर्ण क्रिया-शैथल्य की सूचक है।

अवटुका क्रियाल्पता का कारण आहार में आयोडीन का अभाव होता है। पर्वतों पर की भूमि में, जिस पर कृषि द्वारा अन्नोत्पादन किया जाता है आयोडीन की विशेष न्यूनता होती है, जैसे हिमालय में, योरुप के आल्पस (Alps) पर्वत क्षेत्र में। वहाँ से पुरातन काल से वर्षा की धारायें आयोडीन को भूमि से घोल कर और बहा कर नीचे समतल भूमि में प्रवाहित करती रही हैं। इस कारण पर्वतीय प्रदेशों की भूमि में आयोडीन की अत्यन्त हानि हो गई है। फल स्वरूप वहाँ के निवासियों में यह रोग बहुत पाया जाता है। अवटुका ग्रन्थि बहुत बढ़ जाती है और गले में लटकती हुई दीखती है। इसको गलगंड (thyroid) या लौकिक भाषा में घेंघा कहते हैं। रोग के कई रूप होते हैं। किन्तु यही रूप अधिकतर पाया जाता है। एक विषाक्त रूप (toxic goitre) भी होता है जिसमें

ग्रन्थि की वृद्धि नहीं होती, कि अतिस्राव होकर रक्त में पहुँच कर माता में विषाक्तता के लक्षण उत्पन्न कर देता। दो विशेष लक्षण नेत्रों का सामने को उत्सेधित (protuberant) हो जाना तथा हृदयस्पन्दन (धड़कना, palpitation) हैं। दुर्बलता अत्यधिक हो जाती है। अन्य भी लक्षण होते हैं। ऐसी माताओं के गर्भवती होने की ग्रन्थिस्राव निरोधी औषधियों के प्रयोग से गर्भ में अवटुहीनता या अवटुवामनता उत्पन्न हो सकती है। अवटुका ग्रन्थि उत्पन्न ही न हो या थोड़ा सा अवटुका ऊतक (thyroid tissue) बन जाय जो प्रायः गर्भावस्था में जिह्वा के मूल पर बनता है।

पिच्यूटरी ग्रन्थि अपने T. S. H. (thyroid stimulating hormone) द्वारा अवटुका ग्रन्थि के परिवर्धन और जीवन में उसकी क्रिया को प्रभावित करती है। यह पाया गया है कि अवटुका की क्रियाल्पता अथवा उसकी वृद्धि की न्यूनता होने पर पिच्यूटरी T. S. H. हारमोन की उत्पत्ति बढ़ा देती है, स्राव अधिक बनने लगता है और अवटुका हारमोन की उत्पत्ति में भी वृद्धि हो जाती है। इसका परिणाम अवटुका ग्रन्थि की वृद्धि हो सकती है जो गर्भावस्था ही में प्रकट हो जाय या जन्म के पश्चात किसी समय स्पष्ट हो।

अवटुका-वामनता (cretinism) दो प्रकार की हो सकती है। एक **स्थानिक** (endemic), जो एक विशेष प्रदेश में होती है जहाँ की भूमि में आयोडीन का अभाव या न्यूनता होती है। इस प्रकार का रोग उस प्रदेश के ही निवासियों में अनेक व्यक्तियों में पाया जाता है। किन्तु उस प्रदेश के बाहर नहीं पाया जाता। ऐसे प्रदेश के शासकों ने वहाँ के निवासियों के आहार में अतिरिक्त आयोडीन की मात्रा के समावेश का विधान करके रोग का प्रायः बहिष्कार कर दिया है।

रोग का दूसरा रूप **विकसित** या **कदाचनिक** (sporadic) है। यह रूप विरल है, बहुत कम पाया जाता है। इसके दो कारण हो सकते हैं : १. भ्रूण (embryo) के परिवर्धन काल में अवटुका ऊतक का न बनना। ऐसी दशा पारिवारिक नहीं होती। २. चयापचय का अन्तर्जात विकार (inborn error of metabolism)। यह दोष अप्रभावी संचरण का फल माना जाता है।

प्रथम प्रकार का परिवर्धन (development) की अस्तव्यस्तता से उत्पन्न हुआ दोष सम्पूर्ण हो सकता है। अवटुका तनिक भी न बने। इसका प्रभाव अन्तर्गर्भावस्था ही में प्रकट हो जायगा। जन्म के पश्चात किसी

प्रकार के उपचार से यह दोष नहीं सुधारा जा सकता। दूसरी दशा जिसमें अवटुका अपूर्ण बनती है, जैसे जिह्वा मूल, थोड़े अवटुका ऊतक का परिवर्धन, या उससे नीचे कहीं गले में, वहाँ अवटुकाल्पता सम्पूर्ण नहीं होती, कुछ स्राव बनता रहता है। उपयुक्त चिकित्सा से इस प्रकार के दोष को बहुत कुछ सुधारा जा सकता है। परिवर्धन सम्बन्धी दोष स्त्रियों में अधिक पाये जाते हैं।

अन्तर्जात प्रकार का दोष पुरुष और स्त्रियों में समान रूप से पाया जाता है और रासायनिक अथवा जैवरासायनिक (biochemical) प्रकार का मालूम होता है। अन्वेषकों का अनुमान है कि अवटुका के पूर्ण स्राव की उपयुक्त मात्रा की उत्पत्ति में पाँच प्रकार के एंजाइम भाग लेते हैं। जिन अवयवों के संयोग से अवटुका स्राव तैयार होता है उनकी उत्पत्ति ५ एंजाइमों द्वारा की जाती है। यदि किसी एक एंजाइम में विकार आ गया, वह उत्पन्न न हुआ या उसकी विकृति हो गई तो ग्रन्थि का समस्त स्राव अस्तव्यस्त हो जायगा।

लक्षण—प्रारंभ में कोई भी लक्षण न हो। किन्तु शीघ्र ही शिशु की शारीरिक अवृद्धि उसकी ओर ध्यान आकर्षित करती है। कुछ शिशुओं में जन्म के पश्चात कुछ कामला (jaundice) प्रकट हो जाती है। किन्तु वह शीघ्र ही जाती रहती है। यदि कामला १० दिन बनी रहे तो अवटुकाल्पता का सन्देह करना चाहिये।

पूर्ण दशा ३ मास के पश्चात् स्पष्ट होती है। शिशु की वृद्धि रुक जाती है, विशेषकर ऊर्ध्वांगों (बाहु, अग्रबाहु आदि) और अधरांगों (जंघा, टांग आदि) की। शिशु के धड़ की अपेक्षा उसकी बाहु, अग्रबाहु, ऊरु, जंघा, हाथ, पाँव, आदि छोटे दीखते हैं। उदर बढ़ा हुआ, त्वचा शुष्क, आनन फूला हुआ सा, होठ मोटे-मोटे, सूजे हुए से, जिह्वा मुख से बाहर को लटकती हुई। कितने ही शिशुओं में नाभि की हर्निया (umbilical hernia) होती है। प्रायः कोष्ठ वद्धता रहती है।

शरीर के साथ मानसिक वृद्धि भी रुक जाती है। शिशु शिथिल होता है, उसको सहज में उत्तेजित नहीं किया जा सकता। वाह्य वातावरण के प्रति वह उदासीन रहता है, उसका ध्यान उस ओर नहीं के समान आकर्षित होता है।

निदान—PBI की मात्रा का आकलन या आमापन (estimation) अत्यन्त महत्व का प्रमाण है। केवल यही जांच रोग के निर्णय के लिये पर्याप्त है।

दूसरा प्रमाण एक्सरे परीक्षा द्वारा प्राप्त किया जाता है। अस्थियों के एक्स-रे से शिशु के वय का अनुमान संभव होता है। गर्भावस्था ही में अस्थियों में नियत समय पर अस्थिभवन केन्द्र (ossification centres) उदय हो जाते हैं। अवटुकाल्पता की दशा में उनका उदय सदा विलम्बित हो जाता है।

रक्त में कोलेस्टेरोल की मात्रा के आकलन से भी निदान में कुछ सहायता मिल सकती है। अवटुकाल्पता ग्रस्त बालकों में सदा कुछ अधिक मात्रा मिलती है। विद्युत-हृद लेख (electrocardiogram) भी सहायक हो सकता है।

शीघ्रातिशीघ्र निदान अत्यन्त आवश्यक है। जितनी शीघ्र दशा को पहिचान कर उसका उपचार प्रारम्भ होगा उतनी ही शीघ्र इस त्रुटि के सुधरने की आशा की जा सकती है। गर्भावस्था ही में मस्तिष्क की क्षति के प्रस्थापित हो जाने के पश्चात् तो उन्नति की बहुत कम संभावना रह जाती है। किन्तु यदि कुछ भी अवटुका ऊतक प्रवर्धित हो चुका है तो चिकित्सा में बहुत कुछ सफलता हो सकती है।

चिकित्सा—वास्तव में प्रतिस्थापन चिकित्सा (substitution therapy) है। जिस हारमोन का शरीर में अभाव है, शरीर में उत्पति नहीं हो रही है, उसको मुख द्वारा खिलाकर उसके अभाव की पूर्ति की जाती है। यही प्रतिस्थापन चिकित्सा कही जाती है।

अवटुका L-thyroxine नामक हारमोन का निर्माण करती है। इसी के प्रभाव से शरीर में वे सब परिवर्त्तन तथा क्रियाएँ होती हैं जिनके अभाव से गत पृष्ठों में उल्लिखित दशायें उत्पन्न हो जाती हैं। अतएव इस हारमोन को खिलाने से उन लक्षणों के निराकरण की आशा की जाती है।

शिशु को ०·०२५ मिलीग्राम L-thyroxine देना प्रारम्भ किया जाता है। प्रति दो सप्ताह पर इसकी मात्रा बढ़ाते जाते हैं जब तक कि शिशु में अति मात्रा के लक्षण नहीं उत्पन्न होते। शिशु को पतले दस्त (diarrhoea) आने लगते हैं। तब औषधि की मात्रा को घटाकर पहिले ही की मात्रा फिर से दी जाती है। ज्यों-ज्यों शिशु की आयु बढ़ती जाती है मात्रा को भी उसी के अनुसार बढ़ाते जाते हैं। बाल्यकाल में अधिक मात्रा दी जाती है। युवावस्था तक पहुँचते-पहुँचते वह ०·१ से ०·४ मिलीग्राम प्रतिदिन लेने लगता है। बालक की ऊँचाई (height) की वृद्धि औषधि के प्रभाव का प्रमाण है। जब ऊँचाई में उस गति से वृद्धि होती है जैसी सामान्यतया

होनी चाहिये तो वही मात्रा रोगी को निरन्तर प्रतिदिन लेनी होती है। औषधि रोगी की आजीवन संगिनी है। वह उसको आयुपर्यन्त लेनी होगी।

श्वेत-अपविकसनतायें (Leucodystrophies)

यह कई रोगों का समूह है जिसके सभी रोगों में मस्तिष्क के श्वेत पदार्थ (white matter) में विकृतियाँ पाई जाती हैं। श्वेत पदार्थ तन्त्रिकातन्तुओं का बना होता है। अतएव तन्त्रिका के व्यपजनन (degeneration) में मायलिन विधान (myelin sheath) सब से पहिले प्रभावित होता है। विधान के विभंजन से मायलिन की विन्दुएँ बन जाती हैं जो तैल की विन्दुओं के समान दीखती हैं। इनका रासायनिक रूप भी बदल जाता है। रासायनिक प्रतिक्रियाओं द्वारा वे कई प्रकार के रासायनिक अवयवों में विभंजित हो जाती हैं। इन विश्लिष्ट अवयवों में फिर कुछ संश्लेषण और विश्लेषण से नये योग बन जाना भी संभव है। इस कारण जैवरासायनिक परीक्षणों पर कई प्रकार के पदार्थ उपस्थित मिल सकते हैं। कुछ अन्वेषकों की सम्मति में मायलिन विधान का विभंजन ही इन रोगों का प्रधान परिवर्तन है; तंत्रिका अक्ष दंड (nerve axis cylinder) क्षत हो या न हो। वह अधिकतर क्षत नहीं होता।

ये रोग पारिवारिक हैं, परिवारगत पाये जाते हैं, वे एक सन्तति से दूसरी सन्तति में और दूसरी से तीसरी में संचरित होते रहते हैं। इस कारण उनका अप्रभावी अलिंगी जीनों द्वारा संवहन माना जाता है।

तंत्रिका-त्वग् संलक्षण (Neuro-cutaneous syndrome)

ट्यूबरस अथवा ट्यूबरोज स्क्लरोसिस (Tuberous. tuberose-sclerosis)

त्वग्वसा ग्रन्थ्यर्बुद (Adenoma sebacum)

बोर्नविल रोग (Bourneville's disease)

यह रोग उपर्युक्त चार नामों से पुकारा जाता है, किन्तु दूसरा नाम ट्यूबरस स्क्लरोसिस अधिक प्रचलित है। इस रोग में आनन पर त्वग्वसीय ग्रन्थ्यर्बुद (sebaceous adenoma) बन जाते हैं।

रोग के विशेष लक्षण मानसमन्दता, अपस्मार (epilepsy) के समान आक्षेपक और त्वग्वसीय ग्रन्थ्यर्बुद हैं।

आघटन (incidence)—जनता में ५०,००० में १ होता है।

हेतुकी—यह एक वंशानुगत रोग है जो एक प्रभावी जीन द्वारा अपूर्ण अभिव्यक्ति (incomplete expression) के रूप में संचरित होता है।

(प्रभावी जीन संचरण वह होता है जो सामान्य (normal) जीन से संयोग करने पर अभिव्यक्त हो सकता है।)

विकृति—आनन की **त्वचा** के नीचे त्वग्वसा ग्रन्थियों की छोटी-छोटी गाँठें सी वन जाती हैं जो वास्तव में लघु तान्तव अर्बुद (fibromata) होते हैं। इनमें प्रायः रक्तवाहिकायें वन जाती हैं जिसके कारण उनका वर्ण गुलावी होता है। सब से अधिक **मस्तिष्क** प्रभावित होता है जिसमें मटर के दाने से लेकर अखरोट (walnut) के आकार तक के कैल्सीभूत (calcified nodules) पर्वक वन जाते हैं। एक्सरे चित्रों में इनकी छाया कर्णकों या संवलनों (Gyri) में दिखाई देती है। ऐसे ही पर्वक मस्तिष्क के श्वेत पदार्थ (white matter) में वन जाते हैं। वे पार्श्व निलयों (lateral-ventricles) में भी वन सकते हैं। अन्तरीयक अथवा एपेन्डायनी स्तर के नीचे के प्रान्तों में भी उनकी उत्पत्ति हो सकती है। इन पर्वकों में कुछ सामान्य तंत्रिका कोशिकायें भी होती हैं। किन्तु महाकोशिकाओं (giant cells) तथा तन्त्रिकावन्ध कोशिकाओं (glialcells) और विचित्र प्रकार के तन्तुओं (fibres) की प्रचुरता होती है। उनमें न्यूरोन (neurone) भी वन सकते है।

तंत्रिका बंध ऊतक के छोटे या बड़े क्षेत्र जहाँ-तहाँ वन सकते हैं।

हृदय, वृक्क, यकृत, प्लीहा और कभी-कभी फुफ्फुस अवटुका (thyroid) थायमस (thymus) में भी अर्बुद वन जाते हैं। रेटीना (retina) में भी अर्बुद पाये गये है। नेत्र परीक्षा पर ये पीले या भूरे श्वेत मिश्रित, अंडाकार (oval) दीखते हैं; वे विम्व (disc) के किनारे से निकलते दीखते हैं, किन्तु समस्त विम्व पर फैल सकते हैं।

चिह्न और लक्षण—जन्म के समय कोई लक्षण नहीं होता। शिशु का आकार छोटा होता है और उसकी वृद्धि धीमी और विलम्वित होती है। ८० प्रतिशत शिशुओं को आक्षेपक (convulsions) होते हैं जिनसे उनकी मानसमन्दता निरन्तर वढ़ती चली जाती है। सामान्यतया वालक अतिमन्द (severely retarded) होते है, जिनको idiot या महामूढ अथवा जड़वुद्धि कहा जाता था। किन्तु कुछ ऐसे रोगियों का भी उल्लेख मिलता है जो मानसमन्द नहीं थे।

वालक में आगे चलकर त्वचा विकार आनन पर प्रकट होना आरंभ होते हैं। लगभग पाँचवें वर्ष में नासिका के दोनों ओर गुलावी रंग के धव्वे वनने लगते हैं जिनका रंग धीरे-धीरे गहरा होता चला जाता है। उन पर

दाने बन जाते हैं और शीघ्र ही तितली के पंखों के समान नाक के दोनों ओर गहरे भूरे (dark-brown) रंग के सूक्ष्म अर्बुद युक्त क्षेत्र बन जाते हैं। इन अर्बुदों का रंग भी गुलाबी से गहरा भूरा हो जाता है। ऊतक परीक्षा पर ये तान्तव अर्बुद (fibromata) प्रमाणित होते हैं। कहीं-कहीं ये इतने बड़े हो जाते हैं कि लटकते हुए दीखते हैं।

नेत्र की परीक्षा पर नेत्रगोलक में ऊपर बताये हुए परिवर्तन पाये जाते हैं। बालक की बहुत कुछ दृष्टि क्षति हो चुकती है।

निदान—मानसमन्दता अपस्मार के समान आक्षेपक और त्वग्वसा ग्रन्थ्यर्बुदता—उस लक्षणत्रय के उपस्थित होने पर निदान निश्चित है। कुछ में केवल मस्तिष्क ही ट्यूबरस स्क्लिरोसिस से आक्रान्त पाया गया है।

चिकित्सा—रोग की कोई चिकित्सा नहीं है। अपस्मारिक आक्षेपकों को आक्षेपकहर (anticonvulsand) औषधियों द्वारा रोकना योग्य है।

तंत्रिकातन्तु अर्बुदता (Neurofibromatosis)

अथवा

वान रेक्लिघौसन का रोग

(Von Recklinghaussen's Disease)

यह दशा प्रभावी (dominant) जीन के कारण उत्पन्न होती है जिसके द्वारा वह एक सन्तति से दूसरी सन्तति में संचरित होती है और पीढ़ी दर पीढ़ी होती चली जाती है। ४० प्रतिशत व्यक्तियों में यह दशा व्यक्त होती है जिसका कारण प्रभावी जीन का होना निश्चित है। शेष ६० प्रतिशत जिनमें दशा स्पष्ट नहीं होती उनमें किन्ही अज्ञात कारणों से जीन अपने को स्पष्ट करने में सफल नहीं होता।

चिह्न और लक्षण—इस दशा में त्वचा (skin) और तंत्रिका तन्त्र (nervous system) दोनों विकृत होते हैं। त्वचा पर वर्णकता (pigmentation) या गहरे रंग के धब्बे बन जाते हैं और साथ ही तन्तु ऊतक (fibrous tissue) की छोटी-छोटी गाठें बन जाती है। ये गाठें छोटे-छोटे अर्बुद होती हैं जिससे उनको (fibromata) कहा जाता है। इनमें से कितनी ही गाठें तन्त्रिका तन्तुओं के अन्त पर बनती हैं जिससे उनको तंत्रिका तन्तु अर्बुद (neurofibromata) कहा गया है। सौषुम्निक (spinal) तथा कापालिक (cranial) दोनों प्रकार की तन्त्रिकाओं पर ऐसे लघु अर्बुद बन सकते हैं। ये दो लक्षण—त्वचा पर वर्ण के धब्बे और तंत्रिका

तन्तु युक्त लघु अर्बुद—इस दशा की विशेषताएं हैं। इस संलक्षण का यही विशेष रूप है।

वर्णांकित क्षेत्र सारे शरीर की त्वचा पर उपस्थित हो सकते हैं। कुछ क्षेत्र या धब्बे चारों ओर की त्वचा से कुछ ऊपर को उभरे रहते हैं जैसा शोथ में हो जाता है, किन्तु उनमें शोथ नहीं होता। त्वगीय (cutaneous) अर्बुद भी प्रायः सारे शरीर की त्वचा में होते हैं। धड़ पर तंत्रिकातन्तु अर्बुद बहुधा तंत्रिका के अन्त या मुख्य तंत्रिका से सम्बन्धित चक्र रूप या जालिका रूप (plexiform) में स्थित होते हैं। अंगों या बाहुओं में उपस्थित होने पर उनसे तंत्रिका जालिकाओं (nerve plexuses) के चारों ओर के ऊतक के प्रचुरोद्भवन (proliferation) से श्लीपद (elephantiasis) दशा उत्पन्न हो जाती है।

विकृति (pathology)—परिसरीय (peripheral) तन्त्रिकाओं के तन्तुअर्बुदों में श्वान कोशिकाएं (Schwan cells) तन्त्रिकातन्तु (nerve-fibres) और तन्तुप्रसू (fibroblasts) सब मिले रहते हैं। किन्तु तंत्रिका-मूलों (nerve roots) के अर्बुद केवल श्वान कोशिकाओं ही के बने होते हैं। कपाल के भीतर भी मस्तिष्क की आच्छादक कलाओं (meninges) के अर्बुद बन सकते हैं जो (meningioma) कहे जाते हैं। नेत्र गुहा में दृष्टितंत्रिका (optic nerve) के संबंध में ग्लायोमा (glioma) नामक अर्बुव बन सकता है जो प्रायः घातक होता है, यदि प्रारंम्भिक अवस्था ही पर उसका सम्पूर्ण उच्छेदन नहीं कर दिया जाता। तंत्रिकाबंध ऊतक (neuroglia) के, जिससे ग्लायोमा अर्बुद बनता है, जहाँ-तहाँ कपाल के भीतर, सूक्ष्म या विस्तृत क्षेत्र बन सकते हैं।

इस रोग के सम्बन्ध में अस्थि की कई विकृतियों का उल्लेख किया गया है—अस्थि वृद्धि की विकृतियाँ अस्थि शोषण (osteoporosis), पुटियों की उत्पत्ति (cystic formation), पृष्ठवंश की पार्श्वकुब्जता आदि।

निदान—बाल्यकाल में त्वचा पर वर्णमय क्षेत्रों की उपस्थिति रोग की पूर्वसूचक हो सकती है। अर्बुद प्रायः देर से उत्पन्न होते हैं। वे बाल्यकाल के अन्त के समीप अथवा युवावस्था में दिखाई देते हैं। त्वचा में उपस्थित अर्बुद पीड़ा देते हैं। उनको दबाने से और कभी-कभी केवल छू देने से रोगी को पीड़ा होती है। यदि कपाल के भीतर अर्बुद बन गये हैं तो कपाल के एक्स-रे चित्र द्वारा उनका ज्ञान हो सकता है। अस्थि रोग भी एक्स-रे के द्वारा प्रदर्शित हो जाते हैं।

प्राग्ज्ञान—यदि किसी अर्बुद ने घातक रूप नहीं ले लिया है या मस्तिष्क के किसी मार्मिक भाग में अर्बुद वन भाग को नष्ट नहीं कर रहा है तो रोग जीवन के लिये प्रतिकूल नहीं है।

चिकित्सा—अभी तक किसी चिकित्सा का आविष्कार नहीं हुआ है। चिकित्सा लक्षणानुसार करनी होती है। प्रायः पीडाहर औषधियों का प्रयोग करना पड़ता है। यदि कपालान्तर्गत किसी अर्बुद की जीवन के लिये घातक प्रमाणित होने की संभावना हो अथवा उससे कोई विशेष उपद्रव उत्पन्न होने के लक्षण हों, तो सर्जरी द्वारा उसका उच्छेदन वांछनीय है।

स्टर्ज-वेबर संलक्षण

(Sturge Weber Syndrome)

यह भी एक त्वचा का विकार है जिसमें त्वचा के दोष के साथ उसी ओर मस्तिष्क में वाहिकार्वुदता (angiomatosis) उपस्थित होती है। त्वचा दोष वास्तव में त्वचा के किसी क्षेत्र में किसी प्रकार की रक्तवाहिकाओं (capillaries, veinules, arterioles) का प्रसार होता है जो वाहिकास्फीति या टेलेंजिएक्टेसिस (telangiactiasis) कहा जाता है। इस दशा में वाहिकास्फीति एक हलके भूरे रंग के विस्तृत क्षेत्र के रूप में एक ओर ललाट या माथे, आनन और ग्रीवा पर फैली हुई दीखती है। एक रंग का विस्तृत धव्वा माथे से प्रारम्भ होकर मुख के पार्श्व पर होता हुआ गर्दन के पार्श्व पर भी फैला होता है। इस क्षेत्र में विस्तृत वाहिकायें भी उभरी हुई उपस्थित हो सकती हैं। यह वर्ण का क्षेत्र आनन और ग्रीवा तथा माथे के उसी पार्श्व पर होता है जिधर मस्तिष्क में वाहिका अर्बुदता होती है।

हेतुकी—इस दशा के कारण का अभी तक निश्चित प्रकार ज्ञात नहीं हो सका है। किन्तु केवल एक ही प्रभावी जीन के कारण इसकी उत्पत्ति की सम्भावना है।

रोग का रूप—त्वचा पर वर्णाङ्कित क्षेत्र की स्थिति बताई जा चुकी है। त्वगीय बाहिकार्वुदों (angiomata) की स्थिति त्रिधारा तन्त्रिका (trigeminal N.) के प्रथम और दूसरे विभागों अर्थात् नेत्र (ophthalmic & masseteric) और चर्वणक विभागों के वितरण के अनुसार होती है : अर्थात् इन दोनों विभागों की शाखाओं के मार्गों के पास-पास ही वाहिकार्बुद पाये जाते हैं। मस्तिष्क की प्रान्तस्था में भी वाहिकार्बुद उसी ओर होते हैं जिस ओर आनन आदि पर रंजित क्षेत्र होता है। इससे

शरीर के दूसरे ओर का अर्धाङ्गघात (hemiplegia) हो सकता है। ६० प्रतिशत व्यक्तियों में मानसमन्दता पाई जाती है।

विकृति (pathology)—वाहिकार्वुदों के नीचे स्थित मस्तिष्क की प्रान्तस्था के भाग का शोष (atrophy) हो जाता है, वहाँ की कोशिकायें नष्ट हो जाती हैं। अर्धाङ्गघात का यही कारण होता है। शिर के एक्स-रे चित्र में विस्तृत क्षेत्रों में कैल्सीभवन (calcification) दिखाई देता है जो प्रमस्तिष्क (cerebrum) के ललाट (occipital) प्रान्त में विशेषतया अधिक होता है। यह वहाँ के प्रान्तस्था के नष्टप्राय हो चुकने का सूचक होता है। कैल्सीभवन के कारण वहाँ के कर्णक (gyri) और परिखायें (sulci) स्पष्टतः चिह्नित हो जाती हैं।

निदान—आनन, ग्रीवा तथा माथे पर रंजित क्षेत्र और वाहिकार्वुदों को अँगुलियों द्वारा प्रतीत करने से निदान स्पष्ट हो जाता है। फिर करोटि का एक्स-रे चित्र, दूसरे ओर का अर्धाङ्गघात अथवा उधर आक्षेपकों (convulsions) का होना निदान को निश्चित कर देता है। मानसमन्दता से निदान का और भी समर्थन होता है।

फिर मस्तिष्क का E. E. G. (electro-encephalogram) से पता लगेगा कि कैल्सीभूत क्षेत्रों की सक्रियता अत्यल्प है अथवा है ही नहीं। यदि वाहिकाचित्रण (arteriogram) लिया जा सके तो वाहिकाओं में कैल्शियम एकत्र हुए चित्र में दिखाई देंगे।

चिकित्सा—यदि आक्षेपक होते हों तो उनकी औषधियों द्वारा चिकित्सा की जा सकती है। यदि वे न रुकें और अर्धाङ्गघात तथा मानस-मन्दता दोनों दशायें उत्पन्न हो चुकी हों अथवा उनका प्रारम्भ हो तो गोलार्धोच्छेदन (hemispherectomy) करना उचित होगा। इस कर्म में सम्पूर्ण प्रमस्तिष्क का एक ओर का आक्रान्त भाग काटकर निकाल दिया जाता है।

लघु शिरस्कता
(Microcephaly)

इस दशा में शिर बहुत छोटा होता है और उसकी आकृति भी विशेष प्रकार की होती है; साथ ही मानसमन्दता होती है।

हेतुकी—एक विरल अप्रभावी जीन इस दशा का कारण माना जाता है जिससे मस्तिष्क की वृद्धि रुक जाती है। जहाँ वर और वधू के परिवार सम्बन्धी (relations) होते हैं उनमें यह दशा अधिक पायी गयी है।

विकृति—प्रमस्तिष्क (cerebrum) के गोलार्धों की वृद्धि न होने से सारा मस्तिष्क छोटा रह जाता है और १००० ग्राम से अधिक नहीं बढ़ता। ललाट खण्ड अनुमस्तिष्क (cerebellum) के ऊपर तक नहीं पहुँचता। जिससे सारा मस्तिष्क निम्न श्रेणी के जन्तुओं के मस्तिष्क के समान दीखता है। अनुमस्तिष्क प्रमस्तिष्क के समानुपात (proportion) में बड़ा दीखता है। ६ मास के शिशु में ३२५ ग्राम भार के मस्तिष्क की रिपोर्ट मिली है। संकलन और परिखायें (gyri and sulci) बहुत कम होती हैं। तन्त्रिका कोशिकाओं की संख्या विशेषतया कम होती है। उनका परिवर्धन भी नहीं होता तथा आकार भी विकृत होता है। तन्त्रिकातन्तु (nerve fibres) भी अल्प होते हैं।

लक्षण और चिह्न

शिर का लघु आकार प्रथम स्पष्ट नहीं होता। ज्यों-ज्यों बालक की आयु बढ़ती है त्यों-त्यों उसकी लघुता स्पष्ट होती जाती है। शिर की परिधि (circumference) १७ इञ्च से अधिक नहीं बढ़ती। जन्म के समय अन्तराल (fontanelles) बन्द हो सकते हैं; उनके अस्थिभवन से मस्तिष्क की वृद्धि का स्थान नहीं रह जाता। शिर की आकृति विशेष प्रकार की हो जाती है; ललाट संकुचित और प्रतिसरित (receding)–पीछे को जाता हुआ होता है। ललाट चपटा, शिर के पार्श्व ऊपर को ढलवाँ, कटक (ridge) के समान नुकीले शीर्ष (pointed vertex) में जाकर मिल जाते हैं। आनन तथा अधोहनु सुडौल होते हैं।

सारी शारीरिक वृद्धि अल्प होती जिससे बालक या व्यक्ति छोटे आकार का दीखता है। वाक् शक्ति (speech) सदा विलम्बित होती है; शिशु गूँगा हो सकता है अथवा वाक्‌दोष (defect of speech) हो सकता है। ३३ प्रतिशत को आक्षेपक (convulsions) होते हैं। माँसपेशियों में सदा अतितानता (hypertonus) होती है, यद्यपि वह संस्तम्भता (spasticity) नहीं होती। मानसमन्दता सदा होती है और प्रायः बालक अतिमानसमन्द होते हैं (severely retarded)।

माता-पिता पूर्णतया स्वस्थ होते हैं। उनमें कोई मानसिक या शारीरिक त्रुटि नहीं होती। किन्तु कई बालक इस दशा से ग्रस्त हो सकते है। कुछ बालक सामान्य स्वभाव के हो सकते हैं। किन्तु अधिकतर उग्र स्वभाव वाले और तोड़फोड़ करने वाले होते हैं

निदान—शिर की आकृति तथा अन्तरालों का अस्थिभवन और मानसमन्दता इस दशा का निश्चित निदान करने वाले लक्षण हैं।

प्राग्ज्ञान—जिनमें तीव्र मानस हानि हो चुकी है उनमें उन्नति की कोई आशा नहीं की जा सकती। जिनमें मानसक्षति विशेष नहीं हुई है उनमें सफलता संभव है।

चिकित्सा—कोई विशिष्ट चिकित्सा नहीं है। ऐसे बालकों को संक्रामक रोग अधिक होते हैं। उनसे उनकी रक्षा का प्रबन्ध करना उचित है। पुनःस्थापन की योजना को कार्यान्वित करने का सतत् प्रयत्न आवश्यक है।

शंकुशीर्षता या ऐक्रोसिफेली
(Acrocephaly)

इस विकृति के और भी कई नाम हैं। ओकसीसिफेली, कपालसंकीर्णता (craniostenosis); towerhead भी बोलचाल की भाषा में कह देते हैं।

इसकी विशेषता यह है कपाल बहुत ऊँचा होता है। उसकी वृद्धि ऊपर की ओर को होती है जिससे वह शंकु के समान दिखता है। इस कारण उसको शंकुशीर्ष कहा गया है।

हेतुकी—इस दशा का कारण एक प्रभावी जीन (dominant gene) माना जाता है जो सदा प्रभाव नहीं करता, कुछ सन्तति में प्रभाव प्रकट होता है, कुछ में नहीं। यह दशा पारिवारिक अवश्य है, किन्तु सब बालकों में स्पष्ट नहीं होती। कुछ बालक स्वस्थ और सामान्य होते हैं।

विकृति—शीर्ष के विकृत रूप का कारण कपाल की अस्थियों का काल-पूर्व आपस में जुड़ जाना है। सीवनियाँ यथोचित समय से पूर्व ही अस्थिभूत (ossified) हो जातीं। कपालास्थियों के बीच सामने की ओर ललाटास्थि और दोनों पार्श्विकास्थियों के बीच किरीटी सीवनी (coronal suture), दोनों पार्श्विकाओं के बीच आगे से पीछे को जाती-हुई अग्रपश्च (sagittal) और पीछे की ओर दोनों पार्श्विकाओं और पश्चकपालास्थि (occipital) के बीच काकपद या लैम्बडाइड (lambdoidal) सीवनी—इन तीनों सीवनियों में अस्थिभवन अतिशीघ्र ही प्रारम्भ हो जाता है और अस्थियाँ आपस में जुड़ जाती हैं। इस कारण मस्तिष्क की वृद्धि ऊपर की ओर को होती है और कपाल ऊपर को उठता जाता है। इसमें कितने ही बालकों के मस्तिष्क तथा मस्तिष्क केन्द्रों द्वारा होनेवाली जीवनक्रियाओं में कोई बाधा

नहीं पड़ती, किन्तु बालकों में कपालाभ्यन्तर भार (intracranial pressure) बढ़ जाता है और मानसमन्दता प्रकट हो जाती है।

लक्षण—विकृति बहुत स्पष्ट होती है : शीर्ष बहुत ऊँचा, पतला (चौड़ाई कम), भ्रू के ऊपर की अस्थिकटक (superciliary ridges) तथा दोनों ललाटोत्सेध (frontal emminence) अति अस्पष्ट। दोनों नेत्रगुहायें उथली होती हैं, अर्थात् सामान्यतया गहरी न होने से उनमें स्थान कम होता है जिससे नेत्रों का सामने की ओर को उत्सेधित (exophthalmos) रहते हैं, उनकी स्थानच्युति (dislocation) होती देखी गई है। भैंगापन (strabismus) होता है, दोनों नेत्र बाहर को घूमे हुए रहते हैं। दृष्टिहीनता बढ़ती जाती है जिसका कारण भार वृद्धि से दृष्टि तंत्रिका का अपक्षय (atrophy of optic nerve) होता है। इससे शिरपीड़ा भी होती रहती है।

चिकित्सा—रोग की कोई औषधि नहीं है। शस्त्रकर्म द्वारा अस्थियों को पृथक करके उनके बीच के अन्तरावकाश को बढ़ा कर कपाल के भीतर तथा मस्तिष्क के भीतर के भार को कम करने का उद्योग किया गया है। कुछ में सफलता हुई है।

२–क्रोमोसोमों की अपसामान्यतायें
(Abnormalities of Chromsomes)

१. ऑटोसोमल (अलिंगी) क्रोमोसोम जनित विकार।

डाउन का संलक्षण (Down's Syndrome; Mongolism)

गत पृष्ठों में जो मानसमन्दता युक्त रोगों का उल्लेख किया गया है वे सब जीन के विस्थापन या अस्तव्यस्तता के कारण उत्पन्न होते हैं। अगले पृष्ठों में जिस दशा का वर्णन किया गया है वह क्रोमोसोमों की अपसामान्यता से प्रकट होती है।

डाउन संलक्षण या **मंगोलता** को शिशु के जन्म के समय पहचाना जा सकता है। इसका प्रथम वार सन् १८८६ में डॉक्टर लैंग्डन डाउन (Dr. Langdon Down) ने वर्णन किया था। इस कारण उन्हीं के नाम पर इस संलक्षण का नामकरण किया गया है। इसको **ट्राइसोमी २१ असंगति** (trisomy 21 anomaly) भी कहा जाता है, क्योंकि २१-२२वें समूह में एक क्रोमोसोम अधिक होता है। नवजात शिशु का आनन चपटा सा दीखता है, आनन की प्रमुखतायें इतनी स्पष्ट नहीं होतीं जितनी

सामान्य शिशु में मिलती हैं। पश्चकपालास्थि (occiput) भी चपटी होती है। शीर्ष सूचकांक (cephalic index)—शीर्ष की अधिकाधिक चौड़ाई × १०० । इसके फल को शीर्ष की अधिकाधिक से विभाजित करने से शीर्षसूचकांक निकाला जाता है। करोटि अन्तराल (fontanelles) विस्तृत होते हैं। नासिका छोटी, चपटी। कान विकृत। नेत्रच्छद रन्ध्र (palpebral fissure) टेढ़ा, गर्दन छोटी और चौड़ी।

इन विशेपताओं के कारण जन्मते समय ही शिशु की दशा का बहुत कुछ पता चल जाता है। सन्देह होने पर अन्य परीक्षणों द्वारा इस दशा का निर्णय कठिन नहीं होता। इसके साथ ही मानसमन्दता होती है जो किसी भी प्रकार की हो सकती है। बुद्धि-माप (I. Q) के अनुसार वह अतिमन्द हो, मध्यमन्द हो अथवा अल्पमन्द हो। यह केवल बालक के बड़े हो जाने पर मालूम हो सकता है।

हेतुकी (Etiology)—ट्राइसोमी, ३ क्रोमोसोमों की २१-२२ समूह में उपस्थिति के अतिरिक्त इस दशा का अन्य कोई कारण नहीं मालूम हुआ है। अन्य किसी प्रकार की विकृति (pathology) किसी अंग में नहीं मिली है। और यह क्रोमोसोमों की असंगति सब ही रोगियों में पाई जाती है। अतएव इस असंगति ही को रोग का कारण माना गया है।

यह असंगति कोशिका विभाजन (cell division) के समय उत्पन्न होती है जब क्रोपोसोमों का पुनर्विन्यास (rearrangement) होता है। क्रोमोसोम जोड़ो में स्थित रहते हैं। विभाजन के समय प्रत्येक क्रोमोसोम दो भागों में विभक्त हो जाता है जो क्रोमेटिड (chromatid) कहलाते हैं। इनमें से आधे क्रोमेटिड कोशिका के ऊर्ध्व ध्रुव और शेष आधे निम्न ध्रुव पर एकत्र होकर, फिर से लम्बे होकर पूर्ण क्रोमोसोम बन जाते हैं तथा जोड़ों में स्थित होकर गुच्छों के रूप में नवीन कोशिका के केन्द्रक (nucleus) का आकार धारण करते हैं। इस पुनर्विन्यास के क्रम में एक क्रोमेटिड या क्रोमोसोम का दूसरे क्रोमोसोम के जोड़े के साथ संयुक्त हो जाने से ट्राइसोमी नामक असंगति की उत्पत्ति मानी जाती है। इस घटना को किसी ने देखा नहीं है किन्तु इस व्याख्या से असंगति का निरूपण हो जाता है।

यह पाया गया है कि माता की वय के साथ-साथ इस असंगति की भी वृद्धि होती जाती है। जहाँ २० वर्ष की माताओं में २३०० में से १ में यह असंगति पाई जाती है, उनकी सन्तान मंगोलता ग्रस्त होती है, वहाँ ४५ वर्ष वय की माताओं में प्रत्येक ५४ में से १ में यह दशा मिलती है।

आघटन (incidence)—६००-७०० शिशुओं में १ मंगोल शिशु जन्मता है।

चिह्न और लक्षण

जन्म के समय

शिशु का **शिर** लघु और शरीर का आकार भी लघु ही होता है, नेत्रों की विशेषता अवश्य ही प्रसव कराने वाले को आकर्षित किये विना नहीं रहती। नेत्र वन्द होते हैं और टेढ़े स्थित दिखाई देते हैं। उनका भीतर का कोना (inner canthus) नासिका की ओर नीचा स्थित होता है, जहाँ से नेत्रच्छदों के बीच का रन्ध्र (palpebral fissure, पलकों के वीच का अन्तर स्थान) तिर्यक (oblique) दिशा में बाहर और ऊपर को जाकर वहिः नेत्र कोण (outer canthus) पर अन्त होता है जिसकी स्थिति अन्तर्नेत्रकोण से ऊँची होती है। इस कारण नेत्र तिर्यक दिखाई देते हैं। **नासिका मूल** तथा समस्त नासिका चपटी दीखती है। यद्यपि **ओष्ठ** और **जिह्वा** सामान्य होते हैं तथापि जिह्वा मुख से बाहर को निकली रहती है। शिशु की **पेशियाँ** अशक्त सी दीखती हैं, शरीर निढाल, ढीला-ढाला प्रतीत होता है, स्फूर्ति नहीं होती। शरीर पर **त्वचा** की अधिकता दिखाई देती है जिससे उसमें झुर्रियाँ पड़ी रहती हैं। **माथा** छोटा होता है, **कपाल** पर **बाल** बहुत नीचे तक उगे रहते हैं जिससे वह माथा बहुत कुछ ढँक जाता है। **हाथ** की लघु अँगुलि, कनिष्ठिका (little finger) भीतर को मुड़ी हो सकती है। अनेक शिशुओं में पाँव के अँगूठे और दूसरी अँगुली के बीच बहुत अन्तर होता है।

अगले वर्षों में अधिक वय होने पर

शरीर का लघु आकार स्पष्ट हो जाता है। **शिर** की विरूपता भली-भाँति दीखती है। **माथा** छोटा होता है। **अस्थियाँ**, विशेषतया दीर्घ अस्थियों की वृद्धि अपूर्ण रह जाती है जिससे बालक का धड़ (trunk) तो सामान्य दीखता है, किन्तु बाहु और टाँगें छोटी रह जाती हैं; अस्थियों की वृद्धि रुक जाने से वे वामनसम दिखाई देती हैं। इससे शिशु के बाहु और टाँगें छोटी-छोटी और शरीर का मध्य भाग सामान्य दीखता है। **करोटि** (skull)—अग्रपश्च दिशा में लघु और ऊँचाई में अधिक—ऐसी दीखती है। वह अग्र-पश्च व्यास (anterior—posterier) में वृद्धि नही कर पाती; इस कारण ऊपर को ऊँचाई की ओर बढ़कर उस कमी की पूर्ति करने का उद्योग करती है। इस दशा को brachecephaly कहा जाता है। **करोटि-**

अन्तराल (fontanelle) के भरने या वन्द होने में बहुत विलम्ब होता है। अग्र अन्तराल (anterior fontanelle) जो ललाटास्थि (frontal) और दो पार्श्विकास्थियों (parietals) के बीच में स्थित है, ८ वर्ष की वय में वैसा ही पाया गया है। **नेत्रों** का रूप वहुधा जन्म के समय ही का सा रहता है—तिर्यक नेत्र होते हैं, और उनमें अधिकोण पुटक (epicanthic folds) प्रायः पाये जाते हैं। लेन्स में अपारदर्शिताएँ (lens opacities) साधारणतया उपस्थित होती है। भेंडापन अथवा तिर्यक दृष्टि (strabismus) तथा अक्षिदोलन (nystagonus) भी होते हैं; व्यक्ति अपने नेत्रों को स्थिर नहीं रख सकता। वे प्रतिक्षण ऊपर नीचे या इधर-उधर को चलते रहते हैं; नेत्रश्लेष्मला शोथ (conjunctivitis) वर्त्मान्तशोथ (blepharitis) तथा वहिर्वर्त्मता (ectropion) भी रोगी को कष्ट देते रहते हैं। **नासिका** की अस्थियों का प्रायः अपूर्ण परिवर्धन होता है; कभी-कभी कोई अस्थि होती ही नहीं। नासिका मूल चौडा और चपटा होता है। व्यक्ति को नासिका के रोग सदा वने रहते हैं। नासास्राव निरन्तर होता रहता है। **ओष्ठ** (lips) शुष्क, उन पर पपडी एकत्र, तथा फटे (cracked) रहने हैं। **मुख** छोटा, उससे राल वहती रहती है। नासा-विकारों के कारण बालक मुँह से श्वास लेता है। **जिह्वा** मुख से बाहर लटकती हुई उस पर मैल एकत्र तथा दरारें पड़ी होती है। **दाँत** प्रथम तो देर से निकलते हैं, निकलने का क्रम भी अस्तव्यस्त होता है और विकारग्रस्त रहते हैं।

ग्रीवा (neck) ह्रस्व किन्तु चोड़ी होती है और स्कंध (shoulders) ढलवाँ (sloping) होते हैं। **उदर** (abdomen) बहुधा सामने को वढ़ा हुआ होता है तथा नाभि हर्निया (umbilical hernia) उपस्थित होती है। ऐसे बालकों तथा व्यक्तियों में ग्रहणी वद्धान्त्र (duodenal obstruction) असाधारण नहीं है। **त्वचा** जो शैशवकाल में चिकनी और स्निग्ध थी, अधिक वय होने पर मोटी और रूक्ष हो जाती हैं। वहुधा त्वचा के विकार उपस्थित होते हैं। किन्तु वाल्यकाल के समान अव भी ऐसा दीखता है जैसे त्वचा अत्यधिक हो; उसकी प्रचुरता विशेषतया मणिवंध (wrists), गुल्फ (ankles), स्कंध (shoulders), और ग्रीवा में अधिक होती है। प्रायः त्वचा के विकार बने रहते हैं। **हाथ** चौड़े और लघु और अंगुलियाँ भी ह्रस्व होती हैं। **पाँव** भी चौड़े और लघु और अंगूठे और दूसरी अंगुलि के बीच बहुत अन्तर होता है।

पेशियों की अशक्तता वैसी ही होती है जैसी शैशव काल में थी। यह दशा **अल्पतानता** (hypotonia) कहलाती है। तान (tone) की अल्पता पेशियों की क्रियाशक्ति की हीनता की दर्शक होती है। इस कारण बालक की सभी चेष्टायें विलम्बित (delayed) होती हैं। वे समन्वित (coordinated) भी नहीं होती, बालक गतियों को उपयुक्त क्रम से नहीं कर पाता। इस कारण वह बैठना, घुटलियों चलना अथवा चलना बहुत देर से सीखता है। फिर भी गतियाँ सुचारु रूप से नहीं होती। ५०% बालकों के चलने का ढंग असामान्य होता है, चाल में कुछ न कुछ दोष होता है। वे ठीक प्रकार से नहीं चल पाते।

मैथुन अंग (sexual organs) अविकसित दशा में रह जाते हैं। पुरुष में बाह्य जननेन्द्रियों का परिवर्धन नहीं होता। स्त्रियों के बाह्य अंगों पर बसा (fat) एकत्र होने से वे स्थूल होते हैं। आन्तरिक अंग—गर्भाशय, डिम्बग्रंथि (ovary) आदि भी शैशवावस्था से अधिक नहीं परिवर्धित होते। गौण लिंगसम्बन्धी लक्षणों (secondary sexual symptoms) का विकास नहीं होता। इस कारण यौवनावस्था का प्रारम्भ सदा विलम्बित होता है।

हृदयसंबन्धी अपसामान्यतायें (cardiac abnormalities) बहुत मिलती है। ४०–६०%बालकों के हृदयों में कुछ न कुछ रचनात्मक दोष उपस्थित होता है। इसी कारण अधिकतर ऐसे बालकों की प्रथम वर्ष में मृत्यु हो जाती हैं।

मस्तिष्क (brain) भी छोटा होता है। बुद्धिलब्धि (I. Q.) २० से ७० तक हो सकती है। अतएव मंगोलों में सब ही प्रकार के मानसमन्द पाये जाते हैं, अतिमन्द से लेकर अल्पमन्द तक। जिनकी बुद्धि लब्धि ७० होती है वे पढ़-लिख सकते हैं, प्रशिक्षण (training) से कला सीख सकते हैं और मार्गदर्शन करने पर जीविकोपार्जन कर सकते हैं। मंगोलों में सब ही प्रकार के सांवेदनिक अनुभवों की (sensory perceptions) अल्पता होती है; पीडा (pain), स्पर्श (touch), गन्ध (smell), स्वाद (taste) इन सब के अनुभव की शक्ति का ह्रास होता है। किन्तु भूख, प्यास, जी मिचलाना तथा आन्त्र और मूत्राशय सम्बंधी प्रतिवर्त (reflexes) उपस्थित होते है। उच्च बुद्धिलब्धि (७०) वालों की सामाजिक लब्धि (S. Q.) भी उनकी मानसिक वय से कुछ अधिक होती है।

परिवर्धन (development)—मंगोलता ग्रस्त बालकों का परिवर्धन सामान्य बालक की अपेक्षा मन्द होता है। शारीरिक और मानसिक दोनों

ही प्रकार की वृद्धि बिलम्बित तथा अल्प होती है। यह पाया गया है कि वृद्धि पर वातावरण, पारिवारिक स्थिति तथा व्यवहार का बहुत प्रभाव पड़ता है। अनुकूल उत्तम वातावरण से बालक की दशा में सन्तोषजनक सुधार अल्प समय में ही स्पष्ट हो जाता है। पौष्टिक रुचिकर आहार, स्वच्छ स्वस्थ निवास स्थान, शारीरिक स्वास्थ्य आयोजन, स्नेहपूर्ण व्यवहार, बालक को यह अनुभव होना कि उसको सब चाहते हैं; ऐसे वातावरण से बालक में विशेष शारीरिक और मानसिक उन्नति होती है।

मानसिक वृत्तियाँ—डाक्टर लैंगडन डाउन ने, जिन्होंने इस **दशा** का प्रथम वर्णन किया था, लिखा है 'कि इन बालकों में नकल (imitation) की बहुत आदत होती है, जो अनुकृति ही (mimicry) मालूम होती है। वे आमोदी और हास्यप्रिय होते हैं। किन्तु दुर्व्यवहार से, या जिसको वे अनुचित समझते हैं, वे शीघ्र ही कुपित हो जाते हैं और मारपीट करने लगते हैं।" अन्य कितने ही अन्वेषकों का भी यही मत है।

निदान—प्रसव के समय जो शिशु की आकृति होती है वही चिकित्सक को सतर्क करने के लिये पर्याप्त है। शिशु के शिर की रचना, नेत्रों की तिर्यकता, त्वचा की अधिकता और शिशु का अपेक्षतः लघु आकार मंगोलता के सूचक हैं। इसके पश्चात् पूर्ण शारीरिक परीक्षा और ऊतक तथा कोशिका परीक्षाओं (biopsy, cytological examination) से शिशु की दशा के निदान का समर्थन हो सकता है। क्रोमोसोम परीक्षा से निदान का निश्चय हो जाता है।

प्राग्ज्ञान (Prognosis)—शिशुओं में जन्म के समय जो अंगों में विकार होते हैं अथवा शारीरिक असंगतियाँ और अपूर्णतायें होती हैं उनके कारण उनके जीवन सदा संकटमय तथा सन्देहास्पद होते हैं। जो बालक प्रथम दो या तीन वर्ष पार कर जाते हैं उनके युवावस्था प्राप्त करने और सामान्य सांसारिक जीवन व्यतीत करने का बहुत अवसर रहता है। किन्तु उनकी वृद्धि और जीवन सफलता अनुकूल पारिवारिक वातावरण और प्रशिक्षण पर निर्भर करती है। माता-पिता का स्थिति को भली भाँति समझना और जो स्थिति और समस्यायें उनके सामने उपस्थित हैं, उनकी पूर्ति के लिये जो योजनाएँ आवश्यक हों उनको कार्यान्वित करने की सामर्थ्य बालक के भावी जीवन के आधार हैं। सबसे अधिक उनको धैर्य की आवश्यकता होगी। उनका भार असीम है, किन्तु उन्हीं पर बालक के भावी जीवन की उपयोगिता निर्भर करती है।

मंगोलताग्रस्त बालकों में बहुधा हृदय तथा रक्तसंवहन सम्बंधी अपूर्णतायें पाई जाती हैं। ऐसे बालकों का जीवन अनिश्चित होता है। किसी समय भी उनमें परिसंचरण निपात (circulatory collapse) हो सकता है। श्वास सम्बन्धी संक्रामक रोग भी उनको बहुत होते हैं जो बहुधा घातक होते हैं। विस्फोटक रोग (exanthemata) विशेषकर मसूरिका (measles) भी उनके लिये भयंकर होते हैं। उनको ल्यूकीमिया (lukaemia) रोग भी बहुत होता है।

चिकित्सा—इस दशा को दूर करने की कोई चिकित्सा नहीं है; जो जन्मजात दोष या त्रुटि बालक में है उसका किसी प्रकार निराकरण नहीं किया जा सकता। किन्तु बालक की सहानुभूति युक्त सुश्रूषा से और प्रेममय व्यवहार से उसका जीवन सुधारा जा सकता है। जो अतिमानसमन्द हैं उनके लिये तो जीवन भर संस्थाओं (institutions) में काल यापन करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं।

शैशवावस्था में बालक की किसी चिकित्सक की निरन्तर देखरेख की आवश्यकता है। समय-समय पर डॉक्टर द्वारा शारीरिक परीक्षा तथा मानसिक निर्धारण (intellectual assessment) आवश्यक है। कोई भी असाधारण लक्षण या घटना की तत्काल डॉक्टर को सूचना दी जाय तथा मातापिता या अभिभावक डॉक्टर की आज्ञाओं का पूर्णतः पालन करें, उसके सुझाओं को कार्यपरिणत करें।

डॉक्टर को उचित है कि वह जिन अन्य विशेषज्ञों के साथ परामर्श की आवश्यकता समझे उनसे पूर्ण परामर्श ले। बालक के शारीरिक स्वास्थ्य के लिये वह उत्तरदायी है, वह सब प्रकार से उसकी रक्षा करे। किन्तु प्रत्येक चिकित्सक मानसिक उपचार में दीक्षित नहीं होता। बालक के भावी जीवन के सुधार के लिये क्या-क्या योजनाएँ आवश्यक होंगी, इसके निर्णय के लिए उसको किसी मनोविज्ञानी के परामर्श की आवश्यकता होगी। वास्तव में उसको कितने ही विशेषज्ञों के परामर्श आवश्यक हैं। बहुविध परीक्षा (multidisciplinary approach) या परामर्श की उपयोगिता पहिले बताई जा चुकी है। आवश्यक समझने पर उसको बालक के मातापिता को विशेषज्ञों की ऐसी ही समिति द्वारा परीक्षा और भावी योजनाओं के निर्णय का सुझाव देना चाहिये। और बालक के हित के लिये उनकी पूर्ति का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। मन्दमानस बालक के परिवार का जीवन अस्तव्यस्त हो जाता है। सारा जीवन उथल-पुथल हो जाता है। प्रारंभिक गृह प्रशिक्षण

(home training) द्वारा बालक को आत्म-निर्भरता (self help), अर्थात् स्वयं आवश्यक कर्मों आहार, स्वच्छता, वस्त्र पहनना आदि में शिक्षित करने, सामाजिक व्यवहार और अनुशासन (social behaviour and discipline) में प्रशिक्षण देने तथा खेलों में रुचि उत्पन्न करने से पारिवारिक जीवन बहुत कुछ उन्नत होता है, माता-पिता को भी सुविधा होती है। और तत्पश्चात बालक के स्कूल नियोजन (school placement) के निर्णय में भी सहायता मिलती है। इस सब का उचित सम्पादन चिकित्सक ही पर निर्भर करता है।

ii—लिंगी क्रोमोसोम जन्य विकार

(Sex Chromosome Disorders)

(क) पुरुषों में (in males)

क्लाइनफ़ेल्टर का संलक्षण (Klinefelter's syndrome)

यह दशा पुरुषों में पाई जाती है। इसमें वृषण ग्रन्थियाँ पुरुष हारमोन (male hormone) नहीं बनाती अथवा अल्प मात्रा बनाती हैं जो प्रभाव उत्पन्न करने में असमर्थ होती है। इसके कारण बन्ध्यता (sterility) होती है। पुरुष सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होता है। गौण लिंग चिह्न भी नहीं प्रकट होते।

इसका कारण एक लिंगी क्रोमोसोम अपसामान्यता होती है। व्यक्ति में एक या अधिक लिंग क्रोमोसोम होते हैं (xxy, xxxy, xxxxy).

इस दशा का प्रथम वार वर्णन सन् १९४२ में डॉक्टर क्लाइनफ़ेल्टर और उसके सहयोगी डॉक्टर राइनफ़ेस्टीन और डॉक्टर आल्ब्राइट ने किया था।

चिह्न और लक्षण

जन्म के समय शिशु सामान्य दीखता है। उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं दीखता। उसका शारीरिक परिवर्धन भी सन्तोषजनक होता है। किन्तु उनमें से २५ प्रतिशत मानसमन्द होते हैं। व्यक्ति की दशा का युवावस्था के प्रारम्भ तक पता नहीं लगता जो सदा विलम्ब से प्रकट होती है।

ऐसे व्यक्तियों की बाहुओं और टाँगों के अधिक लम्बे होने के कारण वे लम्बे दिखाई देते हैं। बाल्यकाल में शिश्न की वृद्धि अल्प होती है। किन्तु युवावस्था प्राप्त होने पर वृद्धि होकर शिश्न का आकार सामान्य हो जाता है। वृषण ग्रन्थियों की वृद्धि कम होती है जिससे वे लघु आकार की होती हैं;

पुरस्थग्रन्थि (prostate) भी छोटी होती है। शरीर पर रोम भी बहुत थोड़े होते हैं। दाढ़ी के बाल भी अधिक नहीं उगते। बहुत से कन्याओं के समान दीखते हैं। मैथुन प्रवृत्ति अत्यल्प होती है। स्त्री-जाति की ओर विशेष आकर्षण नहीं होता। ३० प्रतिशत में स्तनवृद्धि (gynecomastic) होती है। वृषण में एन्ड्रोजनों (androgens) की उत्पत्ति नहीं होती जिससे वे वन्ध्य होते हैं। मूत्र में पिच्यूटरीजन्य गोनेडोट्रोफिन (gonadotrophin) की बहुत मात्रा निकलती रहती है, किन्तु वह ऐन्ड्रोजन (androgens) उत्पत्ति को नहीं उत्तेजित कर पाती।

इस दशा से ग्रस्त व्यक्ति—मानसमन्द तथा सामान्य दोनों प्रकार के—प्रायः शान्त स्वभाव के, नम्र और आज्ञाकारी होते हैं।

इस दशा के कई प्रकारों का उल्लेख किया गया है। xxy प्रकार की दशा सबसे अधिक पायी जाती है जिसमें दो पुरुष क्रोमोसोम (xx) होते हैं। तीन और चार पुरुष क्रोमोसोमो (xxxy xxxxy) की दशाओं का भी उल्लेख किया गया है। यह पाया गया है कि जितनी अपसामान्यता अधिक होती है बालक उतना ही अधिक मानसमन्द होता है।

निदान—कपोलिक आलेप (buccal smear) और वृषण ग्रन्थि की ऊतक परीक्षा (biopsy) से दशा का निश्चय होता है।

चिकित्सा—इस दशा से ग्रस्त व्यक्तियों में जो मानसमन्द होते हैं वे शान्त, आज्ञाकारी और स्त्री जाति के प्रति उदासीन पाये जाते हैं। इस कारण उनकी चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती। उनको उसी दशा में रहने देना उचित है।

जिन व्यक्तियों की बुद्धि लब्धि (I. Q.) सामान्य होती है उनकी चिकित्सा की आवश्यकता होती है क्योंकि वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अनुरक्त होते हैं। उनकी चिकित्सा कृत्रिम प्रकार से, जिस हारमोन की उनमें कमी है उसको उनके शरीर में पहुँचाना है। बाजार में ऐसे कई रासायनिक विधियों द्वारा तैयार किये हुए योग हैं जो ठीक वृषणों से उत्पन्न हारमोन के समान होते हैं; उनका शरीर पर वैसा ही प्रभाव होता है जैसा वृषणजन्य हारमोन का। उसको इंजेक्शन द्वारा उपयुक्त मात्रा में शरीर में प्रविष्ट करना होता है। यह प्रतिस्थापन चिकित्सा (substitution therapy) कहलाती है।

इससे व्यक्ति को बहुत लाभ होता है। वे सामान्य मैथुनी जीवन व्यतीत कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त उनमें पुरुषत्व के गौण लक्षण भी प्रकट हो

जाते हैं। त्वचा पर रोम निकल आते हैं, दाढ़ी और मूँछ भी दीखने लगती है। वाणी (voice) में अन्तर आ जाता है और व्यक्ति शरीर में स्फूर्ति और ऊर्जा प्रतीत करता है। काम करने का उत्साह बढ़ जाता है। स्वभाव में भी परिवर्तन आ जाता है। उसके चित्त में स्थिरता, दृढ़ता, निश्चय आदि गुण आ जाते हैं, उद्विग्नता, जो प्रायः उसको विचलित कर देती थी, प्रायः जाती रहती है और धैर्य तथा साहस का प्रादुर्भाव होता है।

किन्तु व्यक्ति को बता देना चाहिये कि उसको इस चिकित्सा की जीवन पर्यन्त आवश्यकता होगी। इस चिकित्सा का प्रयोजन केवल प्राकृतिक त्रुटि की पूर्ति करना है। उससे शरीर में जिस वस्तु को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है उस शक्ति की पुनरुत्पत्ति नहीं हो सकती। अतएव उसको वह वस्तु निरन्तर बाहर से प्राप्त करते रहना होगा। तथा इस चिकित्सा से उसकी वन्ध्यता दूर नहीं होगी। वह सन्तानोत्पत्ति के कभी भी योग्य नहीं होगा, यद्यपि वह सामान्य मैथुनी जीवन का भोग करता रहेगा।

लिंगी क्रोमोसोम जन्य विकार

(ख) स्त्रियों में

टर्नर संलक्षण (Turner's syndrome)

यह भी लिंगी क्रोमोसोम की अपसामान्यता से उत्पन्न होने वाली दशा है जो केवल स्त्रियों में होती है। उसमें एक X क्रोमोसोम अनुपस्थित होता है। इसके कारण मैथुनी तथा गर्भोत्पादक अंगों का विकास नहीं होता। डिम्बग्रन्थि के अपरिवर्धित दशा में रह जाने से उसमें स्त्री-हारमोन (estrogens) की उत्पत्ति नहीं होती जिससे स्त्रीत्व के गौण लक्षण (secondary characters) नहीं उत्पन्न होते।

प्रथम बार सन् १९३८ में इसका वर्णन डॉक्टर टर्नर ने किया था। उन्हीं के नाम पर इस दशा का नामकरण है।

चिह्न और लक्षण

जन्म के समय ही शिशु का आकार छोटा होता है। आगे चल कर भी आकार में कोई विशेष वृद्धि नहीं होती। यौवनावस्था में कन्या की ऊंचाई अधिक नहीं होती, जीवन पर्यन्त वैसी ही रहती है। ग्रीवा पर त्वचा प्रायः ढीली होती है; अधिक होने के कारण वह तनी नहीं होती; वह विच्छिन्न (loose) दिखाई देती है। जन्म के पश्चात् कुछ काल—दो-चार मास तक—हाथ और पाव पर शोफ़ (oedema) बना रहता है जिसमें दबाने से

गढ़ा पड़ जाता हैं। चूचुकों (nipples) के बीच अन्तर अधिक होता है। हृदय तथा वाहिकाओं (cardiovascular) में असंगतियाँ (anomalies) वहुधा उपस्थित होती हैं। अनेक वार अस्थियों की रचना पूर्ण नहीं होती। अस्थिसुषिरता प्रायः एक्सरे परीक्षा पर पाई जाती है। मूत्रमार्ग में रचना-दोष उपस्थित हो सकते हैं।

यौवनावस्था के प्रारम्भ के पश्चात् स्त्रीत्व के लक्षणों का अभाव वहुत स्पष्ट होता है। स्तनों की वृद्धि नहीं होती। भगसंधानिका (pubic) के ऊपर के लोम नहीं उगते या अत्यन्त अल्प होते हैं; कक्षों (axilla) के वालों की भी यही दशा होती है। वाह्य जननेन्द्रियों—भगोष्ठ (labia) आदि की भी वृद्धि नहीं होती। गर्भाशय लघु, शैशव (infantile) ही रह जाता है। डिम्वग्रन्थि के स्थान पर केवल एक तान्तव तन्तु का वंध (band of fibrous tissue) होता है। अनार्तव (amenorrhoea) पूर्ण होता है। कन्या को रजोदर्शन और आर्तव कभी नहीं होते। वन्ध्यता स्थायी होती है। मैथुनेच्छा का प्रायः अभाव ही होता है।

इस दशा से ग्रस्त कन्याएँ मृदु और आज्ञाकारी स्वभाव की होतीं हैं। आत्मनिर्भरता का उनमें प्रायः अभाव होता है। उनमें से १० प्रतिशत मानसमन्द होती हैं। किन्तु मानसमन्दता अधिक नहीं होती।

आघटन (incidence)— ९८ प्रतिशत ऐसे गर्भ नष्ट हो जाते हैं; उनका शोषण (absorption) हो जाता है। केवल २ प्रतिशत गर्भावस्था समाप्त करके जन्म लेते हैं और २५०० सामान्य प्रसवों में ऐसे एक शिशु का जन्म होता है।

निदान—पूर्ण क्रोमोसोम संवर्धन (culture) पर ही निश्चय हो पाता है।

चिकित्सा—चिकित्सा उन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित है जिनका उल्लेख गत पृष्ठों में पुरुष-अपसामान्यता के संवध में किया जा चुका है। अपसामान्यता की कोई चिकित्सा नहीं है।

वाल्यकाल में जो भी उपद्रव हों उनकी लक्षणानुसार चिकित्सा की जाय। जो भी शारीरिक कुरूपताएँ मिटाई जा सकें उनका सुधार करने का प्रयत्न करना चाहिये। हृदय सम्वन्धी असंगतियों में सर्जरी द्वारा सुधार करना संभव हो सकता है। ऐसे ही वाणी के दोषों (speech defects) को दूर करने के लिये वाणी विशेषज्ञों की सहायता अपेक्षित है।

१० वर्ष की वय होने पर हारमोन द्वारा प्रतिस्थापन चिकित्सा (substitution therapy) प्रारम्भ कर देनी चाहिये। इससे कन्या के युवतीकाल के आरम्भ होने में सहायता मिलेगी, केवल वयानुसार नहीं किन्तु शारीरिक अंगों की क्रियानुसार (physiological) भी। हारमोन चिकित्सा से कन्या को स्त्रीत्व प्राप्त करने में सहायता मिलती है और उसके व्यक्तित्व का विकास होता है यद्यपि वह सन्तानोत्पत्ति कभी न कर पायेगी। उसकी वन्ध्यता (sterility) किसी प्रकार दूर नहीं की जा सकती।

कन्या के माता-पिता को उनकी भावी सन्तान के सम्बन्ध में परामर्श की आवश्यकता होगी। और कन्या के युवती होने पर, विशेषतया यदि वह विवाह करती है, तो उसको भी विशेषज्ञ की परामर्श अनिवार्य है।

परामर्श अथवा **उपबोधन** (counselling) यहाँ विशेष संज्ञावाचक शब्द है। यह साधारण परामर्श या सलाह लेना नहीं है। इस सन्दर्भ में ये शब्द बड़े महत्व के हैं। इसका अर्थ है विशेषज्ञ से भावी कार्यक्रम के लिये उसके प्रस्ताव प्राप्त करना; वह विशेषज्ञ बतायेगा कि कन्या विवाह करे या न करे; यदि करे तो सन्तानोत्पत्ति न होने पर अपने और अपने पति के मानसिक समाधान के लिये उसका क्या जीवन क्रम हो। मानसिक मन्दता के सब ही प्रकारों में परामर्श का महत्व होता है। बालक की मानसमन्दता का बोध होने पर माता-पिता क्लेश से आक्लान्त हो जाते हैं। उनको स्वयं अपने लिये तथा बालक के लिये विशेषज्ञ से परामर्श प्राप्त करना होता है; अपने लिये-जिससे उनका मानसिक दुख दूर या कम हो; और बालक के लिये जिससे वे भली भाँति समझ लें किस प्रकार वे बालक के साथ व्यवहार करें कि बालक का सब से अधिक हित हो। बालक को घर पर रख कर ही वे बालक का अत्यधिक उपकार कर सकते हैं; अथवा उसको किसी संस्था में रखना अधिक उपयोगी होगा। इस सबका ज्ञान प्राप्त करके उनको उसके लिये अपने को तैयार करना होगा। यह सब **परामर्श** या उपबोधन (counselling) कहा जाता है। इस शब्द का अर्थ केवल सलाह देना है किन्तु मानस मन्दता या मानसोपचार के सम्बन्ध में यह एक विशेष तकनीकी शब्द बन गया है।

xyy संलक्षण (xyy syndrome)

यह भी लिंग क्रोमोसोम अपसामान्यता है जिसमें व्यक्ति में एक y-क्रोमोसोम अधिक होता है; अर्थात्, ४६ के स्थान में ४७ क्रोमोसोम पाये

जाते हैं। यद्यपि यह अपसामान्यता विशेषकर पुरुषों ही में पाई गई है किन्तु कुछ स्त्रियों भी इस अपसामान्यता की रिपोर्ट मिली है।

इस दशा पर अब भी अन्वेषण हो रहे हैं। अन्वेषक विद्वान अभी किसीं निष्कर्ष पर नहीं पहुँचे हैं। कितनी ही प्रकार की विभिन्नतायें पाई गई हैं जिसके कारण इस अपसामान्यता का वर्गीकरण नहीं किया जा सका है। विशेष ज्ञान केवल xxy के ही सम्बन्ध में प्राप्त हुआ है, उस ही का यहाँ वर्णन किया जाता हैं।

यह दशा विशेषतया मनोविकृतिमय (psychopathic) व्यक्तियों में ही पाई गई है, अर्थात्, जिनकी मानसिक प्रवृत्तियाँ स्वस्थ्य, या सामान्य अथवा सामाजिक (social) नहीं थी, जिनमें कुछ मानसिक विकार उपस्थित थे, जिनको समाजविरोधी (antisocial) कहा जाता है। प्रायः सब ही अपराधी थे जो अपराधों (crimes) के कारण न्यायालयों द्वारा दंड पा चुके थे। सन् १९६६ में जो अन्वेषण हो रहे थे, वे सब उन अपराधियों पर किये जा रहे थे जो इंग्लैण्ड के उन अस्पतालों में भरती थे जहाँ अत्यन्त भयंकर अपराधियों को रखा जाता है, जहाँ सुरक्षा का कड़ा प्रबन्ध होता है जिससे अपराधी भागने न पावे। इनको maximum security hospitals कहा जाता है।

लक्षण—इन व्यक्तियों का विशेष लक्षण उनकी अपराधी मनोवृत्ति होती है। उनका यह व्यवहारात्मक अवगुण उनके बाल्यकाल ही से प्रारम्भ होता है। जिन व्यक्तियों पर अन्वेषण किये गये वे दस वर्ष के वय तक छोटे अपराधों, चोरी आदि में दंड पा चुके थे। वे स्वभावतः ही उग्र स्वभाव के नहीं होते, सदा मारपीट पर उतारू नहीं रहते, किन्तु विपरीत रिपोर्टें भी प्राप्त हुई है। वे अपने कृत्य के परिणाम का विचार करने में असमर्थ होते हैं और अपने संवेगात्मक भावों का नियन्त्रण नहीं कर पाते, न तर्क द्वारा भले-बुरे को समझ पाते हैं।

ऐसे व्यक्तियों के पारिवारिक इतिहासों के समीक्षण से परिवार में, माता, पिता, पूर्वजों में ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं पाई जा सकी, न व्यक्ति के भाई-बहिनों में उसका कोई चिह्न मिला। यह दशा सम्पूर्णतः व्यक्तिगत ही पाई गई है। वृषण जन्य हारमोन की त्रुटि पर इस दशा के उत्तरदायित्व का सन्देह किया गया। किन्तु परीक्षा पर अपराधी व्यक्तियों में इस प्रकार की हारमोन-न्यूनता नहीं पाई गई। कुछ विद्वान अस्थि रोगों से इस दशा का सम्बन्ध मानते हैं। किन्तु इस का भी समर्थन नहीं हुआ है।

इन व्यक्तियों में मानसिक विकार के अतिरिक्त जो विशेषता पाई गई है वह उनकी लंबाई है। वे सामान्य व्यक्तियों से लगभग छह इंच (१५ सेन्टीमीटर) अधिक लम्बे होते हैं। यह विशेषता इस प्रकार के प्रत्येक व्यक्ति में पाई जाती है।

उनकी बुद्धि लब्धि (I. Q.) ५० से ऊपर होती है।

चिकित्सा—अभी तक किसी चिकित्सा का ज्ञान नहीं है। xyy के सम्बन्ध में भी अभी अन्वेषण चल ही रहे हैं, निश्चय नहीं हो सका है। उसके कारण तथा निषेध के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। यह आशा की जाती है कि शिशु के जन्म के समय इस दशा का पता चल जाने से बालक की सुधारात्मक योजनाओं और मातापिता के उपबोधन (counselling) द्वारा, बालक का बहुत कुछ सुधार संभव है।

१३–१५ तथा १६–१८ ट्राइसोमी (13–15, 16–18 trisomy)

इस दशा में १३–१५ और १६–१८ समूहों में दो के स्थान में तीन क्रोमोसोम उपस्थित पाये जाते हैं। इन दोनों अपसामान्यता वाले शिशुओं अथवा व्यक्तियों में रचनात्मक असंगतियाँ (anomalies) पाई गई हैं। इन रचनात्मक त्रुटियों के साथ मानसमन्दता सदा उपस्थित होती है।

१०–१५ **ट्राइसोमी** वाले बालकों में ये रचनात्मक त्रुटियाँ पाई गई है :—खण्डोष्ठ (hare-lip), खण्डतालु (cleftpalate), नेत्रगोलक की विरूपताऐं (deformities of eyeball), अंगुलियों की अधिकता, जन्मजात हृद अपूर्णताएँ (congenital heart defects), बाह्य जनेनन्द्रियों की विरूपताएँ (deformities of external genital organs), द्विश्रृङ्गी अथवा द्वि-गर्भाशय (bicornual or double uterus) स्त्रियों में।

१६–१८ **ट्राइसोमी में उपस्थित त्रुटियाँ**—कर्ण विस्थता, नीचे स्थित कान, अतिलघु अधोहनु (micrognathus), उरोऽस्थि की लघुता (small sternum), ऊर्ध्वोष्ठ की लघुता, जुड़ी हुई हाथ की अंगुलियाँ। ऐसे बालकों की प्रायः प्रारंभिक जीवन में ही मृत्यु हो जाती है। किन्तु जो भी जीवित रहे वे सब ही मानसमन्द थे, और वे भी अधिकतर अतिमानसमन्द (severely retarded)

पाँचवाँ परिच्छेद

अपस्मार : मानसमन्दता का अपस्मार से सम्बन्ध

(Epilepsy and its relation to Retardness)

अपस्मार रोग का वर्णन अति प्राचीन ग्रन्थों में पाया जाता है। संसार के सब सभ्य देशों में इस रोग का ज्ञान था और वहाँ के जनसमुदाय का ध्यान इस रोग की ओर विशेषतया आकर्षित था। इसको अनेक नामों से पुकारा जाता था। इसका उग्र रूप होने के कारण बहुधा इसको दैवी प्रकोप का फल माना जाता था। अनेक देशों में या भिन्न-भिन्न काल में इसको संक्रामक रोग समझा गया जो एक व्यक्ति से दूसरे को लग सकता था।

यद्यपि रोग का वास्तविक कारण अभी तक पूर्णतया नहीं मालूम हो सका है, किन्तु इतना ज्ञान प्राप्त किया जा चुका है कि रोग का विशेष लक्षण जिसको 'दौरा' (fit) कहा जाता है, मस्तिष्क से विसर्जित विद्युत धाराओं के प्रवाह के क्रम की अस्तव्यस्तता है। प्रकृति की प्रत्येक क्रिया क्रमानुसार होती है जिसको 'ताल' (rhythm) कहते हैं। मानव शरीर की सब क्रियायें भी तालबद्ध होती है। हृदय, मांसपेशी, मस्तिष्क तथा अन्य ऊतक भी क्रिया करते समय सूक्ष्म विद्युत विसर्जन (electrical discharges) अथवा तरंगे उत्पन्न करते रहते हैं। हृदय की धड़कन के समय ऐसी ही सूक्ष्म तरंगें उत्पन्न होती रहती हैं जिनका एक विशेष क्रम होता है। इस प्रकार मांसपेशी के संकोच के समय उससे विद्युत तरंगें उत्पन्न होती है। मस्तिष्क भी निरन्तर ऐसी ही तरंगें उत्पन्न करता रहता जो उसकी क्रिया की सूचक होती हैं। इन तरंगों का क्रमबद्ध होना ही ताल कहलाता है। जब से इन तरंगों को लेखबद्ध करने की विधि का अविष्कार हो गया है तब से इन अंगों की क्रिया में व्यतिक्रम होने का सहज में बोध हो जाता है। ताल (rhythm) बिगड़ जाती है। उनमें 'अतालता' (dysrythmia) आ जाती है। ये अतालतायें ही अंग के रोगग्रस्त होने की दर्शक हैं। हृदय के रोगों में हृद्-विद्युत् लेख (electrocardiogram), जो संक्षेप में ECG कहा जाता है, हृदय के रोग को बता देता है। इसी प्रकार मस्तिष्क का विद्युत लेख (electroencephalogram), EEG, मस्तिष्क विकारों को दर्शाता है। भिन्न-भिन्न रोगों में अतालता का रूप भिन्न होता है जिससे रोग निश्चय करने में सहायता मिलती है।

यह विषय अब विज्ञान की एक शाखा बन गया है जिसमें सदा अन्वेषण होते रहते हैं।

अपस्मार रोग के संबंध में जितनी ज्ञानवृद्धि हुई है वह बहुत कुछ विद्युत लेख (EEG) की सहायता ही से संभव हुई है।

व्याख्या—मस्तिष्क विद्युत लेख की सहायता से अब अपस्मार की व्याख्या करना संभव हुआ है, यद्यपि उसको अब भी सम्पूर्ण नहीं कह सकते। 'अपस्मार मस्तिष्क से विद्युत विसर्जनों के अकस्मात प्रवाह का प्रवेग (paroxysm) है जिसका विशेष प्राकट्य आक्षेप (convulsion) या अचैतन्य के रूप में अथवा दोनों रूपों में होता है'। इस व्याख्या से स्पष्ट है कि रोग का लक्षण या लक्षणों के प्रकट होने के कारण मस्तिष्क के विकार हैं। किसी कारण से मस्तिष्क के किसी क्षेत्र की कोशिकाओं की क्रियाएँ इतनी उग्र हो जाती हैं कि उनसे उत्पन्न होने वाले विद्युत विसर्जन अत्यन्त वेग से होने लगते हैं। इस कारण वे कोशिकायें शरीर के जिस अंग का नियन्त्रण करती हैं उस अंग की क्रियाएँ इतनी अधिक या उग्र होती हैं कि वे उपयोगी होने के स्थान में विरूप और हानिकारक हो जाती हैं। ये ही आक्षेप के रूप में प्रकट होती हैं।

इस पुस्तक में अपस्मार रोग का वर्णन अभीष्ट नहीं है। उसका मानसमन्दता से सम्बन्ध का अवलोकन मात्र प्रयोजन है। इस कारण रोग का सामान्य ज्ञान कराकर मानसमन्दता की उत्पत्ति में उसका कितना प्रभाव होता है इसका विचार किया जायगा।

अपस्मार का स्वरूप तथा क्रम

दौरा, ग्रह, आक्रमण—Fit (दौरा), seizure (ग्रह), ये ही दो शब्द अधिक प्रयोग किये जाते हैं। साधारण बोल चाल में दौरा या fit कहा जाता है। ग्रह या seizure वैज्ञानिक भाषा का शब्द है। एक आक्रमण या दौरा प्रारंभ से लेकर उसके समाप्त होने तक एक ग्रह (seizure) है।

यह दौरा या ग्रह ही अपस्मार का विशेष लक्षण है। सामान्य बोलचाल में अपस्मार से प्रयोजन ही ग्रह या आक्षेप (convulsion) होता है। किन्तु अपस्मार के रूपों में इतनी भिन्नता पाई जाती है कि किसी एक रूप को उसका अभिलक्षण (characteristic) नहीं कहा जा सकता। वह मस्तिष्क की विकृति का परिणाम है। विकृत क्षेत्र जितना परिमित होगा लक्षण भी उतना ही मृदु या परिमित होगा। विकार के विस्तृत होने पर लक्षण शरीर के उतने ही विस्तृत क्षेत्र में प्रकट होंगे तथा उग्र होंगे।

अचेतनता अल्पस्थायी, क्षणिक या चिरस्थायी हो अथवा तनिक भी न हो। अपस्मार के लघु रूप में लक्षण इतने मृदु अथवा अल्पस्थायी होते हैं कि उनकी ओर ध्यान भी नहीं जाता। क्षणिक स्थिर दृष्टि, पलकों का न झपकना, तथा नाममात्र को स्मृति लोप, जिनको कभी चिकित्सक तक नहीं पहचान पाता, इनके अतिरिक्त और कोई लक्षण नहीं होते।

हेतुकी (aetiology)—यद्यपि यह अति प्राचीन रोग है और गत ५० वर्षों में इस पर अनुसन्धान भी बहुत हुये हैं, तो भी रोग के कारण अज्ञात हैं।

आनुवंशिकता (heredity) पर पहले बहुत महत्त्व दिया जाता था। अनेक बार के सर्वेक्षणों (surveys) में इस मत की पुष्टि के प्रमाण नहीं मिले। तीन सर्वेक्षणों में २०%, २३% और ३४.२% रोगियों में परिवारिक संबंध मिले।

प्रसवपूर्व और प्रसवोत्तर तथा बाल्यकाल और आगे जीवन में भी करोटि अभिघातों में मस्तिष्कक्षति होने से रोग उत्पन्न हो सकता है। क्षति कहीं भी हो सकती है, मस्तिष्क के किसी भी अंश में परिमित हो सकती है। मस्तिष्क के विस्तार को देखते हुए और उसके द्वारा शरीर की जितनी क्रियाओं का नियन्त्रण होता है उनको दृष्टिगत करते हुए यह स्वाभाविक ही है कि अपस्मार या ग्रह के रूपों में इतना अन्तर पाया जाय कि कोई दो ग्रह समान न हों। सारे मस्तिष्क में वितरित २२० करोड़ कोशिकाओं में से जो भी कोशिकायें क्षत होंगी उन्हीं के द्वारा नियंत्रित क्रियाओं में विकार दिखाई देंगे। मस्तिष्क के प्रेरक (motor) क्षेत्र में बाहु के नियन्त्रण क्षेत्र के अभिघात से बाहु का अंगघात (paralysis) हो जायगा या बाहु की पेशियों में आक्षेप होंगे। उसके समीप ही संवेदन (sensory) क्षेत्र के अभिघात से संवेदन (sensations) विकृत होंगे या लुप्त हो जायेंगे। तदनुसार प्रत्येक क्षेत्र की क्षति विशेष लक्षणों द्वारा अभिव्यक्त होगी।

यद्यपि इतना निश्चय हो गया है कि मस्तिष्क के कोशिका-समूहों से उत्पन्न हुए विद्युत विसर्जन के व्यतिक्रम, उनकी दुस्तालतायें (dysrhythmias) अपस्मार या ग्रहों के लक्षण के रूप में प्रकट होती हैं, अर्थात् अपस्मार एक प्रकार के लक्षणपुंजों का नाममात्र है, स्वयं रोग नहीं है, तथापि यह अभी तक नहीं मालूम हो सका है कि विद्युत विसर्जनों के व्यतिक्रम या अतालताओं को उत्पन्न करने वाले कौन कारण हैं, उनकी उत्पत्ति क्यों और किस प्रकार होती है।

रोग का वर्गीकरण—अपस्मार के ग्रहों का वर्गीकरण अब बहुत जटिल हो गया जिसका विशेष श्रेय विद्युत् लेख विशेषज्ञों (electroencephalographers) को है। ग्रहों के अनेक रूपों का वर्णन किया गया है। विद्युत लेखों में उपस्थित भिन्नताएँ उस भिन्न-भिन्न नामकरण का कारण हैं जिनमें ग्रहों को बाँटा गया है। विद्युत लेख भी अनेक नामों द्वारा पृथक्-पृथक् कहे जाते हैं। लघु अपस्मार का 'शूक और तरंग' (spike & wave) विद्युत लेख, जो शिशु और बालकों में पाया जाता है, उसके कितने ही प्रकार हैं; युवावस्था के लघु अपस्मार ग्रह में 'शूक और तरंग' का परिवर्तित रूप होता है। विस्तृत अपस्मार में फिर लेख में भिन्नता आ जाती है। अमरीकी संघ द्वारा स्वीकृत वर्गीकरण ही बहुमान्य है।

रोग के रूप—रोग के तीन विशेष रूप कहे जाते हैं; (१) लघु **अपस्मार** (petit mal), (२) वृहद् अपस्मार (grand mal) और (३) **मनो-प्रेरक,** (psycho-motor) अपस्मार। इन तीन शब्दों के अतिरिक्त उत्पत्तिस्थान की सीमानुसार उसको **स्थानीकृत** (localised) और **विस्तृत** या **विकरित** (generalised) भी कहा जाता है। स्थानीकृत में विद्युत् विसर्जन मस्तिष्क के किसी विशेष परिमित क्षेत्र से उत्पन्न होते हैं। विस्तृत या विकरित प्रकार में विसर्जनों की उत्पत्ति का क्षेत्र बहुत विस्तृत होता है। वृहद् अपस्मार में मस्तिष्क के एक सम्पूर्ण भाग से अथवा किसी खण्ड के प्रान्तस्था (cortex) से उत्पन्न होते हैं। फिर अपस्मार को प्रच्छन्न-जनित (cryptogenic), अर्थात् अज्ञात हेतुक और लाक्षणिक (symptomatic) भी दो प्रकार का कहा गया है। प्रच्छन्न जनित अपस्मार विस्तृत (generalised) या आंशिक (partial) हो सकता है। जैक्सन का अपस्मार (Jacksonian epilepsy) इसी प्रकार का रोग है।

ग्रहों (seizures) या दौरों का क्रम तथा रूप—ग्रहों या दौरों का बार-बार होना ही अपस्मार कहा जाता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि ग्रहों की अभिव्यक्ति या लक्षणों में बहुत अन्तर पाया जाता है। कोई दो ग्रह एक समान नहीं होते। न उनके समय में कोई साम्यता होती है न संख्या में। किसी रोगी में थोड़े ही दौरे होते हैं, किसी में कुछ मिनटों के अन्तर से दौरे होते रहते हैं। कभी एक ही रोगी में कुछ दिनों के अन्तर से दौरे होते हैं। दौरों की पुनरावृत्ति में सप्ताहों या कई मास का अन्तर हो सकता है। ऐसे भी रोगी देखे गये हैं जिनमें कुछ समय तक दौरे होने के पश्चात् वह अकस्मात् रोगमुक्त हो गया है।

यही हाल ग्रहों के समय का है। कुछ रोगियों में केवल रात्रि के समय ग्रह होता है, निद्राग्रस्त होने के प्रायः एक या दो घंटे पश्चात्। अन्य रोगियों में प्रातःकाल जागने के एक या दो घंटे पश्चात् आक्षेपों का आक्रमण होता है; अन्य किसी समय नहीं होता, शेष समय वे ग्रहों से मुक्त रहते हैं।

कुछ रोगियों को कई बार हलके-हलके ग्रह होने के पश्चात् एक उग्र या बृहत् आक्षेप होता है। इसी क्रम की पुनरावृत्ति हो सकती है। ऐसे भी रोगी देखे जाते हैं जिनको कई वर्ष तक लघु ग्रह होते रहते हैं और तब बृहद् या उग्र ग्रह प्रारंभ हो जाते हैं। बृहद् ग्रह के पश्चात् रोगी को सतत अपस्मार (status epilepticus) की अवस्था हो सकती है। इस अवस्था में ग्रह, एक के पश्चात दूसरे इतनी शीघ्रता से होते हैं कि रोगी दौरों के बीच चैतन्य (consciousness) लाभ ही नहीं कर पाता, अचेतन ही सा बना रहता है। लघु अपस्मार (petit mal) में शिशु या बालकों को ५०, ६० ग्रह (लघु) प्रतिदिन हो सकते हैं। जो उनके युवा होने पर बन्द होकर बालक निरोग हो जाता है।

फिर भी यह कहा जा सकता है कि रोगियों को अपस्मारिक ग्रह उनके विश्राम काल के समय अधिक होते हैं। जब वे मानसिक तथा शारीरिक विश्रान्त अवस्था में होते हैं, किसी प्रकार का क्लेश अनुभव नहीं करते, अपने को स्वस्थ प्रतीत करते होते हैं, उस समय अकस्मात आक्षेप हो जाता है।

जिनको केवल रात्रि समय दौरे होते हैं, अथवा लघु अपस्मार (petit mal) के हलके-हलके ग्रह होते रहते हैं, वे स्वस्थ निरोग व्यक्ति के समान उपयोगी जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

ऐसे भी रोगी मिलते हैं जिनमें दौरों के होते रहने से उनका स्वभाव ही बदल जाता है। बालक चिड़चिड़ा, हठीला, लड़ाका हो जाता है। अपने वस्त्रों को फाड़ डालता है। वस्तुओं को उनके स्थान से उठाकर जहाँ-तहाँ फेंकता रहता है। काँच या चीनी तथा अन्य भंगुर पदार्थों, गिलास, प्याले आदि को तोड़ने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। खिलौनों को भी बहुत तोड़ डालता है। जहाँ बालक पहले स्वच्छ रहता था वहाँ अब अस्वच्छता स्वभाव सी बन जाती है। किंचित बालकों में दौरे प्रारंभ होने के पश्चात शरीर क्षीण होने लगता है। मानसिक व्यपजनन भी स्पष्ट हो जाता है। शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की विशेष अवनति मस्तिष्क के उग्र विकार की द्योतक है। ऐसे बालक की दशा का विशेष अन्वेषण आवश्यक है।

इसके विपरीत स्वभाव परिवर्त्तन युक्त बालकों में दौरों के बन्द हो जाने पर उनके स्वास्थ्य में असाधारण उन्नति देखी गई है। कुछ ग्रहों के पश्चात रोग को समाप्त होते भी देखा गया है। दो चार बार ग्रह हुए और तब रोग सदा के लिये समाप्त हो गया।

जीवन के क्रान्तिकालों (critical periods) में प्रथम या दूसरे वर्ष, वयस्कप्राप्ति (adulthood) तथा लगभग ३० वर्ष के वय पर अनेक बार दौरे होते देखे गए हैं। कन्याओं में या स्त्रियों में रजोदर्शन के एक या दो दिन पूर्व दौरा होना असाधारण नहीं है। बहुधा गर्भस्थापना के पश्चात् दौरे बन्द हो जाते हैं और गर्भावस्था समाप्त होने पर वे फिर से आरम्भ हो जाते हैं।

जो कुछ भी गत पृष्ठों में कहा गया है उससे भली प्रकार स्पष्ट है कि रोग के लक्षणों का कोई एक निश्चित रूप नहीं है। ग्रहों के रूपों, उनके समय, क्रम, उग्रता, प्रभाव, उत्पत्ति दशाओं आदि में कोई भी समता नहीं है। कोई भी दो दौरे समान नहीं होते। प्रत्येक का अपना ही रूप है। चिकित्सक इसको कभी भुला नहीं सकता। वह सदा विषमता की संभावना को स्मरण रखे और अत्यन्त ध्यानपूर्वक दौरे का अथवा रोगी की दशा में विषमता का निरीक्षण तथा अध्ययन करे।

(१) लघु अपस्मार : बाल अपस्मार

(Petit mal, Juvenile mal, minor fit)

इस प्रकार के दौरे विशेषतः बाल्यकाल में होते हैं, यद्यपि वयस्क या अधिक वय वालों को भी हो सकते हैं। यह अति मृदु रूप है जिसको अनेक बार पहचानना भी कठिन होता है। इसमें दौरे बहुत होते हैं, किन्तु कोई मस्तिष्क क्षति नहीं होती न शारीरिक क्षय ही होता है। कोई अनुगम (sequela) भी नहीं होता।

ग्रह या दौरे की तीन अवस्थाएँ बताई गई हैं :—

१. **पूर्वाभास** (aura)—यह अत्यन्त क्षणिक होता है। बालक अकस्मात चुप होकर शून्यदृष्टि हो जाता है जिसको blanklook कहते हैं। नेत्र खुले और स्थिर होते हैं, किन्तु प्रतीत होता है जैसे बालक कुछ भी न देखता हो। ये दौरे रात्रि को होते हैं। एक लेखक ने उनकी उपमा 'चोर' से दी है जो सदा रात्रि के समय ही चोरी के लिये घर में घुसता है। उसका कहना है कि दौरा दिन में हो तो किसी अन्य रोग का सन्देह करना चाहिये।

(२) **अचेतनता** (unconsciousness)—यह रोग का विशेष लक्षण है जो इतना क्षणिक या अल्पस्थायी होता है कि वह पहचाना भी नहीं जाता। ९० प्रतिशत रोगियों में ५ सेकण्ड से ३० सेकण्ड तक अचेतनता रहती है। विरले ही रोगी में एक मिनट तक रहती है। देखने वाले उसको बालक का स्वभाव या उसके ध्यान का आकर्षित न होना समझ सकते हैं। चिकित्सक तक उसको पहचानने में भूल कर सकते हैं। कितनी बार चिकित्सक ने बालक का ग्रह के समय निरीक्षण करके अभिभावकों को आश्वासन दिया है कि बालक स्वस्थ है, चिन्ता का कारण नहीं है। इसका निश्चय करने का सरल उपाय यह है कि दौरे के समय बालक से कुछ शब्द कहे जायँ। यदि दौरे के समाप्त होने के पश्चात् बालक को वे शब्द याद नहीं रहते तो बालक अचेत था।

अचेतनता अकस्मात् प्रारम्भ होती है और अकस्मात् ही खत्म होती है। कुछ रोगियों को चेतना लाभ करने में कुछ सेकंड लग सकते हैं।

कुछ रोगियों को ग्रह की स्मृति रहती है। जिनकी अचेतनता ४–५ सेकंड तक रहती है उनमें से ८० से ९० प्रतिशत को यह आभास रहता है कि उनको ग्रह हुआ था। यह लक्षण अनुकूल समझा जाता है। कुछ रोगियों में ग्रह के पश्चात् स्वचालन (automatism) की दशा उत्पन्न हो जाती है और अनैच्छिक गतियाँ चार या पाँच मिनट तक रहती हैं। उनको ग्रह होने का आभास नहीं रहता। स्वचालन दशा में ग्रह समाप्ति के पश्चात् अंगुलियों, हाथों या अंगों के अन्य भागों की, रोगी की इच्छा के विना ही, स्वतः गतियाँ (प्रतिवर्त-प्रवर्त्तित = (reflex originated) होने लगती हैं। यह दशा **स्वचालन** कहलाती है।

अचेतनता इतनी अल्प हो सकती है कि बालक को वास्तव में स्मृति लोप होता ही नहीं। वह केवल स्तब्ध-सा हो जाता है, वह भी क्षण भर के लिये। अथवा अचेतनता इतनी गाढ़ी हो सकती है कि बालक चलते-चलते या खेल के बीच ही में अकस्मात् गिर पड़े। इन दोनों सीमाओं के बीच अचेतनता की गम्भीरता किसी भी प्रकार की हो सकती है। बैठे-बैठे बालक का शिर केवल नीचे की ओर को झुक जाय और फिर तत्काल ही वह शिर को उठाकर अपनी स्वाभाविक स्थिति प्राप्त कर ले। बालक बातें करते-करते क्षण भर को चुप हो जाय फिर एक या दो सेकंड के पश्चात् पहले जैसे बात कर रहा था वैसे ही बात करने लगे। निरीक्षक को केवल बालक का क्षणिक अकस्मात् चुप रहना और शून्य दृष्टि का अनुभव होगा। अचेतनता के २ सेकंड

से अधिक रहने पर, वह पहले क्या बात कर रहा था, भूल जाता है और पूर्व सम्भाषण को फिर से प्रारम्भ करने में असमर्थ होता है।

(३) **पेशियों की गतियाँ** (muscular movements)—दो प्रकार की होती हैं— **अवमोटनी** (clonic)—जिनमें संकोच के पश्चात् पेशी का शिथिलन (contraction, relaxation) हो जाता है। दूसरी **तानिक** (tonic) प्रकार की होती है जिनमें संकोच के पश्चात् पेशी तन कर रह जाती है, वह शिथिल या ढीली नहीं होती। तनाव कुछ समय तक बना रहता है।

लघु अपस्मार में दौरे के समय अवमोटनी प्रकार की गतियाँ होती हैं जो मुख की पेशियों, विशेष कर नेत्र के चारों ओर की पेशियों में सीमित रहती हैं। केवल पलकों में संकुचन हो सकते हैं।

ये गतियाँ स्फुरन (twitching) मात्र होती हैं। क्षणिक संकोचों के बीच-बीच पेशी शिथिल हो जाती है। साधारण बोल-चाल में इसको फड़कना कहते हैं। पलक या नेत्र के चारों ओर अथवा केवल भ्रू की पेशियाँ फड़कती दीखती हैं। विशेषता यह है कि फड़कन या गतियाँ तालबद्ध (rhythmic) होती हैं और दोनों ओर समान होती हैं (bilateral)।

बाहुओं और टाँगों की पेशियों में भी अवमोटनी गति या संकोच हो सकते हैं। ये गतियाँ लगभग तीन प्रतिसेकंड के वेग से होती हैं। गतियाँ इतनी धीमी होती हैं कि यदि बालक चल रहा है तो वह कुछ दूर तक चलता रहता है अथवा चाल धीमी कर देता है। बहुधा गतियाँ पहचानी भी नहीं जाती। उनका दोनों ओर होना लघु अपस्मार (petit mal) का विशेष चिह्न है जो उसको जैक्सन के अपस्मार से विभिन्न करता है जिसमें केवल एक ही ओर के पलक, नेत्र अथवा मुखकोण (angle of mouth) की पेशियों का स्फुरण होता है। बाहु अथवा टांगों की गतियों को साधारणतया 'झटका या प्रतिक्षेप' (jerk) कहते हैं।

(२) बृहद अपस्मार (Grand Mal)

इस प्रकार के दौरों में रोगी की दशा दारुण होती है। दौरे का रूप अतीव भयंकर होता है जिससे प्रथम बार देखने वाले का दिल दहल उठता है। उसको मालूम होता है कि रोगी का प्राणान्त हो रहा है। दौरों की उग्रता में अवश्य भेद होता है; कुछ मिनटों से लेकर दौरा कई घंटे तक रह सकता है। साथ ही उग्रता में भी बहुत भिन्नता होती हैं। कई बार

ग्रह (दौरे) इतने उग्र होते हैं कि रोगी का प्राणान्त तक हो जाता है। किन्तु इतनी पराकाष्ठा विरल होती है।

ग्रह या दौरों में प्रथम तीन अवस्थायें लघु अपस्मार के समान—पूर्वाभास, मांसपेशियों की गतियाँ और अचेतनता हैं। अचेतनता के अन्त में गतियों के बन्द हो जाने के पश्चात् चौथी अवस्था शिथिल संन्यास (flaccid coma) की होती है जिसमें रोगी गाढी निद्रा के समान चेतना हीन रहता है। यह दशा आधे घंटे अथवा इससे भी कम समय से लेकर कई घंटे तक रह सकती है। रोगी कई घंटे तक गाढी निद्रा में सो जाता है। रोगी को यदि ग्रह रात्रि को सोते समय हुआ है तो उसको दौरे की स्मृति भी नहीं रहती। तो भी शरीर थका हुआ, पेशियों में तनाव तथा शिथिलता का अनुभव जागने के पश्चात् भी रोगी को बना रहता है।

१. **पूर्वाभास** (aura) लगभग २० प्रतिशत रोगियों में पूर्वाभास की अवस्था होती है। उसके पश्चात् चेतनालोप होता है। पूर्वाभास विचित्र प्रकार का, और रोगी को कितने ही प्रकार का अनुभव हो सकता है जिसका कोई आधार नहीं होता। बहुतों को उदर के ऊर्ध्व भाग में ठंढ या ताप या खुरचने का सा अनुभव होता है, एक विचित्र प्रकार की बेचैनी होती है जिसको रोगी बता नहीं सकता। उसको नेत्रों के सामने प्रकाश की क्षणिक झलक या तारे टूटते से दीख सकते हैं। कभी कोई विशेष दृश्य दीख जाता है अथवा वह किसी अपरिचित व्यक्ति की छाया देख सकता है। बहुधा दृश्य या व्यक्ति उसको परिचित से दीखते हैं। किन्तु उनको पहचान नहीं सकता। तो भी उसको अनुभव होता है कि उसने उनको कहीं देखा है। कभी-कभी पूर्वाभास में एक अंग की अवमोटनी या तानिक (clonic or tonic) गति होती है।

कुछ रोगियों में पूर्वाभास की अवस्था लम्बी होती है, कुछ मिनटों तक बनी रहती है। उसके पश्चात् चेतनालोप प्रारम्भ होता है। ऐसे व्यक्तियों को ग्रह के समाप्त हो जाने के पश्चात् पूर्वाभास की स्मृति बनी रहती है। ऐसे रोगी अपनी सुरक्षा के लिये ऐसे स्थान में पहुँचने के उद्योग में सफल होते हैं जहाँ वे शारीरिक दुर्घटना से बचे रहें। जिनमें चेतनालोप शीघ्र ही प्रारम्भ हो जाता है उनको पूर्वाभास तथा ग्रह का स्मरण नहीं रहता। और वे अपनी सुरक्षा के उद्योग में भी सफल नहीं हो पाते। उनको इतना समय ही नहीं मिलता कि उद्योग कर सकें।

(२) **अचेतनता तथा (३) पेशी गतियाँ**—कुछ सेकंड या मिनटों तक पूर्वाभास के पश्चात् अकस्मात चेतनालोप हो जाता है। इसके प्रारम्भ होने

पर कुछ रोगियों के मुँह से तीव्र क्रन्दन या चीख निकलती है। पूर्ण अचेतन होने के कारण रोगी जहाँ होता है वहीं गिर पड़ता है जिससे तीव्र क्षति पहुँच सकती है। सारे शरीर की ऐच्छिक पेशियों (voluntary muscles) में तानिक संकोच (tonic contractions) हो जाते हैं। इसी प्रकार की पेशियों द्वारा अंगों की गतियाँ होती हैं; चलना, फिरना, कुछ भी क्रिया करना इन्हीं पेशियों पर निर्भर होता है, जिनकी संकुचन (contraction) क्रिया हमारी इच्छा के अधीन होती है; जब चाहें तब उनसे काम करवा सकते हैं। जब इन पेशियों में तानिक संकोच होता है तो वे सिकुड़ कर उसी अवस्था में रह जाती हैं। यह अत्यन्त दारुण वेदना की दशा होती है। किन्तु रोगी अचेतन होने के कारण अनुभव नहीं करता।

सारे शरीर की पेशियों का तानिक संकोच होने के कारण वक्ष की पेशियाँ भी स्थिर (fixed) हो जाती हैं और श्वास क्रिया बन्द हो जाती है। न श्वास भीतर आ सकती है न बाहर निकल सकती है। अनेक बार रोगी वक्ष अथवा धड़ की पेशियों के तानिक संकोच—आकर्ष या ऐंठन (spasm) से पूर्व वेग से श्वास भीतर खींचता है। फिर कण्ठ की पेशियों के संकुचित हो जाने से वह श्वास को बाहर नहीं निकाल सकता। स्वर रज्जुओं (vocal cords) के तन जाने से कण्ठ द्वार संकुचित हो जाता है और उसके द्वारा वायु निकलने से अत्युच्च स्वर में तीव्र ध्वनि के साथ अवरुद्ध होकर कुछ वायु निकलती है। यह साधारण क्रन्दन या चीख की ध्वनि नहीं होती। इसकी समता संकटग्रस्त मोर की उच्च ध्वनि से दी गई है। समस्त शरीर अत्याकुंचन (hyperflexion) अथवा अतिप्रसार (hyper-extension) की स्थिति में स्थिर हो जाता है।

श्वास के रुक जाने से रक्त को आक्सीजन मिलना बन्द हो जाता है। रोगी विवर्ण होने लगता है। रोगी, जो पहले पाण्डु (pallid) सा दीखता था अब नीलिमायुक्त होने लगता है। यह श्यावता (cyanosis) बढ़ती जाती है यहाँ तक कि मुख ज्यादा श्याव दीखने लगता है और दीखता है जैसे श्वासावरोध ही से रोगी की मृत्यु हो जायगी।

इस समय गले की शिरायें प्रसरित हो जाती हैं। माथे की शिरायें भी उभर आती हैं। नेत्र चौड़ जाते हैं, खुले रहते हैं। नेत्रों के तारे प्रसरित (dilated pupils) हो जाते हैं, तारा और कनीनिका प्रतिवर्त (pupillary and corneal reflexes) जाते रहते (जो अत्यन्त भयंकर चिह्न है) हैं। नेत्र के श्वेत भाग में रक्ताधिक्य होने से वे लाल दीखते हैं। नेत्रों से जल बहने लगता है। सारे शरीर की त्वचा स्वेद से ढँक

जाती है जो एक विशेष प्रकार की गन्ध से युक्त होता है। मुख से लार बहने लगती है जो रक्त युक्त हो सकती है। कितनी ही बार जवड़ों (हनु) के आकर्ष से दाँतों के बीच जिह्वा दब कर कट जाती है जिससे रक्त प्रवाह हो सकता है। हृदय की गति और नाड़ी अति तीव्र हो जाती है। मुँह से झाग निकलने लगता है। यद्यपि पेशियों के तानिक संकोच की अवधि एक मिनट से अधिक नहीं होती, भयभीत दर्शक को वह युग के समान प्रतीन होती है। इस समय प्रमस्तिष्क मेरु-तरल (cerebro-spinal fluid) का भार ७०० मिलीमीटर तक बढ़ता देखा गया है।

यदि सारे शरीर की पेशियों में आकर्ष का वेग समान नहीं है, संकोचों का वेग भिन्न-भिन्न पेशी समूह में असमान है, तो केवल एक ही भाग का आकर्ष होगा। एक ही ओर की वाहु, ऊरु या जंघा आकुंचित या प्रसरित होगा। शिर एक ही ओर को आकुंचित होगा।

कुछ समय के पश्चात (प्रायः कुछ सेकंड के पश्चात, एक मिनट से अधिक कभी नहीं) तानिक संकोच समाप्त होने लगते हैं और उनका स्थान अवमोटनी संकुचन (clonic contractions) ले लेते हैं। कुछ सेकंड तक ये होते रहते हैं। धीरे-धीरे इनका वेग कम होने लगता है और उनका अन्तर बढ़ता जाता है। अन्त में एक बलवान संकुचन होता है और तव वे खत्म हो जाते है। इस अवस्था में मूत्रत्याग हो सकता है, कभी-कभी मलत्याग भी हो जाता हैं। कुछ रोगियों में वीर्य स्खलन का भी उल्लेख मिलता है। कितने ही रोगियों को प्रत्येक ग्रह में मूत्रत्याग होता है और उनकी जिह्वा कट जाती है।

(४) **स्मृतिलोप या संन्यास**—गतियों या पेशी संकोचों के पश्चात शरीर शिथिल हो जाता है। यह शिथिल सन्यास (flaccid coma) की अवस्था कहलाती है जो कुछ मिनटों से लेकर कई घंटे तक रह सकती है। इस दशा में रोगी की शारीरिक परीक्षा संभव होती है। इस अवस्था में भी नेत्रों के तारे विस्फारित मिलते हैं, तारे और कनीनिका (cornca reflex) प्रतिवर्त अब भी अनुपस्थित होते हैं। नाड़ी और हृदय की गति अब भी तीव्र होती है।

एक विद्वान ने आक्षेप की भिन्न अवस्थाओं की अवधि को इस प्रकार वाटाँ है। तानिक अवस्था के समय :—पूर्ण तानता अथवा सतत पेशी संकुचन (complete tetanus—जब पेशी पूर्ण संकोच की अवस्था में तनी रह जाती है)—५ सेकंड। अपूर्ण तानिक अवस्था—१५ सेकंड। अवमोटनी

अवस्था (clonic stage, झटके) –४० सेकंड। शिथिल रहने की अवस्था —१ मिनट। पुनः स्वास्थ्य लाभ (recovery, चेतना लाभ करने की अवस्था) —३ मिनट।

तीव्र ग्रह के पश्चात रोगी का शारीरिक तापक्रम ०·५ से १·० डिग्री फैरेनहाइट तक बढ़ सकता है। **सतत अपस्मार** भी हो सकता है (status epilepticus)। इस दशा में एक ग्रह के समाप्त होने के पूर्व दूसरा ग्रह प्रारंभ हो जाता है। ग्रहों के अन्तकाल में रोगी चेतना लाभ नहीं कर पाता। यह दशा एक घंटे या इससे भी अधिक तक रह सकती है। इसमें तापक्रम बढ़ कर १०३° से १०५° फ० तक हो सकता है। यह भयंकर दशा है जो घातक हो सकती है। रोगी का हृद्पात (heart failure) हो सकता है। इसका सब से बडा कारण औषध का, जिससे ग्रहों का शमन हुआ है, अकस्मात बन्द करना होता है।

चेतनालाभ, स्वास्थ्यलाभ—ग्रहों के समाप्त होने के पश्चात रोगी धीरे-धीरे चेतनालाभ करने लगता है। स्मृति लौटने लगती है। वह नेत्र खोल कर समझने की चेष्टा करता है कि वह कहाँ है, कौन है, उस स्थान तथा उस दशा में क्यों है, उसको क्या हुआ था। वह फिर से निद्राग्रस्त हो सकता है अथवा उत्तेजित होकर उसकी मनोविक्षिप्ति (psychosis) की सी दशा हो सकती है। कुछ समय, मिनटों से लेकर घंटों के पश्चात वह पूर्ण चेतना प्राप्त करता है, उसकी विचारशक्ति लौट आती है। किन्तु उसको यह नहीं स्मरण रहता ग्रह के पूर्व क्या हुआ था, वह क्या कर रहा था, या किसी से क्या वार्तालाप कर रहा था। बहुतों को ग्रह होने का भी ज्ञान नहीं रहता। किन्तु अधिकतर रोगियों को यह आभास रहता है उनको ग्रह हुआ था। शरीर में बेचैनी, पेशियों में हलकी सी वेदना, दुर्बलता, जी मिचलना, सामान्य अस्वस्थता का अनुभव, उत्साहहीनता कितने ही दिन या सप्ताहों तक बनी रहती हैं। तब कहीं जाकर वह पूर्णतया स्वस्थ प्रतीत होता है।

ग्रह या आक्षेप का परिणाम उसकी उग्रता पर निर्भर होता है। गत पृष्ठों में किये गये वर्णन से यह स्पष्ट है। पुरुषों में स्त्रियों की अपेक्षा और युवा या प्रौढ़ावस्था वालों में बालकों की अपेक्षा अधिक तीव्र ग्रह होते हैं। ग्रहों की तीव्रता बहुत कुछ शरीर की ऐच्छिक पेशियों की सुदृढ़ता अथवा विवर्धन पर निर्भर करती है। वे जितनी दृढ़ और बलवान होंगी ग्रह उतना ही उग्र होगा।

विकारस्थानी (स्थानिक, एकपार्श्वी, आंशिक) अपस्मार
(Focal, local, unilateral or partial)

इस प्रकार के रोग में आक्षेप शरीर के केवल एक ओर, किसी एक अंग या स्थान की पेशियों में होते हैं। मुख के एक ओर की पेशियों में संकोच सीमित रहें, या एक ओर की बाहु या ऊरु, जंघा आदि में हों, अथवा एक ओर के ऊर्ध्व तथा अधरांगों (upper or lower extremities) में आक्षेप होते हैं। केवल एक ही ओर के अंग की पेशियों में आक्षेप हों, ऐसा कम ही होता है। दूसरी ओर भी आक्षेप होने लगते हैं, किन्तु धीमे, मृदु। जिस ओर प्रारंभ हुए थे उधर ही वेग अधिक होता है। आक्षेप अवमोटनी (clonic) गतियाँ ही होती हैं, यद्यपि कभी-कभी विस्तृत होकर सार्वदैहिक (generalised) हो सकते हैं। जब ऐसा होता है तो चेतनालोप हो जाता है। एक ओर के स्थानिक आक्षेपों में अचेतना नहीं होती।

अचेतना अथवा चेतनालोप प्रकृति का उग्र आक्षेपों की दारुण दुःसह वेदना से रक्षा का उपाय है। रोगी असह्य पीड़ा के अनुभव से बच जाता है।

जैक्सन का (आंशिक) अपस्मार (Jacksonian epilepsy)

इस प्रकार के अपस्मार की विशेषता यह है मस्तिष्क के प्रान्तस्था में जो परिवर्तन केवल एक परिमित क्षेत्र में प्रारम्भ होता है वह वहाँ से अन्य भागों में विस्तार कर जाता है। और जो विद्युतविसर्जन केवल एक क्षुद्र स्थान से होते थे वे अब विस्तृत क्षेत्र से होने लगते हैं; अतएव उनकी संख्या बहुत बढ़ जाती है। ये विसर्जन उन अंगों की पेशियों की गतियों-आक्षेपों के रूप में प्रकट होते हैं जिनका मस्तिष्क के आक्रान्त क्षेत्र की कोशिकाओं द्वारा नियंत्रण होता है।

जैक्सनी ग्रह के आक्षेप सामान्यतया मुख के एक ओर के कोण (स्टक्क) की पेशियों, अथवा एक हाथ के अंगुष्ठ और तर्जनी अंगुलि, अथवा एक पाँव के अंगूठे की गतियों के संकोच से प्रारम्भ होते हैं। वहाँ से आक्षेप क्रमानुसार पास के भागों में विस्तृत हो सकते हैं। मुखकोण से वे अन्य मुखपेशियों में, ग्रीवा तथा नेत्र की पेशियों में विस्तृत हो जाँय जिससे नेत्र और शिर उस ओर को घूम जाय। अंगुष्ठ और तर्जनी से अग्र बाहु, बाहु, स्कन्ध, वक्ष, उदर, ऊरु और जंघे में फैल कर वहाँ की पेशियों में आक्षेप होने लगें। यदि वे दूसरे ओर के अंगों में भी विस्तार कर जाते हैं तो चेतनालोप हो जाता है और बृहद् अपस्मार के आक्षेपों के समान दशा हो जाती है। कुछ रोगियों में अवमोटनी गतियाँ उसी अंग में सीमित रहती हैं जिसमें वे

प्रारम्भ हुई थीं। ऐसी दशा में आक्षेप एक घंटे या उससे भी अधिक तक रह सकता है। किन्तु यदि उसका विस्तार हो गया है तो वह शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। और उसके पश्चात् आक्रान्त भाग कुछ समय तक दुर्वल बना रहता है।

(३) मन-प्रेरक (Psycho-motor) अपस्मार

यह विचित्र प्रकार का अपस्मार का रूप है जिसमें कई प्रकार के लक्षण मिश्रित होते हैं। जैसा नाम का अर्थ है इसमें लक्षण केवल मानसिक हो सकते हैं, जैसे भ्रम (illusion), विभ्रम (hallucination), मनोविक्षिप्ति (psychosis), भ्रान्ति अथवा मिथ्या विश्वास (delusion), भिन्न-भिन्न प्रकार का उन्माद (mania), अवसाद (depression)। अथवा लक्षण प्रेरक तन्त्र सम्वन्धी हो सकते हैं—ग्रह के समय हाथ-पैरों का फेंकना, इधर-उधर दौड़ना, अथवा ऐसी ही अर्थहीन अन्य चेष्टायें करना। दोनों प्रकार के लक्षण मिले हो सकते हैं। स्मृतिलोप (amnesia) पूर्ण हो अथवा अपूर्ण। इसी प्रकार कभी चेतना (consciousness) का पूर्ण लोप होता है। अन्य ग्रह में आंशिक चेतना बनी रहती है। कभी-कभी ग्रह का रूप लघु-अपस्मार का सा पाया जाता है जिसकी ओर ध्यान भी आकर्षित नहीं होता। कुछ रोगियों को एक विशेष प्रकार की गन्ध अनुभव करने के पश्चात् तानिक (tonic) ग्रह हो जाता है जिसमें ऊर्ध्व अधरांग संकुचित हो कर रह जाते हैं, अथवा शरीर के किसी अन्य अंग में संकोच होता है। कुछ में विविध प्रकार के अनुभवों के पश्चात् वृहद् अपस्मारिक ग्रह (grand mal seizure) हो सकता है।

तो भी इस भिन्न-भिन्न लक्षणों वाले रोगियों में एक सामान्यता पाई गई है—प्रमस्तिष्क के शंख खंड (temporal lobe) के अग्र भाग में क्षतियाँ (lesions)—प्रायः अनेक; एक ही विस्तृत क्षति हो सकती है। किन्तु लघु अपस्मार और मनप्रेरक, दोनों रूपों के लक्षण एक ही रोगी में मिलना बहुत विरल है।

लक्षण—लक्षणों को तीन समूहों में सामूहित किया गया है, यद्यपि एक विद्वान ने उनको आठ शीर्षकों में विभक्त करके उनका वर्णन किया है। वे तीन समूह इस प्रकार हैं :—

(१) **स्वचालित** (automatic)—गत पृष्ठों में स्वचालता (automatism) का वर्णन किया गया है। इसका अर्थ स्वचालित गतियों से है जो प्रायः चलनात्मक होती हैं। इस प्रकार के ग्रह स्वचालता कहे जाते हैं।

सब ग्रहों में एक समान गतियाँ नहीं होती, भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। अतएव वे लाक्षणिक नहीं होती जिनसे रोग पहचाना जा सके। इस कारण इस दशा को कई अन्य रोगों के आक्षेपों से विभिन्न करना आवश्यक होता है। रोगी अपनी दशा से ग्रह के समय पूर्ण अवगत रहे (full awareness) अथवा कुछ आभास मात्र ही हो; केवल धुंधला सा अभिज्ञान रहे कि क्या हो रहा है। इसी को **अवगतता** या अभिज्ञान कहा गया है। उसका पूर्ण नाश संभव है तथा स्मृतिलोप (amnesia) भी पूर्ण हो अथवा कुछ घटनायें स्मरण रहें।

अवगतता या अभिज्ञान के नष्ट या विशेष क्षत हो जाने पर रोगी मदात्यय (drunkenness) के समान आचरण करता है। संभाषण निरर्थक, अटपटा, संदर्भहीन होता है। उसकी क्रियायें असंगत, अनुचित तथा प्रयोजनहीन होती हैं। एक लेखक अमरीका के एक थियेटर में बैठा हुआ, ग्रह से आक्रान्त होकर अपने वस्त्र उतारने लगा। एक वस्त्रों के स्टोर में एक विक्रेता (salesman) ने एक टोप को, जिसे वह हाथ में पकड़े हुए था, कुचल कर नष्ट कर डाला। ऐसे ग्रह प्रायः चालन सम्बन्धी होते हैं। यदि रोगी चल रहा है तो वह चलता रहेगा, वह चाल धीमी कर सकता है। यदि वह बैठा है तो उठ कर चल देगा। अथवा वह बैठा रहे और कुछ गाने लगे या गुनगुनाने लगे।

कितने ही रोगियों में अभिज्ञान या अवगतता बनी रहती है। ग्रह के समय ऐसे रोगी की क्रियायें प्रयोजन युक्त दीखती हैं और वह जटिल क्रियाओं को भी सहज में उस ही प्रकार करने में सफल हो जिस प्रकार एक स्वस्थ, पूर्ण चेतन बुद्धिमान व्यक्ति करता है। किन्तु उसको पूर्ण स्मृतिलोप होता है। उसको तनिक भी नहीं स्मरण रहता कि उसने क्या किया था।

फिर एक ही रोगी में अचेतना अथवा अवगततानाश तथा चेतनता (जैसा दीखता है, अवास्तविक) बारी-बारी से भिन्न-भिन्न ग्रहों में दिखाई पड़ सकती है, किसी ग्रह में रोगी मूर्छित-सा अर्धचेतन, सम्भ्रान्त दीखता है। दूसरे ग्रहों में वही रोगी सारी चेष्टायें विशेष उद्देश से कौशलसहित करता है, यद्यपि स्मृति लोप पूर्ण होता है। ऐसे रोगियों में ग्रह की वास्तविक दशा को पहचानना बहुत कठिन होता है।

(२) **स्वायत्त** (subjective), जो स्वयं रोगी अनुभव करता है :—मनोविक्षिप्ति जन्य ग्रह : भ्रम, विभ्रम। ऐसे ग्रहों में अवगतता तथा स्मृति (awareness and memory) दोनों बनी रहती है। रोगी को

लाल ही लाल दिखाई दे, तीव्र प्रकाश के स्फुटन बार-बार दीखें, कोई तीव्र गंध का अनुभव हो, अर्धशीर्ष-पीड़ा (migraine) या माइग्रेन का आक्रमण होता है। यद्यपि ये अनुभव केवल व्यक्तिगत होते हैं, केवल रोगी ही अनुभव करता है, किन्तु वे अपस्मार के ग्रह होते हैं और मस्तिष्क के विकारग्रस्त स्थान से अकस्मात विद्युत् विसर्जनों के परिणाम होते हैं। अचेतनता अपस्मारिक ग्रहों का विशेष लक्षण होती है। इन ग्रहों में अचेतन का स्थान भ्रम, विभ्रम, मनोभ्रान्ति अथवा अवसाद ले लेते हैं। स्वप्न की अवस्थायें, हर्षातिरेक, भयास्पद आलोक, अवसाद, विवश हास्यात्यय ये सब मानसिक ग्रह (psychic seizure) के रूप हैं।

(३) **पेशी तानता की वृद्धि** (muscle tone increase) जिसके प्रायः विकारस्थानी लक्षण होते हैं। इस रूप में चेतनता तथा स्मृति का पूर्ण लोप हो जाता हैं।

यद्यपि ये आक्षेप विकारस्थानी से दीखते हैं, अर्थात् तानिक प्रकार के होते हैं, किन्तु वास्तव में वे मन-प्रेरक होते हैं। वे इतने तीव्र नहीं, आपेक्षतः मृदु होते हैं। विशेषता उनमें यह होती है कि वे स्वचालता (automatism) की गतियों के रूप में होते हैं :—चबाने की सी जबड़ों की गतियाँ, शिर तथा नेत्रों को इधर-उधर घुमाना, शरीर को इधर-उधर मोड़ना, अंगुलियों से निरर्थक असंगत गति करना।

ग्रह में प्रायः पूर्वाभास नहीं होता। किन्तु कभी-कभी वह कुछ दिन पूर्व से चिड़चिड़ा हो जाता है, उसके स्वभाव में परिवर्तन स्पष्ट होता है और परिवार वाले समझ लेते हैं कि उसको आक्षेप होने वाला है। अन्य प्रकार के आक्षेपों या ग्रहों में व्यक्ति को कुछ आभास-सा हो जाता है कि उसको आक्षेप होने वाला है। किन्तु इस प्रकार में ग्रहों में उसको ऐसा कुछ भी नहीं प्रतीत होता। वह अकस्मात चेतनाहीन हो जाता है। बहुधा स्वचालता की गतियाँ होती हैं। जबड़े की चबाने की गतियाँ, निगलने, चाटने, चूसने, होठों को खोलने और बन्द करने, मुँह विचलाने की सी मुद्रायें बनाने, तालु में जिह्वा लगा कर चट-चट की सी ध्वनि करने, जिह्वा को मुँह से बाहर लटकाने और भीतर खींच लेना, आक्षेप के समय ऐसी गतियाँ करता रहता है।

पेशियों की तान (tonus) बढ़ जाती है। ऊर्ध्व और अधरांग कड़े हो जाते हैं। किन्तु वे बृहद् अपस्मार के ग्रहों के समान कठोर (rigid) कभी नहीं होते। शिर और नेत्र एक ओर को घूम सकते हैं। रोगी की घूम जाने की प्रवृत्ति होती है। यदि वह खड़ा है तो एक बार या अधिक बार घूम

सकता है। यदि निद्रावस्था में आक्षेप हुआ है तो वह बार-बार करवट लेता रहता है। परिवार वाले उसको केवल बेचैनी समझते हैं। ऐसे रोगियों का उल्लेख पाया जाता है जिनकी दशा का, बेचैनी के भ्रम के कारण, बहुत समय तक निदान नहीं हो पाया।

खड़ी हुई अवस्था में आक्षेप होने पर प्रायः रोगी गिरता नहीं, केवल अस्थिर हो जाता है। उसके शारीरिक सन्तुलन (balancing) की शक्ति का ह्रास हो जाता है। यदि अस्थिरता अधिक हुई तो गिरने की सम्भावना रहती है। तो भी वह धीरे-धीरे गिरता है। बृहद् आक्षेप की भाँति वह अकस्मात् नहीं गिरता। जिह्वा का कट जाना असाधारण है।

आक्षेप आधे मिनट से कई मिनट तक रह सकता है। अल्पकालिक होने पर चेतना लाभ तात्कालिक होता है। नहीं तो मन्द गति से होने पर पूर्ण चैतन्य होने में कुछ समय लग जाता है। अधिकतर चेतना-लाभ धीरे-धीरे होता है। पश्चात् के लक्षण शिरदर्द, पेशियों का तनाव या मृदु पीड़ायुक्त होना, स्वचालित गति या, वमन, आदि कोई विशेष नहीं होते। कुछ विद्वानों का कथन है कि ऐसे आक्षेप रात्रि के समय अधिक होते हैं।

रोग के इस रूप के निदान में उसको बृहद् अपस्मार से पहचानने में विशेष कठिनाई होती है। गतियाँ अधिकतर अवमोटनी और स्वचालित होती हैं, अथवा तानिक होती हैं, इससे निदान में विशेष सहायता मिलती है। रोगी का तत्काल अचेतन होकर अकस्मात् गिर पड़ने से उसको क्षति होती है, यह बृहद् अपस्मार का समर्थक है।

शिर के अभिघातों से उत्पन्न अपस्मार

यातायात के द्रुतगामी वाहनों की खोज की स्पर्धा से शिर के अभिघातों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई है। वायुयानों की दुर्घटनायें तो प्रायः प्राणान्तक होती हैं। उन दुर्घटनाओं में कदाचित् ही कोई बच पाता हो। शिर अभिघातों की सबसे बड़ी संख्या मोटरों की दुर्घटनाओं का परिणाम होती है। कुछ दुर्घटनाओं में शिर पर का चर्म निरन्तर बना रहता है; उससे आच्छादित अस्थियों में से किसी का भी भंग हो सकता है जिससे उसके नीचे की कोई रक्तवाहिनी के कटने से रक्तस्राव (haemorrhage) संभव है। रक्त कपाल के भीतर ही एकत्र हो जाता है और मस्तिष्क के बहिःभाग, प्रान्तस्था (cortex) पर भार डाल कर उसे क्षति पहुँचाता है। भग्न अस्थि का कोई नुकीला भाग मस्तिष्क को भेद कर मस्तिष्क को क्षत कर सकता है। मस्तिष्क की कितने ही प्रकार की क्षति हो सकती है।

ऐसे व्यक्तियों में से कितने ही को क्षति के कारण अपस्मार हो सकता है। यह 'अभिघातोत्तर अपस्मार' (post traumatic epilepsy) कही जाती है। किन्तु, दुर्घटनाओं की संख्या को देखते हुये, अभिघातोत्तर अपस्मार-ग्रस्त रोगियों की संख्या अल्प ही पाई गई है। कुछ लेखकों ने २ प्रतिशत इस प्रकार के रोगियों की संख्या का उल्लेख किया है। यह भ्रमात्मक है। केवल इतना ही कहना संभव है कि उनकी संख्या अल्प होती है।

ऐसे रोगियों को, लघु अपस्मार के से आक्षेपों के अतिरिक्त जिनका EEG शूक और तरंग (spike and wave) प्रकार का होता है, किसी भी प्रकार के आक्षेप हो सकते हैं। कुछ रोगियों को अभिघात के पश्चात तत्काल आक्षेप होते हैं। किन्तु वे फिर नहीं होते। उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती। यदि मस्तिष्क को तीव्र क्षति पहुँची है तो उनका पुनः पुनः होना संभव है। इस प्रकार के रोग के दौरों का शमन करने में आधुनिक आक्षेपहर (anticonvulsants) औषधियाँ बहुत सफल हुई हैं। वेधी क्षतों (penetrating wounds) में, जिनमें किसी तीव्र धार वाला अस्त्र मस्तिष्क के भीतर तक प्रविष्ट हो जाता है, रोगी को अपस्मार हो जाने की अधिक संभावना रहती है।

निदान (Diagnosis)

रोग का निश्चय करना प्रायः कठिन होता। बालक के माता-पिता या रोगी के अभिभावक जो ग्रहों का वर्णन करते हैं उनसे रोग को समझ लेने में कोई कठिनाई नहीं होती। रोग के तीनों मुख्य रूपों के लक्षणों में इतना अन्तर है कि इन रूपों को पहचानने में भी भ्रम की अधिक संभावना नहीं है। परीक्षा करने पर रोगी में कोई शारीरिक विकार न मिलना भी रोग को पहचानने में सहायक होता है।

बालकों में आक्षेपों का कारण निर्णय करना भ्रमात्मक हो सकता है। उनमें आक्षेप कितने ही अन्य कारणों से हो सकते हैं। कभी-कभी ज्वर के अधिक होने से भी शिशुओं को आक्षेप हो जाते हैं। आंत्र में कृमियों (worms) की उपस्थिति आक्षेप का कारण हो सकती है। किन्तु अन्य प्रकार के आक्षेपों के पूर्वाभास अचेतना या संन्यास की सी अवस्था में नहीं होते। न अपस्मार के आक्षेपों के समान उनमें कोई विशेष क्रम होता है। जन्मजात मस्तिष्क विकृति, करोटि की अभिघातजन्य विकृति, रक्तार्बुद, संक्रमण आदि स्वयं अपस्मारिक आक्षेपों का कारण हो सकते हैं। इतिहास तथा पूर्ण शारीरिक परीक्षा आवश्यक होती है।

प्रौढ़ावस्था वाले व्यक्तियों को भी कभी-कभी अचेतना का आक्रमण हो सकता है। मनोद्विग्नता, किसी लम्बे रोग के पश्चात् दौर्बल्य, अनाहार (starvation) कुछ समय से, भय, अतीव दुखद घटना का समाचार आदि ऐसी दशायें हैं जो अल्प समय के लिये अचेतना उत्पन्न कर सकती हैं जिनमें रक्त दाब (blood pressure) ६०, ५० मि० मी० पारा या इससे भी अधिक नीचे तक गिर सकता है और मुख की पेशियों में संकुचन हो सकता है। किन्तु इस प्रकार के दौरे का रूप बहुत भिन्न होता है। तो भी ऐसी भूलें हो चुकी हैं जहाँ साधारण अचेतनता के आक्रमण को अपस्मारिक ग्रह मान लिया गया है।

चिकित्सा का यहाँ अतिसंक्षेपतया उल्लेख किया जाता है। यहाँ मानस-मन्दता से अपस्मार का सम्बन्ध दिखाने के हेतु अपस्मार का वर्णन किया गया है। इस कारण चिकित्सा के लिये किसी विस्तृत पुस्तक को देखना चाहिये।

संक्षेपतः निम्न औषधियों का प्रयोग किया जाता है।

वृहद अपस्मार के ग्रहों के शमन के लिये फिनोबारबिटोन (phenobarbitone) और डाइलेन्टिन (dilantin, epanutin, phenytoin) विशेष औषधियाँ हैं। दोनों औषधियों को साथ-साथ भी दिया जा सकता है। मात्रा फिनोबारबिटोन ६० मिली ग्राम, दिन में तीन बार; डाइलेन्टिन १०० मिली ग्राम तक दिन में चार बार। **लघु अपस्मार** के लिए ट्राइडिओन (tridione, troxidione paradione) विशेष उपयोगी औषधि पाई गई है। दूसरा इसका वैज्ञानिक नाम है। इसी सक्सिनिमाइड योगों में zarontin (जारोन्टिन) नामक योग भी बहुत सफल प्रमाणित हुआ है। किन्तु इस रूप में फिनोबारबिटोन तथा डाइलेन्टिन निरर्थक पाये गये हैं।

किन्तु ट्राइडिओन तथा अन्य डाइओन योग रक्त के श्वेताणुओं को नष्ट करते हैं जिससे श्वेताणुअल्पता (leucopenia) की भयंकर दशा उत्पन्न हो सकती है। अतएव प्रतिमास रक्तपरीक्षा आवश्यक है। मात्रा—ट्राइडिओन ३०० मिली ग्राम दिन में २ से ६ बार।

मनो प्रेरक अपस्मार में डाइलेन्टिन (फिनाइटोइन) अधिक उपयोगी है। फिनोबारबिटोन इतना सफल नहीं होता। इन ग्रहों का शमन बहुत कठिन होता है। साथ में अन्य योग भी दिये जा सकते हैं।

मिजेन्टोइन एक और योग है जो वृहद और मनोप्रेरक अवस्था में लाभदायक हो सकता है। मात्रा—प्रौढ़ों के लिये ६०० मि० ग्राम और बालकों

को ४००·मि० ग्राम प्रतिदिन। श्वेताणुनाश सम्भव है। मासिक रक्त परीक्षा उचित है।

सतत् अपस्मार (status epilepticus) की चिकित्सा तत्काल आवश्यक है, उसमें रोगी की मृत्यु की सम्भावना रहती है। इस कारण फिनोवारविटोन, डाइलेन्टिन अथवा पेरेल्डीहायड (paraldehyde) के शिरा द्वारा (intraveinous) इन्जेक्शन दिये जाते हैं, यद्यपि अन्तर्पेशी इंजेक्शन सफल होता है। इनकी मात्रा पेरेल्डीहायड ८ से १० मिली लीटर, डाइलेन्टिन ०·३ से ०·४ ग्राम और फिनोवारविटोन ०·४ से ०·६ ग्राम। हृत्पात से रक्षा के लिये हृदोत्तेजक उपचार।

रोगी के तीन वर्ष तक ग्रहों से मुक्त रहने पर औषधियों को धीरे-धीरे (तीन वर्ष में) घटा कर वन्द करना चाहिये।

विद्युत-मस्तिष्क लेख (Electroencephalogram; EEC)

मस्तिष्क की विद्युत क्रियाओं का पहले उल्लेख किया जा चुका है। अपस्मार के ग्रह मस्तिष्क के तालहीन विद्युत विसर्जनों के अकस्मात विस्फोट के प्रदर्शन मात्र होते हैं। जैसे हृदय के विद्युत विसर्जनों को लेखवद्ध किया जाता है जो electrocardiogram; ECG कहलाता है उसी प्रकार मस्तिष्क से निरन्तर होने वाले तालयुक्त विसर्जनों को विशेष यंत्र द्वारा लेखवद्ध करके तालों के क्रम (rhythmicity) का अध्ययन किया जाता है। विसर्जनों को लेखवद्ध करने से जो वक्र (curve) वनता है विसर्जनों की तालहीनता के अनुसार उस वक्र के रूप में व्यतिक्रम आ जाते हैं जिनके अध्ययन से विशेषज्ञ व्यतिक्रम उत्पन्न करने वाली मस्तिष्क क्षति का रूप पहचान लेते हैं। कुछ मस्तिष्क रोगों में मानसिक व्यतिक्रम (disorders) जो व्यवहारात्मक भी हो सकते हैं, शीर्ष अभिघातों, मस्तिष्क के अर्बुदों और विशेषकर अपस्मार में विद्युतविसर्जनों की तरंगों में जो अस्तव्यस्तता या परिवर्तन हो जाते हैं वे लेख के रूप को भी परिवर्तित कर देते हैं। इस परिवर्तन, व्यतिक्रम या अतालता का निरूपण करना ही विद्युत लेख विशेषज्ञ का काम है। ८० प्रतिशत अपस्मार ग्रस्त रोगियों के मस्तिष्क लेखों में विशेष प्रकार की लाक्षणिक अतालतायें पहचानी जा सकती हैं जो आक्षेपों के समय लिये गये लेखों में, और कुछ में आक्षेप से मुक्त काल में भी उपस्थित होती हैं।

आक्षेप के समय कितने ही प्रकार की दुस्तालतायें (dysrhythmia) पाई जा सकती हैं जिनमें से ये अतिसाधारण हैं :—(१) अतिद्रुत (very

rapid) दुस्तालतायें, वृहत अपस्मार के आक्षेपों में, (२) मन्द (slow) दुस्तालतायें कई प्रकार के मनोप्रेरक अपस्मार में जो बहुधा मस्तिष्क के शंख (temporal) और जतूक खंडों में उत्पन्न होती हैं। और (३) एक विशेष प्रकार की मिश्रित तालतायें जिसमें द्रुत और मन्द दोनों प्रकार की तरंगें बारी-बारी से बनती हैं, जिसको 'शूक और तरंग रचना' कहा जाता है। यह बाल या लघु अपस्मार की लाक्षणिक दुस्तालता होती है। कुछ रोगियों में द्विपार्श्वी ललाट खंड (frontal lobe) जन्य दुस्तालतायें उपस्थित होती हैं।

विद्युत मस्तिष्क लेख अपस्मार के प्रकारों के निदान तथा विसर्जन विस्फोटों की उत्पत्ति स्थान के निर्णय में बहुत उपयोगी पाया जाता है। किन्तु विद्वानों की सम्मति में केवल एक विद्युत-मस्तिष्क लेख का विशेष प्रयोजन नहीं है, न वह प्रत्येक रोगी में निदान के लिये आवश्यक ही है। किन्तु जिन रोगियों के निदान में कठिनाई है, उनमें क्रम से लिये हुए लेखों की एक शृङ्खला वास्तव में उपयोगी हो सकती है।

मानसमन्दता और अपस्मार

सभी विद्वान अब सहमत हैं कि अपस्मार और मानमन्दता मस्तिष्क के विकार के लक्षण हैं, स्वयं स्वतन्त्र रोग नहीं हैं। अपस्मार (जिसका अर्थ है अपस्मार के ग्रह, दौरे) मस्तिष्क के किसी स्थान पर स्थित क्षति से उत्पन्न होता है, यद्यपि सदा उस स्थान की स्थिति को स्थिर करने में सफलता नहीं होती। मानसमन्दता का कारण भी मस्तिष्क की कोशिकाओं (स्थानिक या सर्वांगिक) की पूर्ण दक्षता से क्रिया करने की असमर्थता है जिसके विभिन्न कारण हो सकते हैं। मानसमन्दों में कितने अपस्मार से ग्रस्त हैं इसको जानने का कई बार उद्योग किया गया है। लन्दन के अस्पताल में २५ प्रतिशत मानसमन्द अपस्मार से ग्रस्त पाये गये। दूसरे अन्वेषक ने २०% सानसमन्दों के अपस्मार ग्रस्त होने की रिपोर्ट की। सन् १९६२ के सर्वेक्षण में श्रेणी के अनुसार अतिमानसमन्दों में ३३%, मृदु या मन्द मानसमन्दों में २०% और अल्पमानसमन्दों में ११% अपस्मारग्रस्त मिले। कुछ ही वर्ष पूर्व एक अन्तर्राष्ट्रीय मान्य विद्वान ने अतिमानसमन्दों में ५०% के ग्रस्त होने की सूचना भेजी थी। विद्वानों की सम्मति है कि जितनी मन्दता अधिक होती है उतनी ही अपस्मार से ग्रस्त होने की संभावना अधिक रहती है।

प्ररूपों (types) के अनुसार—मानसमन्दता के भिन्न-भिन्न प्ररूपों में अपस्मार ग्रस्तों की संख्या में भिन्नता पाई गई है।

फिनाइलकीटोनमूत्रता (phenylketonuria) तथा चयापचय के अन्य विकारों से ग्रस्त मानसमन्दों में लगभग ३३% व्यक्तियों को अपस्मार होता है। ऐसे रोगियों में सार्वदैहिक प्रकार के लघु और बृहद दोनों भाँति के ग्रह होते हैं, जिनमें अवमोटनी पेशीगतियाँ, अर्थात् अंगों के झटके (jerks), होते हैं, अचेतना भी क्षणिक से ३० सेकंड तक रह सकती है जिसके साथ क्रमवद्ध अन्य प्रकार की गतियाँ हों या न हों।

जिन व्यक्तियों में अभिघात अथवा संक्रामक रोगों या रक्त संवहन जन्य क्षति (रक्तार्बुद, वाहिकार्बुद (angioma), एन्यूरिज्म के कारण मस्तिष्क में रचनात्मक (anatomical) परिवर्तन हो जाते हैं उनमें विकारस्थानी (focal) ग्रह होते हैं जो केवल एक ही ओर अथवा एक ही अंग में, अथवा एक ही पेशी समूह में हो सकते हैं। मंगोलाभों (mongols) और अवटुवामनों (cretins) में अपस्मार अत्यन्त विरल है।

मस्तिष्क के कुछ विशेष भागों में अपस्मारिक ग्रहों की उत्पत्ति की असाधारण क्षमता मालूम होती है। शंख खण्ड (temporal lobe) के क्षतों से अपस्मार के प्रकट होने में बहुत विलंब नहीं होता। प्रान्तस्था (cortex) के प्रेरक क्षेत्र (motor area) का भी यही हाल है। सामान्यतया समस्त प्रान्तस्था के क्षतों से अपस्मार होने की संभावना रहती है। अवप्रान्तस्था (subcortical) रचनाओं की क्षतों से अपस्मार उत्पन्न होने की संभावना बहुत कम होती है। प्रान्तस्था और उसके आवरण (menges) के आसंजन (adhesions) बन जाने से, जैसा गहरे घावों अथवा आवरणों के शोथ (meningitis) से हो जाता है, अपस्मार प्रकट हो सकता है। यह अभी तक रहस्य बना हुआ है कि मस्तिष्क के कुछ भागों में अपस्मार उत्पन्न करने की क्यों अधिक प्रवृत्ति होती है और कुछ विशेष दशाओं से ग्रस्त रोगी इस रोग से क्यों सहज ही में आक्रान्त हो जाते हैं।

और भी अपस्मार के रूपों में अनेक विभिन्नतायें पाई जाती हैं। इसी विभिन्नता के कारण A. M. A. द्वारा अपस्मारिक ग्रहों के वर्गीकरण से उनकी एक अतिदीर्घ और जटिल सूची बन गई है। ग्रहों को चार मुख्य शीर्षकों में बाँटा गया है। प्रथम शीर्षक के तीन भाग किये गये हैं जिनमें से प्रथम भाग को ४ अनुभागों में और दूसरे भाग को ६ अनुभागों में बाँटा गया है। दूसरे शीर्षक के फिर दो विभाग हैं जिनके फिर क्रमशः २ और अनुभाग हैं। तीसरे और चौथे शीर्षकों के कोई विभाग नहीं हैं। इस प्रकार

शीर्षक, भाग और अनुभाग सब मिलकर १६ प्रकार के ग्रह वर्गीकृत किये गये हैं। इस रोग के विशेषज्ञों के लिये इनकी जानकारी उचित है। तो भी इस वर्गीकरण से विषय की जटिलता स्पष्ट है। और अब भी विषय के अनेक रहस्य अज्ञात हैं जिन का अन्वेषण निरन्तर हो रहा है। कुछ काल में इनका भी ज्ञान प्राप्त होणे पर जटिलता और भी बढ़ जायगी और रोग की चिकित्सा केवल विशेषज्ञों का कर्तव्य हो जायगी। तो भी सामान्य चिकित्सक, जिसको दूसरे परिच्छेद में प्रथम चिकित्सक कहा गया है, उसका महत्व और इसके अनुगामी उसका उत्तरदायित्व कभी कम नहीं होगा। उपयुक्त चिकित्सा का आयोजन तथा रोगी के पुनःस्थापन का भार उसी पर रहेगा।

अपस्मार के कारण बुद्धि-ह्रास

समस्त मानसमन्द बालकों में अपस्मार के कारण बुद्धि ह्रास होता हो, इसका कोई प्रमाण नहीं मिला है। जिन बालकों के जीवन के प्रथम वर्ष ही में आक्षेप प्रारम्भ हो जाते हैं, लघु और बृहद दोनों प्रकार के आक्षेप होते रहते हैं, लघु आक्षेप विशेष कर आकुंचक (flexor) पेशियों में होते हैं, अनेक बार केवल एक ओर के अंगों में होते हैं और कुछ वर्षों के पश्चात् बन्द हो जाते हैं, बालक रोगमुक्त हो जाता है, उनमें आक्षेपों का कारण बुद्धि ह्रास निःसन्देह आक्षेप-कारण है। रोग का यह रूप अब एक विशेष प्रकार मान लिया गया है। ऐसे आक्षेपों के शमन में वे आक्षेपहर (anticonvulsants) सफल नहीं होते जिनका उपयोग अन्य रूपों में संतोष जनक पाया गया है।

सामान्यतया बालअपस्मार ग्रस्त बालकों के मस्तिष्क लेख में ३ प्रति सेकंड शूक और तरंग दुस्तालतायें मिलती हैं। कुछ बालकों में इस से कम दुस्तालतायें पाई जाती हैं। एक विद्वान का कथन है कि प्रथम प्रकार के बालकों का बुद्धि स्तर सामान्य होता है और उनकी दशा सुधरने का अवसर रहता है। किन्तु दूसरे प्रकार के (३ प्रति सेकंड से कम शूक और तरंग वाले) बालकों का बुद्धि ह्रास अवश्य होता है और मन्दता बढ़ जाती है।

कुछ ऐसे, किन्तु बहुत कम, रोग ग्रस्त बालक भी पाये गये हैं जिनका निश्चित बुद्धि ह्रास होता है किन्तु मस्तिष्क लेख में कोई असंगति नहीं पाई जाती।

साधारणतया यही पाया जाता है। शैशवावस्था में आक्षेपों के प्रारम्भ होकर उनके होते रहने से शिशु तथा बालक की मस्तिष्क क्षति बढ़ती जाती

है। जितने आक्षेप अधिक होते हैं और उग्र होते हैं उतनी ही क्षति उत्तरोत्तर वृद्धि करती है। यह स्वाभाविक भी है। तानिक आक्षेप जितनी देर अधिक रहेगा या जितना अधिक होगा उतनी ही रक्त द्वारा मस्तिष्क को आक्सीजन मिलने में अधिक वाधा उपस्थित होगी। अतएव क्षति बढ़ती ही जायगी, जिससे बुद्धि ह्रास होता रहेगा।

ऐसे भी कुछ बालरोगियों का उल्लेख पाया जाता है जिनमें कुछ समय तक बुद्धि ह्रास होने के पश्चात उनकी दशा में सुधार होने लगा, एक में स्वतः और दूसरे में शंखखंड के कुछ अंश के उच्छेदन के पश्चात्।



छठा परिच्छेद

मानसमन्दता का निदान

(Diagnosis of Mental retardation)

मानसमन्दता का निदान जटिल तथा अत्यन्त आवश्यक है। जितना शीघ्र निदान करने के पश्चात् सुधार के आयोजनों का उपयोग प्रारम्भ किया जा सके उतनी ही सफलता की अधिक आशा की जा सकती है। इस कारण शीघ्रातिशीघ्र निदान होना चाहिये।

किन्तु इसमें कठिनाइयाँ भी बहुत हैं। सब मानसमन्दों में कोई वाह्य लक्षण तो उपस्थित होते नहीं। ७५% से अधिक ऐसे मानसमन्द होते हैं जिनमें किसी प्रकार का शारीरिक विकार नहीं होता। उनकी शारीरिक रचना सर्वांगपूर्ण होती है, सब अंग सुडोल और सम्पूर्ण होते हैं। कितने ही बालक सुन्दर और मनोहारी होते हैं; देखने से इसका आभास भी नहीं होता कि उनमें किसी प्रकार की त्रुटि पाई जायगी। फिर जिनमें विरूपांगता होती है, शारीरिक रचना में दोष होता है, कोई अंग विकृत होता है, आनन भद्दा होता है, वे सब मानसमन्द नहीं होते। कितने ही कुरूप या अपंगु बालक बड़े मनस्वी, तीव्र बुद्धि वाले होते हैं; परीक्षाओं में उच्च फल प्राप्त करते हैं और जीवन में बहुत सफल होते हैं। इन कारणों से प्रारम्भिक जीवन में मानसमन्दता का निदान अत्यन्त कठिन होता है।

मानसमन्दता का अर्थ है बुद्धि हीनता। जितनी अधिक बुद्धिहीनता होती है उतनी ही मानसमन्दता अधिक होती है। अतएव मानसमन्दता का माप बुद्धि है। जिनमें बुद्धि अत्यल्प होती है उनको **अतिमन्द** (severely retarded) कहा जाता है। जिनमें उनसे अधिक, किन्तु सामान्य से कम बुद्धि होती है उनको **मध्यम मन्द** (moderate retarded) कहते हैं। तीसरी श्रेणी उन मन्दों की है जिनमें मन्दता अधिक नहीं है। उनमें इतनी बुद्धि होती है कि वे अपना जीवन निर्वाह कर सकते हैं, समाज के एक **उपयोगी** व्यक्ति बन सकते हैं, किन्तु विचार करके किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। ये **अल्पमन्द** (mild retarded) कहलाते हैं।

इस प्रकार मानसमन्दता का आधार बुद्धि की मात्रा है। बुद्धि अधिक है या न्यून है, इसी से व्यक्ति मानसमन्द या मनस्वी माना जाता है। किन्तु

बुद्धि को तौला या मापा नहीं जा सकता। वह गुणात्मक है, मस्तिष्क का गुण है तथा उसी का कर्म है जिसका केवल अनुभव किया जा सकता है। वैज्ञानिक विचार तथा क्रियाओं के लिये तौल माप आवश्यक है जिससे इकाई (unit) निर्धारित की जा सके। और उस इकाई के रूप में तुलना की जा सके, भिन्न व्यक्तियों की बुद्धि की सीमा को अंकों के रूप में लिखा जा सके जिससे उनकी तुलना संभव हो।

बुद्धिमाप—बुद्धि का प्रदर्शन या उपयोग व्यवहार के रूप में होता है। जो जैसा व्यवहार करता है, दैनिक कृत्यों में जिस प्रकार क्रियायें करता है उसी से उसकी बुद्धिहीनता या बुद्धिमत्ता का अनुभव किया जाता है। इस व्यवहार के अनुसार विद्वानों ने बुद्धि के मापने के लिये कुछ परीक्षण या जाँचों (tests) का अन्वेषण किया है जिनके द्वारा वे व्यक्ति की बुद्धि की सीमा माप सकते हैं और उसको अंकों में व्यक्त कर सकते हैं। यह **बुद्धिमाप** (intelligence quotient) कहा जाता है। प्रथम परिच्छेद में इसका कुछ उल्लेख किया गया है। प्रत्येक बालक या व्यक्ति का, जिसमें भी मानस-मन्दता का सन्देह होता है, जो बालक स्कूल में अपने सहपाठियों के साथ नहीं चल पाते, श्रेणी में सदा पिछड़े रहते हैं, उनका भिन्न-भिन्न जाँचों द्वारा बुद्धिमाप मालूम करना आवश्यक होता है। साधारणतया इसको I. Q. कहते हैं जो intelligenoe quotient का संक्षेप है। बोलने की सुविधा के लिए केवल I. Q. कह दिया जाता है। इसके अनुसार बालकों के समूह वना कर उनकी शिक्षा, खेल आदि का प्रवन्ध करने में सुविधा होती है।

बुद्धिमाप अथवा आई क्यू (I. Q.) की गणना करने के लिये वालक की बौद्धिक वय (mental age) मालूम करना आवश्यक है। बौद्धिक वय से वालक की वार्षिक वय को भाग देकर उसको १०० से गुणा करने से जो अंक प्राप्त होता है वह आई क्यू या बुद्धि माप माना जाता है। (M. A. / C. A) × १०० इस गणना का संकेत है। M. A = mental age वौद्धिक वय, C. A = chronological age वर्ष क्रमानुसार वय। यदि किसी बालक की वर्ष क्रमानुसार वय (C. A.) १० वर्ष और उसकी वौद्धिक वय (mental age) भी १० पाई जाती है तो उसका आई क्यू या बुद्धिमाप १०।१० × १०० = १०० होगी। यदि दस वर्ष के बालक की वौद्धिक वय ५ है तो उसका बुद्धिमाप ५।१० × १०० = ५० हुआ। दस वर्ष के बालक की वौद्धिक वय १४ होने पर (१४।१० × १००) उसका बुद्धि माप १४० हुआ। सामान्य बुद्धिमाप १०० मानी गयी है। यह औसत माप है।

यदि १०० समवयस्क बालकों की विशेष परीक्षणों द्वारा बुद्धि परीक्षा की जाए तो अधिकांश (७५ या इससे अधिक बालकों) की बुद्धि माप के जो अंक प्राप्त होंगे वे औसत (average) माप कहलायेंगे। यदि दस वर्ष के बालक की बुद्धि माप १४० है तो औसत से ऊपर है, अर्थात् प्रखर बुद्धिवाला है। बुद्धिमाप का यह मत और उसकी गणना की विधि जर्मनी के प्रसिद्ध मनोविज्ञानी विलियम स्टर्न द्वारा आविष्कृत हुई थी।

बौद्धिक वय—(mental age) यह नित्यप्रति का सामान्य अनुभव है कि वय के साथ-साथ बुद्धि भी बढ़ती है। बुद्धि का विकास वय के क्रमानुसार होता है। छह मास के शिशु की अपेक्षा १ वर्ष का बच्चा अधिक समझता है। २ वर्ष के बालक में समझने की शक्ति और भी अधिक होगी। तीसरे वर्ष के अन्त तक उसकी बुद्धि का विकास और अधिक उन्नत होगा। जो दो वर्ष की वय में वह नहीं कर सकता था, अब वह करने लगेगा। इसी प्रकार उसकी बुद्धि का निरन्तर विकास होता चला जायगा। अल्प वय ही से प्रत्येक मास में बालक में नये-नये गुणों का उदय होता चला जाता है।

कौन सी आयु पर बालक में कौन गुण उदय होता है, इसी का विद्वानों और अन्वेषकों ने एक लेखा तैयार किया है। गुणों के उदय होने का विशेष क्रम होता है। उसी क्रम के अनुसार बालकों में विशिष्ट वय पर वे गुण उदय होते हैं। अन्वेषकों ने सहस्रों बालकों का धैर्य पूर्वक निरीक्षण करके उनमें सामान्यतः (average) जिस-जिस समय पर जो गुण प्रकट होते हैं उनको सारणी बद्ध किया है। इस प्रकार सारणी से यह तुरन्त मालूम हो जाता है कि अमुक बालक में अमुक वय पर ये गुण होने चाहिये। शारीरिक वृद्धि इतनी होनी चाहिये और मानसिक वृद्धि, अर्थात् बुद्धि विकास इतना होना चाहिये। बालक में इन विशिष्ट बातों को समझने की शक्ति होनी चाहिये। उसकी भावभंगिमा इस प्रकार की हो। अमुक वय पर उसको ऐसे खिलौने से खेलना चाहिये। किस वय पर वह कौन कर्म करे। कितने मास पर वह किन शब्दों का उच्चारण करे आदि।

इस प्रकार की सारणियों के अनुसार बालक से प्रश्न पूछ कर, उससे चेष्टाएँ करवा कर, पेन्सिल या स्याही से रेखायें या चिह्न बनवा कर बालक की मानसिक सीमा का अनुमान किया जाता है और उसी के अनुसार उसकी बुद्धि का विकास समझा जाता है। यदि एक वर्ष का बालक केवल उन प्रश्नों का उत्तर दे सकता है या केवल वे ही चेष्टायें कर सकता है जो छह वर्ष के बालक को करनी चाहिये, सात वर्ष के बालक के योग्य चेष्टाएँ नहीं कर

सकता तो उसकी बौद्धिक वयं ६ वर्ष मानी जायगी, यद्यपि उसकी वर्षक्रमानुसार वय १० वर्ष है। ऐसा बालक मन्द माना जायगा। यदि १०वर्ष का बालक दस वर्ष वय के लिये निर्दिष्ट परीक्षणों में सफल पाया जाता है तो वह सामान्य बुद्धिवाला है, उसका बुद्धिमाप १०० है। और यदि वह १४ या १५ वर्ष के वय की जाँचों में उत्तीर्ण होता है तो अतिप्रखर बुद्धिवाला है, उसका बुद्धिमाप १४० या १५० है।

इस प्रकार जांचों या परीक्षणों को 'स्केल' (scale) कहा जाता है। कितने ही प्रकार के स्केल व्यवहार में लाये जाते हैं। प्रत्येक वय के लिये और प्रत्येक प्रयोजन के लिये भिन्न-भिन्न स्केल तैयार किये गये हैं जिनके द्वारा बालकों तथा प्रौढ़ व्यक्तियों की बुद्धि का तुलनात्मक माप किया जा सकता है। प्रौढ़ों की बुद्धिमाप की गणना के लिये उनकी १५ वर्ष की वय मानी जाती है। इसी के आधार पर उनकी बौद्धिक वय की जाँच की जाती है।

बौद्धिक परीक्षणों का प्रयोजन—बौद्धिक जाँचों के तीन विशिष्ट प्रयोजन हैं :—

१. बालकों के सामान्य बौद्धिक स्तर का अनुमान। इससे यह ज्ञान होता है कि उस श्रेणी के बालकों को जो कुछ स्कूल में पढ़ाया जा रहा है उसको ग्रहण करने की बालकों में सामर्थ्य है या नहीं। उनकी योग्यता से उच्चतर स्तर का तो पाठ नहीं पढ़ाया जा रहा है। जिसको दो चार अतीव प्रखरबुद्धि वालों के अतिरिक्त अन्य बालक समझ ही न पाते हों।

२. बालकों की क्रियात्मक प्रविधि (mode of functioning) का विचार। यही आजकल अन्वेषण का विशेष विषय बना हुआ है जिस में अनेक विद्वान लगे हुए हैं। इस का अर्थ है जो शिक्षा बालकों को दी जाती है उसकी उन पर क्या प्रतिक्रिया होती है, वे किस प्रकार आचरण करते हैं, उसका उन पर क्या मानसिक प्रभाव होता है और वे अपने भावों को किस रूप में प्रकट करते हैं।

३. शिक्षा से बालकों को कितना लाभ होता है, उनके ज्ञान में कितनी उन्नति होती है। क्या कोई बालक शिक्षा से लाभान्वित नहीं होता, उसकी प्रगति सन्तोषजन नहीं है, वह पिछड़ा रहता है, उसका कारण मानसिक है अथवा वातावरणीय।

बालक की मानसमन्दता का निदान तथा उसके लिये उपयुक्त आयोजनों का विचार करने के लिये ये सब बातें जानना आवश्यक है।

बुद्धि-लब्धि या बुद्धिमाप (I. Q.) की उपयोगिता

आगामी पृष्ठों में जिन स्कूलों या परीक्षणों का उल्लेख किया गया है उनमें से गैसेल के परीक्षणों के अतिरिक्त सब बुद्धिमाप के स्केल हैं जिनके द्वारा बुद्धि की सीमा को व्यवहार में प्रकट करने के लिये कुछ मानक मान लिये गये हैं। यह सर्वमान्य है कि जनता में बुद्धि का स्तर सामान्य होता है। सहस्र व्यक्तियों में से ९९० में या ९९५ में लगभग समान बुद्धि स्तर पाया जाता है। संभव है शेष ५ में कोई विशेष तीव्र बुद्धि वाला हो या अतिमन्द बुद्धि का हो। साधारणतया सब ही सामान्य बुद्धि के होते हैं। बुद्धि भी एक ऐसा गुण है जो हाथ, पाँव, आनन, वर्ण आदि के समान आनुवंशिक है और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में और दूसरी से तीसरी पीढ़ी में, पीढ़ी दर पीढ़ी अवतरित होता चला जाता है। किन्तु उसका विकास बहुत कुछ वातावरण (environment) से प्रभावित होता है। सामान्य वातावरण में विकास भी सामान्य ही होता है। इस कारण १०० में ८० व्यक्तियों में बुद्धिस्तर सामान्य या समानरूप का पाया जाता है। इस सामान्य बुद्धिस्तर को अंकों के रूप में प्रकट करने के लिये बुद्धि लब्धि या बुद्धिमाप (I. Q.) का अविष्कार किया गया है। यह केवल एक अंकात्मक प्राकट्य का एक शब्दात्मक वाक्य है, इससे अधिक नहीं। औसतन बुद्धि लब्धि ९० से १०० तक पाई जाती है। इसी के अनुसार मानस मन्दता या बुद्धिहीनता को मापा जाता है। इसके अपेक्षतः जिनकी बुद्धि लब्धि ७० या ५० है वे मानसमन्द हैं। किन्तु यह सापेक्षिक वाक्य है और बुद्धि लब्धि स्वयं एक माप द्योतक शब्द है जिसका प्रयोग विद्यालय के विद्यार्थियों की योग्यता अथवा शिक्षा ग्रहण करने में प्रगति की तुलना के लिये किया जाता है। जिसकी बुद्धि लब्धि १०० है उसकी योग्यता अथवा प्रगति उस बालक के समवय वाले बालकों के समान है। १२० बुद्धि लब्धि वाला बालक उससे अधिक तीव्र है, उसकी प्रगति पहले बालक से अधिक सन्तोषजनक है। कुछ विद्वानों ने २३० या इससे अधिक बुद्धिमाप या बुद्धि लब्धि वालों को **प्रतिभा सम्पन्न** (gifted) कहा है। ७० से कम बुद्धि लब्धि वालों को हीन या मन्द (retarded) माना जाता है। किन्तु विकास अन्य कई दशाओं से प्रभावित है जिनमें वातावरण मुख्य है। जिनका वातावरण बौद्धिक है (intellectual), परिवार वाले विद्याप्रेमी हैं, जहाँ साहित्यिक चर्चा होती रहती है अथवा उच्च स्तर की या आध्यात्मिक प्रकृति की ओर व्यक्तियों का झुकाव होता है वहाँ बालक का अधिक बुद्धि विकास होना

स्वाभाविक है। माता-पिता का आपस का व्यवहार, अन्य सम्बन्धियों तथा मित्रों या पड़ोसियों से व्यवहार आदि का भी उस पर प्रभाव होता है।

क्या बुद्धि माप सदा समान रहता है ?

कुछ काल पूर्व तक यही धारणा थी कि बुद्धि माप में परिवर्तन नहीं होता। किन्तु अनेक विद्वानों ने इसमें अविश्वास प्रकट किया है। उनका मत है कि वातावरण के प्रतिकूल होने से, विशेष रोगों से आक्रान्त होने से, अथवा दुर्घटनाओं से, जिनमें शिर पर आघात लगते हैं, बुद्धि माप परिवर्तित हो सकता है। पारिवारिक कलहों का बालक के बुद्धिविकास पर बुरा प्रभाव होता है। व्यवहारात्मक अभाव से बालक के मानसिक विकास को गहरी हानि पहुँचती है। किसी भी प्रकार की हीनता का भाव बालक के मन में यदि घर कर लेता है तो उसकी छाप उसके जीवन पर्यन्त उस पर बनी रहती है। यह प्रयोग और निरीक्षण द्वारा भली भाँति प्रमाणित हो चुका है कि स्नेह का अभाव बालक के न केवल मानसिक विकास का घोर शत्रु है, किन्तु वह शारीरिक विकास के लिये भी अत्यन्त हानिकारक है।

इस पर सब सहमत हैं कि यदि बालक के जीवन की परिस्थितियों में कोई प्रतिकूल परिवर्तन नहीं होता, उसको सब वही अनुकूल दशायें तथा सुविधायें प्राप्त होती रहती हैं जो उसको प्रथम बार बुद्धिमाप (I. Q) मालूम करने के समय प्राप्त थीं, उसको कोई विशेष रोग नहीं होता, कोई हानिकारक दुर्घटना भी नहीं होती, पारिवारिक स्थिति भी वैसी ही शान्त और अनुकूल बनी रहती है जैसी पहले थी, मानसिक द्वन्द्वों को उत्पन्न करने वाली घटना भी नहीं होती तो उसके बुद्धिमाप में विशेष परिवर्तन की संभावना नहीं है। कई बार भिन्न-भिन्न समय पर परीक्षा करने से कुछ थोड़ा बहुत अन्तर पाया जा सकता है, ९५ बुद्धिमाप में ९० से १०० के बीच घटा-बढ़ी हो सकती है, किन्तु वह ८० या १२० नहीं हो सकता।

बौद्धिक योग्यता के परीक्षण

(Tests for intellectual ability)

बिनेट-साइमन परीक्षणों का प्रादुर्भाव

सन् १८९६ में फ्रांस में बिनेट नामक मनोविज्ञानी विद्वान स्कूल के विद्यार्थियों की मनोविज्ञानात्मक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के अनुसंधान में लगा हुआ था। उसका ध्यान विशेषकर कुछ बालकों की ओर आकर्षित

हुआ जिनकी प्रगति अन्य विद्यार्थियों के समान संतोषजनक नहीं थी। वे सब ही विषयों में पिछड़े हुए थे। उसने ऐसे बालकों का विशेष अध्ययन किया और शिक्षा-मंत्रालय को प्रस्ताव भेजा कि ऐसे बालकों की शिक्षा के लिये विशेष प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय। आठ वर्ष के पश्चात् मंत्रालय ने एक कमीशन नियुक्त किया कि वह इसकी जांच करे कि कितने बालक ऐसे हैं जो स्कूलों में प्रचलित सामान्य शिक्षाक्रम से लाभ नहीं उठा सकते। कमीशन को यह भी आदेश दिया गया कि ऐसे बालकों की जाँच-पड़ताल करके उनकी त्रुटियों का भी अध्ययन करे और उनके लिये आवश्यक शिक्षा तथा पुनः स्थापन (rehabilitation) के आयोजनों का विचार करके अपने प्रस्ताव भेजे। श्री विनेट को इस कमीशन का अध्यक्ष नियुक्त किया गया।

साइमन विनेट का सहयोगी था। इन दोनों ने सामान्य प्रगतिशील बालकों पर अनेक प्रयोग किये और पृथक्-पृथक् वय के अनुसार बालकों के समूह बना कर उनकी बुद्धि—अर्थात् उनकी सावधानता (awareness), विषय में रुचि तथा एकाग्रता, स्मरण, तत्परता, भावों को प्रकट करना, (discrimination), आदि—के स्तर की जाँच के उपयुक्त साधनों का विचार करके और बालकों पर प्रयोग करके उनको अन्त में परीक्षणों की सूची में सम्मिलित किया। इस प्रकार उन्होंने प्रत्येक वय के लिये उपयुक्त मानक परीक्षण (tests for norms) बनाये जो उस आयु के बालक सहज में कर सकते थे। इन परीक्षणों द्वारा वे बुद्धि विकास के अनुसार बालकों को वर्गों में विभाजित कर सकते थे। उन्होंने स्वयं लिखा है कि उनका तात्पर्य यह दिखाना है कि वैज्ञानिक प्रकार से किसी के बुद्धिस्तर को मापना और दूसरों के बुद्धिस्तर से तौलना सम्भव है तथा सामान्य (normal) बुद्धिस्तर से तुलना करके बुद्धि की मन्दता का भी ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

1. पुनरावर्तित स्टैनफ़ोर्ड-विनैट बुद्धि स्केल
(Revised Stanford-Binet intelligence scale)

यह स्केल स्टेनफोर्ड यूनिवर्सिटी में विनेट द्वारा स्थापित सिद्धान्तों के अनुसार वहाँ के मनोविज्ञान विषय के विद्वानों द्वारा प्रणीत होने से उपर्युक्त नाम से विख्यात है। प्रथम बार सन् १९१६ में प्रोफ़ेसर ल्यूविस एम. टर्मान (Lewis M. Terman) ने इसको बनाया था। उन्होंने फिर से सन् १९३७ में उसका प्रोफ़ेसर मांड मैरिल (Mand Merill) के सहयोग से

संशोधन करके दो रूपों में (L. and M forms) उसका विस्तार और परिवर्धन किया। यह अत्यन्त सर्वोपयोगी और सर्वप्रिय प्रमाणित हुआ। प्रायः सभी सभ्य देशों ने इसको अपनाया और इसका अनुवाद करा करा कर उपयोग किया। मानसमन्दता अथवा बुद्धिमाप का यह प्रमाण बन गया।

सन् १९६० में इसकी फिर से पुनरावृत्ति की गई। यह L-M Form कहा जाता है। इसमें पूर्व आवृत्ति के L. M. रूप के सभी सर्वोत्तम अंग या उपांग (items) सम्मिलित हैं। सर्वोत्तम से उन प्रश्नों अथवा अंगों से प्रयोजन है जो ४४९८ सामान्य मेधावी (मन्द नहीं) बालकों में २½ वर्ष से १८ वर्ष की वय के बालकों को पृथक-पृथक वयानुसार समूहों में विभक्त करने में अत्यन्त उपयोगी प्रमाणित हुए हैं।

परीक्षण करते समय जो बालक सामान्य (normal) बुद्धि का प्रतीत होता है उसकी परीक्षा उसके वर्ष क्रमानुसार वय से एक वर्ष से कम के परीक्षणांगों से प्रारम्भ की जाती है। उदाहरण के लिये ६ वर्ष के सामान्य बालक की परीक्षा ८ वर्ष के बालक के लिए निर्दिष्ट परीक्षण के अंगों (items) या एकांशों से प्रारम्भ की जायगी। यदि वह ६ परीक्षणांगों को पास कर लेता है तो उसको नौ वर्ष की वय का परीक्षण दिया जाता है। इन सबों को भी पास कर लेने पर उसको १०वें वर्ष का परीक्षण दिया जायगा। जो सबसे उच्च परीक्षण वह पास करता है वही उसका आधारभूत बौद्धिक स्तर (basal intellectual level) माना जाता है। इस नौ वर्ष के बालक को, जिसकी परीक्षा की जा रही है, नौ वर्ष के लिये पूरे नम्बर दिये जायेंगे, अर्थात् जितने महीनों की उसकी आयु है। अतएव उसको १०८ नम्बर मिलेंगे। यदि वह १०वें वर्ष के परीक्षणांगों में से चार को पास करता है तो उसको २ नम्बर मिलेंगे (प्रत्येक वर्ष के लिये छह परीक्षणांगों का समूह होने से एक का मूल्य २ माना जाता है)। यदि वह ग्यारहवें वर्ष के दो और १२वें वर्ष का एक परीक्षणांग भी पास करता है तो ४+२ नंबर और मिलेंगे। इस प्रकार उसको कुल १२२ नम्बर मिलेंगे ९ वर्ष के सब परीक्षणांग पास करने के लिये १०८

१०वें वर्ष के चार	,,	,,	,,	,,	८
११वें वर्ष के दो	,,	,,	,,	,,	४
१२वें वर्ष के एक	,,	,,	,,	,,	२
१३वें वर्ष के कोई	,,	,,	न करने	,,	०
					१२०

अतएव इस बालक की बौद्धिक वय १२२ मास अथवा १०·२ वर्ष है। बुद्धि माप के संकेत के अनुसार गणना करने से इसका आई. क्यू. लगभग १११ होगा। इन दोनों असमान अंकों का एक अन्य सारणी या संकेत के अनुसार समन्वय किया जाता है।

स्टेनफोर्ड-बिनेट स्केल बहुत लोकप्रिय है। बालकों की बुद्धिमत्ता के मापन के लिये इसका सबसे अधिक उपयोग किया जाता हैं। यह स्केल वय के अनुसार बनाया गया है। इसमें कुल १२२ एकांश (items) हैं जो छह-छह के समूहों में विभाजित किये गये हैं। ये २२ मास या दो वर्ष के बालकों से प्रारंभ करके १८ वर्ष, और कुछ विद्वानों की सम्मति के अनुसार २२ वर्ष के युवकों की परीक्षा के लिये उपयुक्त हैं। दो से ५ वर्ष तक प्रत्येक छह मास के अन्तर पर परीक्षणांगों (एकांशों) का सेट भिन्न कर दिया गया है। दो वर्ष के बालक के लिये जो परीक्षण निर्दिष्ट हैं, २ वर्ष ६ मास के बालक के लिये उससे पृथक परीक्षण समुदाय बनाया गया है। इसी प्रकार ५ वर्ष तक प्रत्येक छह मास पर यह सेट बदल दिया गया है। पाँच वर्ष के पश्चात् १ वर्ष का अन्तर कर दिया गया है। परीक्षण १ वर्ष के अन्तर से बदलते हैं। १४ वर्ष से २२ वर्ष वालों तक के परीक्षणों को ४ समूहों में एकत्र किया गया है। १५-१६ वर्ष वालों को अल्प प्रौढ़ (young adults) कहा गया है, उनके लिये एक समूह है। इसके पश्चात् समूह i, ii, iii १६ से २२ वर्ष तक वालों के लिये हैं।

परीक्षणों की इस प्रकार रचना की गई है कि उनकी जटिलता धीरे-धीरे क्रमानुसार बढ़ती जाती है। दो वर्ष के बालकों के परीक्षण इतने सरल हैं कि वे उनको सहज में कर सकें। तीसरे वर्ष के लिये परीक्षणों की जटिलता कुछ अधिक है जिनको तीन वर्ष के बालक कर सकें, किन्तु दो वर्ष के बालक न कर सकें। इसी प्रकार वय का विचार करते हुए परीक्षणों की जटिलता को क्रमशः बढ़ाया जा गया है।

परीक्षणों का दूसरा विशेष गुण उनकी विविधता तथा विचित्रता है। उनका विन्यास इस प्रकार का है कि वे बालक के सभी प्रकार के गुणों की जाँच करने के लिये उपयुक्त हैं, जो गुण उस विशेष वय के बालकों में होने चाहिये। प्रौढ़ों के परीक्षणों की जटिलता और विस्तार बहुत अधिक है। समझने की शक्ति, स्मरण, कल्पना, प्रत्युत्पन्नता, अनुमान, तर्क, विवेक (discrimination), तत्परता, विचार ये सब विस्तृत क्षेत्र इन परीक्षणों में विहित हैं। और भी अनेक क्षेत्र इन परीक्षणों द्वारा माप लिये जाते हैं।

२. वेश्लर स्केल (Wechsler-scale)

सन् १९३९ में वैलव्यू के मनोरोगों के अस्पताल के डॉक्टर डेविड वेश्लर ने प्रौढ़ों की बुद्धिमत्ता के माप के लिये इस स्केल की रचना की थी। कुछ समय के पश्चात् ही उन्होंने इसमें संशोधन किया जिससे इसकी उपयोगिता और भी बढ़ गई और वह १६ से ७४ वर्ष तक के व्यक्तियों की बुद्धि मापने में अत्यन्त सफल प्रमाणित हुआ। इसको Wechsler adult intelligence scale का नाम दिया गया। जिसका संक्षेप WAIS ही लिखा तथा बोला जाता है। ५ से १५ वर्ष के बालकों की बुद्धि मापने के लिये भी उन्होंने इसी प्रकार के परीक्षणों की रचना की WISC अथवा Wechsler intelligene scale for children कहलाता है। डॉक्टर वेश्लर ने अन्य भी कई परीक्षण या स्केल बनाये हैं। जो निम्नलिखित है :—

१. वेश्लर-वैलव्यू फार्म १

२. ,, ,, ,, २ (1939) × × ×

३. वैश्लर बुद्धि स्केल, बालकों के लिये (WISC) 1949,

४. वैश्लर बुद्धि स्केल, प्रौढ़ों के लिये (WAIS) 1955.

५. वैश्लर व्यक्तिगत (personal) और प्रारंभिक (primary) बुद्धि स्केल (WPPSI) 1967.

WISC परीक्षण ५ से १२ वर्ष तक के बालकों के लिये है; WPPSI ३½ से ६½ वर्ष के बालकों के लिये और WAIS परीक्षणों की रचना १६ से ७५ वर्ष तक के व्यक्तियों के लिये की गई है। वैश्लर परीक्षण स्केल में स्टेनफोर्ड-विनेट स्केल से विशेष भेद यह है कि परीक्षणों की रचना वय के अनुसार नहीं की गई है किन्तु विषय के अनुसार की गई है। प्रत्येक परीक्षण ११ (WAIS) या १२ (WISC) उप-परीक्षणों (sub-test) में विभक्त है। प्रत्येक उप-परीक्षण का प्रयोजन एक मानसिक शक्ति को अथवा मन (mind) की क्रियाविधि (functioning) की सीमा को मापना है। इस प्रकार, विचार की शक्ति, समझ, शब्दों के अर्थ का बोध, स्मरण, दो वस्तुओं को पृथक् करने का ज्ञान, अर्थात् विवेक (discrimination) आदि सबों का पृथक्-पृथक् अनुमान किया जा सकता है और प्रत्येक विषय (मानसिक शक्ति या क्रिया) की बुद्धि लब्धि (I. Q.) या माप मालूम की जा सकती है।

उपपरीक्षण दो प्रकार के हैं—**शाब्दिक** (verbal) और **निष्पादन** (performance) उपपरीक्षण। **शाब्दिक उपपरीक्षणों के उत्तर व्यक्ति**

बोलकर अपने शब्दों में देता है, अपनी वाक् शक्ति द्वारा प्रकट करता है। इसके विरुद्ध **निष्पादन उपपरीक्षणों** का उत्तर वह अपने हाथों की गति या क्रिया द्वारा स्पष्ट करता है। अपने हाथों से सामने टंगे हुये चित्र को अथवा उसके किसी भाग को इंगित करता है, अधूरे चित्र को रेखायें खींच कर पूरा करता है अथवा चित्र के ब्लॉकों को जोड़ कर उनसे पूर्ण चित्र बनाता है। एक सम्पूर्ण घटना को कई चित्रों में प्रदर्शित करके व्यक्ति से उन चित्रों को क्रमानुसार व्यवस्थित करने को कहा जाता है। इस प्रकार के परीक्षण **निष्पादन परीक्षण** कहे जाते हैं। ऐसे परीक्षण उन बालकों या व्यक्तियों के लिये बड़े उपयोगी होते हैं जो भाषा न समझते हों या जो अशिक्षित होते हैं अथवा अपने को व्यक्त नहीं कर पाते। संस्कृति हीनता से ग्रस्त परिवारों के बालकों में बहुधा ये दोष पाये जाते हैं। ऐसे बालक शाब्दिक परीक्षणों में सफल नहीं होते, उनको नंबर अधिक नहीं मिलते जिनको **प्रासांक** (score) कहा जाता है। किन्तु निष्पादन परीक्षणों में वे अधिक सफल होते हैं और उच्च प्रासांक लाभ करते हैं। मनोविज्ञानी परीक्षक के लिये भी बालक की बुद्धि अथवा प्रज्ञा (intelligence) को तोलने के लिये भी इस प्रकार के परीक्षण बहुत उपयोगी प्रमाणित हुये हैं। कुछ ऐसे स्केल या **मापनी** (scales) भी बनाई गई हैं जिनमें केवल निष्पादन परीक्षण ही निर्दिष्ट किये गये हैं। उन्ही से मनोविज्ञानी बालक की प्रज्ञा का अनुमान करते हैं। इनसे तीन प्रकार की बुद्धिमाप या बुद्धि लब्धि (I. Q.) प्राप्त की जाती है—शाब्दिक मापनी बुद्धि लब्धि (verbal scale I. Q.), निष्पादन मापनी बुद्धि लब्धि (performance scale I. Q.) और सम्पूर्ण मापनी बुद्धि लब्धि (full scale I. Q.)। परीक्षणों का संक्षिप्त उल्लेख वांछनीय और रुचिकर प्रतीत होता है जिससे उनके रूप का बोध होगा। ये निम्न-लिखित हैं।

१. **सामान्य ज्ञान** (general information)—इसके २५ प्रश्न निर्दिष्ट हैं जिनके द्वारा व्यक्ति के सामान्य ज्ञान को मापा जाता है।

२. **सामान्य बोध शक्ति** (general comprehension)—१० प्रश्नों द्वारा समझने की सामर्थ्य का अनुमान।

३. **गणित कौशल** (arithmetic skill)—१० मौखिक प्रश्न।

४. **अंक** (digits), आगे को और पीछे को भी। ३ से ९ तक के अंकों को, आगे पीछे करके, परीक्षक कहता है और व्यक्ति उनको दोहराता है। यह स्मरण शक्ति का परीक्षण है।

५. **समानता** (similarities)—१२ जोड़े, जैसे, बिल्ली-चूहा, नीला-पीला, प्रथम-अंतिम। व्यक्ति को बताना होता है कि उनमें क्या समानता या असमानता है।

५ A. **शब्दावली** (vocabulary)—४२ शब्दों की व्याख्या। शब्दों को इस प्रकार रखा जाता है कि उनकी जटिलता या अर्थगूढ़ता क्रमशः बढ़ती जाती है।

उपर्युक्त शाब्दिक परीक्षण है। निम्नलिखित निष्पादन परीक्षण भी ५ या ६ हैं।

६. **चित्रों की पूर्ति**—१५ या अधिक ऐसे चित्रों को व्यक्ति को दिखाया जाता है जो अधूरे होते हैं, एक या दो रेखायें नहीं होतीं। बालक को उन रेखाओं की पूर्ति करनी होती है।

७. **चित्रों को विशेष क्रम से लगाना**—कार्डों के ६ सेट—प्रत्येक सेट में ३ से ६ चित्र। चित्र इस प्रकार बनाये जाते हैं कि एक सेट के चित्रों में एक सम्पूर्ण कहानी क्रमशः चित्रित होती है। बालक को या व्यक्ति को चित्रों को इस प्रकार क्रमशः लगाने को कहा जाता है कि उनके द्वारा कहानी की घटनाओं का क्रमशः प्रदर्शन हो।

८. किसी पदार्थ, खिलौने आदि जैसे मोटर, घोड़ा, शेर, कुत्ता, बिल्ली मनुष्य आदि खिलौनों के भागों को फिर से जोड़ कर समस्त पदार्थ या खिलौने को बना देना। ये खिलौने प्रायः ६ भागों में बनाये जाते हैं।

९. चित्रों के ब्लाकों के सेट आते हैं। लकड़ी के ब्लाक पर चित्र का एक भाग लगा रहता है। परीक्षार्थी को ब्लाकों को जोड़ कर चित्र को सम्पूर्ण करना होता है।

१०. **अंक प्रतीक** (digit symbol)—यह कोड प्रतिस्थापन परीक्षण (code substitution test) है जिसमें ९ प्रतीकों (symbols) को ९ अंकों के साथ जोड़ कर, एक प्रतीक और अंक के जोड़े बना दिये जाते हैं। इस प्रकार ९ जोड़े बन जाते हैं। प्रौढ़ों को ९० सेकंड में जितने अधिक जोड़ों को संभव हो पहचानना होता है और अल्प आयु वालों को २ मिनट में।

कुछ ऐसे भी बुद्धिमापी स्केल या मापनी हैं जिनमें परीक्षण केवल निष्पादन (performance) सम्बन्धी हैं। ऐसे परीक्षण तथा वैश्लर निष्पादन परीक्षणों का बहुत उपयोग होता है। विशेषकर जहाँ भाषा

सम्बन्धी कोई कठिनाई होती है वहाँ ऐसे परीक्षण बड़े उपयोगी पाये गये हैं।

वेश्लर परीक्षण भी बहुत लोकप्रिय हो गये हैं। उनका भी बहुत सी भाषाओं में अनुवाद हुआ है और अनेक देशों में मनोविज्ञानी उनका व्यवहार करते हैं। कुछ विद्वान दोनों स्टैनफोर्डविनेट और वेश्लर स्केलों द्वारा परीक्षार्थी को परीक्षा करते हैं। जो ऐसा करें उनको स्मरण रखना चाहिये कि दोनों प्रकार के स्केलों में परीक्षणों में प्राप्तांक (scores) भिन्न होंगे। इस कारण दोनों में बुद्धि-लब्धि (I. Q.) भिन्न होगी। दोनों स्केलों में सहसम्बन्ध (correlation) ८० और ९० के अंकों में होगा। स्टैनफार्ड-विनेट परीक्षण मुख्यतया शाब्दिक है। इस कारण निष्पादन सम्बन्धी परीक्षणों से उसके प्राप्तांकों का भिन्न होना स्वाभाविक है। दोनों स्केलों के शाब्दिक परीक्षणों में फिर भी कुछ साम्य है।

जैसा पहले कहा गया है स्टेनफोर्ड-विनेट स्केल की वयानुसार रचना की गई है, किन्तु वेश्लर स्केल का आधार वय नहीं है। उसके परीक्षणों द्वारा बालक या व्यक्ति की वय मालूम करनी होती है। सामान्य बुद्धि वाले बालकों की आयु का प्रश्नों के उत्तरों से अनुमान किया जा सकता है। ये प्रश्न बालक की बुद्धिमत्ता को मापते हैं। वे उस बालक की वय के समूह के प्रतीक हैं, इस कारण परीक्षार्थी बालक के प्राप्तांक उस समूह के बुद्धि दर्शक हैं। उनमें बालक की वय का विचार आधार नहीं बनाया गया है। वेश्लर परीक्षण में जो अंक बालक प्राप्त करता है उसको एक विशेष संकेत (formula) के अनुसार तैयार की हुई सारणी (table) से तुलना करके उसकी बुद्धि-लब्धि (I. Q.) निकाली जाती है। किन्तु बुद्धि-लब्धि या बुद्धि-माप 'विचलन बुद्धि लब्धि' (deviation I. Q.) कही जाती है। वेश्लर स्केल से प्राप्त अंकों के लिये इसी शब्द का प्रयोग किया जाता है। परीक्षण के फलों के अनुसार परीक्षक परीक्षार्थी की बुद्धि का जो अनुमान करता है, उसको यह केवल अंकों के रूप में व्यक्त करता है। स्टेनफोर्ड-विनेट स्केल में जो १०० मानक (standard) माना गया है, अर्थात् जिसको बुद्धि का सामान्य स्तर (average level) कहा गया है, उसको वेश्लर ने १५ माना है। इसको S. D. १५ कहा जाता है, अथवा मानक विचलन १५। उसकी स्टेनफोर्ड-विनेट से तुलना करने के लिये एक सारणी बनाई गई है। इस विधि के लिए वेश्लर का दावा है कि उसके अनुसार गणना करने से जो बुद्धि-लब्धि प्राप्त होती है उसमें एक वयसमूह से दूसरे वयसमूह में परिवर्तनीयता (variability) का अवसर अत्यल्प होता है।

अन्य परीक्षण (Other Tests)

प्राग्विद्यालय बालक के लिए परीक्षण
(tests for preschool child)

१. गैसल का परिवर्धन क्रम परिशिष्ट (Gassel's development schedule)। अमरीका के डॉक्टर गैसल और उसके सहयोगियों द्वारा प्रणीत परिवर्धन क्रम परिशिष्ट (schedule) शिशुओं और तीन वर्ष के वय तक के बालकों के लिए एक अत्युत्तम स्केल है। डॉक्टर गैसल और उनके सहयोगियों ने कई वर्ष तक कई सहस्र बालकों का गम्भीर निरीक्षण करके उनके परिवर्धन क्रम का ब्योरा तैयार किया। शरीराङ्गों के परिवर्धन (लम्बाई, मोटाई, भार आदि) के अतिरिक्त उन्होंने चार प्रकार के गुणों के विकास पर विशेष ध्यान दिया। १. शारीरिक समन्वय (bodily coordination) अर्थात् अङ्गों की गतियों का समन्वय। २. हाथों और नेत्रों का समन्वय। ३. भाषा (language) और ४. वैयक्तिक सामाजिक व्यवहार (personal social behaviour)। उन्होंने यह अनुभव किया कि इन चारो क्षेत्रों में परिवर्धन एक विशेष क्रम और गति से होता है, यद्यपि गति पृथक्-पृथक् बालकों में भिन्न हो सकती है। किसी में कुछ गुण कुछ समय पूर्व उदय हो सकते हैं, अन्य में वे ही गुण कुछ विलम्ब से प्रकट होते हैं। किन्तु सामान्यतः अधिकतर में उनके विकास का जो समय पाया गया उसी के अनुसार उन्होंने उनके उदय का समय निर्णीत किया। इस प्रकार उपर्युक्त क्षेत्रों में विकास के उन्होंने मानक या आदर्श (norms) बना दिये। इनसे तुलना करके बालक में परिवर्धन की गति का अनुमान सहज में किया जा सकता है। यदि किसी क्षेत्र में कोई मन्दता है, उसके गुण का उदय अति बिलम्बित है, तो भी पता लग जाता है।

किन्तु इसमें बुद्धि परीक्षण के समान कोई जाँच नहीं है।

अनेक त्रुटियाँ होने पर भी गैसल परिशिष्ट का विशेष लाभ यह है कि वह शिशु के परिवर्धन की प्रगति का लेखा रखने में बहुत सहायक है, शारीरिक तथा मानसिक दोनों के विकास का क्रमशः लेखा बालक की त्रुटि को स्पष्ट कर देने में अत्यन्त उपयोगी पाया गया है। उससे बालक की भावी संज्ञानात्मक योग्यता (cognitive abilities) का भी आभास मिलता है।

२. ग्रिफिथ स्केल (Griffith scale)—कुछ मास से दो वर्ष तक के बालकों के लिये है। यह अधिक विस्तृत है। इसमें २६० परीक्षणाङ्ग या

एकांश (items) हैं जिनके द्वारा पाँच क्षेत्रों का निरीक्षण किया गया है—
१. गत्यात्मक (locomotor); २. वैयक्तिक-सामाजिक (personal–social); ३. श्रवण–भाषण (hearing–speech) ४. हस्त–नेत्र समन्वय (hand–eye coordination) और ५. निष्पादन (performance)। यह वहुत कुछ स्टेनफोर्ड–विनेट परीक्षण के समान वय स्केल है। उसी के समान इससे वुद्धि लव्धि (I. Q.) के स्थान पर परिवर्धन लव्धि (D. Q.) मालूम की जाती है। किन्तु यह परीक्षक के लिये वहुत जटिल परीक्षण है। इसको सफलतापूर्वक करने के लिए वड़े कौशल की आवश्यकता है। परीक्षक तीक्ष्ण निरीक्षण शक्ति वाला होना चाहिए और उससे जो फल प्राप्त हों उनको समझने, उनका निरूपण अथवा समन्वय करने के लिये भी अनुभव प्राप्त हो।

३. मेरिल–पामर स्केल (Merill Pulmer Scale) भी वुद्धि परीक्षण है और वहुत प्रयोग किया जाता है। यह २ से ५ वर्ष तक के वय के वालकों के लिए है। इसमें ३८ एकांश या परीक्षणाङ्ग हैं जिनमें कुछ खेल, विविध रङ्गों को पृथक् करना, चित्रों से वस्तु पहचानना, व्लाकों से घर या चित्र वनाना, शब्द वनाना आदि ऐसी ही निष्पादन क्रियायें हैं। कुछ को कई स्तरों पर प्रयोग किया गया है जिससे परीक्षणाङ्गों की संख्या ९३ हो जाती है। किन्तु शाब्दिक परीक्षणाङ्ग नहीं लिये गये हैं। वालक जितनी शीघ्रता और तत्परता से परीक्षणाङ्ग को पूरा कर सकता है उस पर भी ध्यान दिया जाता है।

इस स्केल के परीक्षणाङ्गों को विविध प्रकार से रङ्ग कर और उस आयु के वालकों के लिए आकर्षक आकारों और वस्तुओं को चुनकर ऐसा वनाया गया है कि वालक तुरन्त उनकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं जिससे परीक्षक को वालक का सहयोग प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

इस स्केल की विशेष त्रुटि यह है कि यह वालक की गत्यात्मक प्रवृत्ति पर निर्भर करता है। यदि परीक्षण के समय वालक अनुक्रिया (respond) करने के भाव (mood) में नहीं है तो उसको प्रवृत्त नहीं किया जा सकता। वालक का नियन्त्रण करना कठिन है।

४. मिनोसोटा प्राक्विद्यालय स्केल (Minnesotta Preschool Scale)—इस स्केल में कई प्रकार के सुधार करके उसको उन्नत किया गया है। किन्तु वह सामान्य वुद्धि वाले वालकों की वुद्धि लव्धि मालूम करने के लिये अधिक उपयुक्त है।

समूह परीक्षण (Group Tests)

स्टेनफोर्ड-बिनेट और वेश्लर स्केलों के समान ये भी बुद्धिमापक परीक्षण हैं। वे परीक्षण व्यक्तिगत हैं; प्रत्येक व्यक्ति की पृथक-पृथक परीक्षा करनी होती है। किन्तु ये परीक्षण एक पूर्ण समूह के लिये बनाये गये हैं। पूर्ण समूह की एक ही समय, एक साथ परीक्षा की जाती है, यद्यपि परीक्षा बुद्धिमत्ता ही का ज्ञान करने के लिये की जाती है। ये सामूहिक या समूह परीक्षण कहे जाते हैं। इनका उपयोग उस समय किया जाता है जब थोड़े ही समय में बहुत व्यक्तियों की परीक्षा करनी आवश्यक होती है। अनेक बार इन परीक्षणों को पेन्सिल-कागज परीक्षण कहा जाता है। परीक्षक परीक्षणों अथवा प्रश्नों को बोल देता है और परीक्षार्थी पेंसिल या अपनी लेखनी से कागज पर स्वयं उनके उत्तर लिखता है। बहुत बार प्रश्नों को छाप कर या टाइप करके दे दिया जाता है। प्रश्न बहुधा मौखिक प्रकार ही के होते हैं। किन्तु लिखकर देने से एक ही समय में अनेक व्यक्ति उत्तर लिख सकते हैं या प्रश्न अथवा आदेश के अनुसार आकृति बना सकते हैं, या अन्य कोई क्रिया कर सकते हैं।

ऐसे परीक्षणों की विशेष आवश्यकता प्रथम बार प्रथम विश्व युद्ध और तत्पश्चात दूसरे विश्व युद्ध में प्रतीत हुई थी। सन् १९१७–१९१८ में प्रथम विश्वयुद्ध (world war) में १,७५०,००० व्यक्तियों की पदाति सेना, नाविक सेना तथा वायु सेना में भरती करने के लिये परीक्षा की गई थी। दूसरी बार सन् १९४१–४५ में, द्वितीय विश्व युद्ध में, एक करोड़ से ऊपर व्यक्तियों की परीक्षा करनी पड़ी। मनोविज्ञानी विद्वानों ने सन् १९१७ से पूर्व ही से सामूहिक परीक्षणों की रचना प्रारंभ कर दी थी और बहुतों का निर्माण कर लिया था। किन्तु उस समय तक उनको प्रकाशित नहीं किया गया था। जब मनोविज्ञानियों से रंगरूटों की बुद्धि मापने को कहा गया तो उन्होंने एक कमेटी बनाकर विचार आरम्भ किया। पहले के जितने बुद्धिमापक परीक्षण थे उन सबों की उन्होंने फिर से जाँच की और अन्त में दो परीक्षण सेट बनाये जो अल्प समय में बहुत से व्यक्तियों की जाँच करने के लिये उपयुक्त हों और उनको शीघ्र ही नम्बर भी दिये जा सकें। इन परीक्षणों को army alpha और army beta परीक्षण कहा जाता है।

इन परीक्षणों के द्वारा जिन मानसिक प्रक्रमों (process) या क्रिया विधियों का पता लगता है वे बुद्धि के उन गुणों की द्योतक हैं जिनकी युद्ध

में आवश्यकता होती है। परीक्षण इस प्रकार के रचे गये हैं कि उनके उत्तर के लिये या सफलता पूर्वक पूर्ण करने के लिये विशेष शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती। और न परीक्षक ही को परीक्षा विधि का अभ्यास करना होता है। इधर इन परीक्षणों में कुछ सुधार या परिवर्तन करके उनको Armed Forces Qualification Test (AFGT) बना दिया गया है और उन्ही के द्वारा सेना में भरती होने के इच्छुक व्यक्तियों की जाँच करके उनको भरती किया जाता है।

इन सामूहिक बुद्धिमाप परीक्षणों को इतना उपयोगी पाया गया कि उनके सेना में उपयोग के पश्चात शीघ्र ही स्कूल और कालेजों के लिये वैसे ही समूह परीक्षण तैयार हो गये और प्रकाशित किये जाने लगे। इसी प्रकार का लोर्ज-थौर्नडाइक (Lorge Thorndike) बुद्धिमापी परीक्षण, किन्डरगार्टन से लेकर हाई स्कूल के १३६००० बालकों की परीक्षा करके, उसको मानकीकृत किया गया (standardised)। जिन बालकों पर प्रयोग किये गये उनको इस प्रकार चुना गया कि जनता के सभी सांस्कृतिक तथा आर्थिक स्तरों के परिवारों के बालक उनमें आ जाएँ जिससे परीक्षण में जाति के समस्त स्तरों का पूर्ण प्रतिनिधित्व रहे।

समूह परीक्षण में कुछ त्रुटियाँ भी हैं। परीक्षक यह नहीं जान पाता कि परीक्षार्थी प्रश्न को या जो कुछ उसको करना है वह भली भाँति समझ पाया है या नहीं। ऐसे बहुत उदाहरण मिले जहाँ भली प्रकार न समझने के कारण परीक्षार्थी को अल्प अंक प्राप्त हुये जिससे उसकी बुद्धि-लब्धि अत्यल्प हो गई। दूसरी त्रुटि यह है कि परीक्षक परीक्षार्थी के भावों का अनुमान नहीं कर सकता। उत्तर देने में अथवा क्रिया करते समय उसके मन में किस प्रकार के भाव उदय होते हैं यह अनुभव करने का परीक्षक को अवसर नहीं मिलता। तब भी उनसे परीक्षक को विद्यार्थी के गुणों का बहुत कुछ अनुमान हो जाता है। किन्तु परीक्षार्थी के अन्तर्भावों का वह मूल्यांकन नहीं कर पाता।

परिवर्धनक्रम स्केल या मापनी
(Developmental Scales)

१. वाइनलैंड सामाजिक परिपक्वता स्केल (Vineland social-maturity scale) वास्तव में परीक्षण नहीं है, जैसा परीक्षण शब्द का अर्थ समझा जाता है। वह बालक के गुणों या क्रियाशक्ति के सम्बन्ध में जो कुछ मालूम होता है उसका ब्योरा या लेखा है। बालक सम्बन्धी सूचनाएँ

उसके माता-पिता से, सम्बन्धियों से, तथा जो भी बालक के निकट सम्पर्क में आये हैं, जिनको स्वयं बालक को खिलाने का, निरीक्षण करने का या उसके साथ रहने का अवसर मिला है, उन सबों से प्राप्त की जाती हैं। इनको ८ शीर्षकों में सामूहित किया गया है जो ये है, आत्मनिर्भरता (self-help); स्वयं खाने का प्रयत्न (self help in eating); वस्त्र पहिनने और ओढ़ने का स्वयं प्रयत्न (dressing); स्वयं क्रिया करने की चेष्टा (sef-direction), बालक की प्रवृत्ति (क्या करना अधिक रुचिकर है) (occupation); चलन-गमन (locomotion); संज्ञापन (communication), अर्थात् अपनी इच्छा या आवश्यकता को बताना; और समाजीकरण (socialization)। इन सूचनाओं के अनुसार बालक को अंक या नम्बर दिये जाते हैं और उनसे बालक की सामाजिक वय (social age) तथा सामाजिक लब्धि (social quotient, S. Q.) निकाली जाती है। इस सामाजिक लब्धि का स्टेनफोर्ड-विनेट स्केल द्वारा मालूम हुई मानसिक आयु (M. A.) से सहसम्बन्ध (correlation) देखा जाता है। इस प्रकार बालक की वर्षक्रमानुसार (chronological) सामाजिक (S. A.) और मानसिक (M. A.) वयों की तुलना करने से यदि बालक में कोई त्रुटि होती है अथवा भविष्य में त्रुटि होने की संभावना होती है तो उसका पता लग जाता है।

इस मापनी को भी अनेक बार उपयोगी पाया गया है। किन्तु बालक के सुधार के लिये आवश्यक योजनाओं का निर्णय करने के लिये बालक के वुद्धि स्तर, त्रुटि का प्रकार (बुद्धिहीनता किन दिशा में है), उसकी वय तथा बालक का पारिवारिक वातावरण, इन सब का विचार भी आवश्यक है।

२. **ओसरस्की गत्यात्मक प्रवीणता स्केल** (Oseretsky motor proficiency scale)—यह मापनी ४ से १६ वर्ष तक की वय के बालक तथा किशोरों (adolescents) की गत्यात्मक वय (motor age) जानने के लिये परीक्षण विधि है। परीक्षणों को वय के अनुसार रखा गया है। किन्तु उनकी इतनी विस्तृत रचना की गई है कि प्रत्येक वय के बालक में विकसित गति सम्बन्धी सब ही प्रकार के गुणों का मापन हो जाता है; स्थिर समन्वय (static coordination) अर्थात् बालक के गति न करते समय भी उसके अंगों की स्थिति में समन्वय है या नहीं, क्रिया के समय हाथों, पावों तथा नेत्रों और उसके साथ ही शिर की गतियों (movements) का समन्वय; गतियों का वेग (speed); गतियों पर नियंत्रण; इन सब

गुणों का परीक्षणों द्वारा बोध हो जाता है। इसी को **गत्यात्मक व्यवहार** कहा जाता है। परीक्षण सरल हैं और उनके लिए साधारण उपकरण—रस्सी, गेंद, कागज, लकड़ी के भिन्न-भिन्न आकार के टुकड़े तथा ऐसे ही अन्य पदार्थों की आवश्यकता होती है। परीक्षक को करके दिखाने होते हैं। उन्हीं के अनुसार बालक परीक्षक को देख कर क्रियायें करता है।

ये परीक्षण अल्पमन्द बालकों के लिए जिनमें कुछ गत्यात्मक त्रुटि भी होती है, उपयुक्त हैं।

निष्पादन परीक्षण (Performance Test)

निष्पादन परीक्षणों में, जिनको वेश्लर स्केल की व्याख्या करते हुये उपपरीक्षण कहा गया है, परीक्षार्थी कुछ क्रिया द्वारा उत्तर देता है। सामने रँगे चित्र को या उसके किसी भाग को शलाका से इङ्गित करता है, अथवा कई चित्रित ब्लाकों को जोड़कर चित्र से बनाता है अथवा कागज पर पेंसिल या लेखनी से कुछ खींचता है। अर्थात् वह कुछ क्रिया करता है जो परीक्षक के प्रश्न का उत्तर होता है। ऐसे परीक्षण विशेषतया उनके लिये उपयुक्त होते हैं जो शब्दों का अर्थ नहीं समझ पाते, या बधिर होते हैं, अथवा भाषण (speech) शक्ति में त्रुटि होती है, अनपढ़ होते हैं। कुछ मापनियों में शाब्दिक और निष्पादन दोनों प्रकार के परीक्षण रखे जाते हैं, जैसे वेश्लर परीक्षण में।

सैंगिन का आकार बोर्ड (Senguin Form Board)

एक बोर्ड में १० ब्लाक लगे होते हैं जिन पर भिन्न-भिन्न प्रकार की आकृतियाँ बनी होती हैं। परीक्षार्थी बालक को इन ब्लाकों को फिर से लगाना होता है। परीक्षक उनको बोर्ड में से निकाल देता है और बालक से उन्हें फिर से लगाने को कहता है। बालक जितनी शीघ्रता से उनको फिर से लगा सकता है उतने ही उसको अधिक नम्बर मिलते हैं। तीन बार इस परीक्षण को दुहराया जाता है। जितने कम से कम समय में बालक परीक्षण को पूरा कर सकता है वही उसका प्राप्ताङ्क होता है।

यह ३ से १० वर्ष के बालकों के लिए उपयुक्त निष्पादन परीक्षण है। यह प्रथम निष्पादन परीक्षण था जिसका सैंगिन (Senguin) नामक विद्वान ने मानसमन्दों के संवेदी-प्रेरक प्रशिक्षण (sensorimotor training) के लिए आविष्कार किया था। इसका अब भी उपयोग किया जाता है। कितने ही अन्य परीक्षणों में इन परीक्षणों को सम्मिश्रित कर लिया गया है। इसके सिद्धान्त या आधार पर कितने ही अन्य विद्वानों ने परीक्षणों की रचना की

है जो उनके नामों के अनुसार ही नामाङ्कित किये गये हैं; फर्ग्यूसन (Ferguson) परीक्षण, डीयरबोर्न (Dearborn) परीक्षण आदि कई सैंगिन परीक्षण की अपेक्षा अधिक जटिल हैं।

पोर्टियस भूलभुलैया परीक्षण (Porteus Maze Test)

इस परीक्षण में रेखायें खींचकर भूलभुलैया बनाई गई है जिनकी जटिलता, अतिसरल से प्रारम्भ करके क्रमशः बढ़ाई गई है। यह परीक्षण तीन वर्ष से लेकर प्रौढ़ या वयस्क वय वालों के लिए रचा गया है और इस कारण परीक्षणों का एक क्रम बन गया है जिसका वय के अनुसार व्यवहार किया जाता है, तीन वर्ष के बालक के लिये सरल भूलभुलैया है, वयस्क को सबसे जटिल भूलभुलैया का परीक्षण दिया जाता है।

भूलभुलैयाओं के सेट छपे रहते हैं। परीक्षा के समय परीक्षार्थी को प्रवेशद्वार से भूलभुलैया में प्रवेश करके पेंसिल द्वारा अपना मार्ग दर्शित करते हुए उसके निकास द्वार (exit) से बाहर निकलना होता है। जहाँ परीक्षार्थी भूल करता है वहाँ उसको रोक दिया जाता है और दूसरा वैसा ही छपा चित्र दे दिया जाता है। परीक्षार्थी ने जहाँ भूल की थी, वहाँ से वह प्रारम्भ फिर से करता है। यदि वह फिर से भूल करता है तो परीक्षण समाप्त कर दिया जाता है और परीक्षार्थी असफल माना जाता है। परीक्षार्थी जो सबके जटिल परीक्षण को पूर्ण करता है वही उसका प्राप्ताङ्क समझा जाता है।

पोर्टियस के मतानुसार यह परीक्षण परीक्षार्थी की दूरदृष्टि और उसकी योजनाशक्ति (planning) का दर्शक है। उसका दावा था कि शाब्दिक परीक्षणों की अपेक्षा इस परीक्षण के द्वारा परीक्षार्थी के उन गुणों या बुद्धि का अधिक यथार्थ बोध होता है जो समाज में अपने जीवन यापन के लिए आवश्यक है। पोर्टियस ने सन् १९३४ में इसकी रचना की थी। उसका कहना था कि 'सामाजिक निपुणता' (social competence) का वह यथार्थ सूचक है।

कोह का ब्लाक डिजाइन परीक्षण (Koh's Block Design Test)—इस परीक्षण में १६ घनाकार (cubes) ब्लाक हैं जिनके पृष्ठ क्रमशः नीले, लाल, पीले, श्वेत; लाल-श्वेत और नीले-पीले रँगे पृथक् १७ कार्डों पर बने हुए हैं और १७ कार्डों पर कुछ डिजाइन अथवा अभिकल्प खिंचे होते हैं। परीक्षार्थी को ब्लाक सहित अभिकल्प को कापी करना होता है, उसकी प्रतिलिपि तैयार करनी होती है। कुछ अभिकल्प ४ नोकों से पूर्ण होते हैं,

कुछ ६ से और कुछ १६ से। परीक्षार्थी बालक जितने समय में और जितनी वार में अभिकल्पों की कापी को पूर्ण कर सकता है वही उसकी योग्यता का सूचनाङ्क है।

यह परीक्षण परीक्षार्थी की विश्लेषक (analytical) और संश्लेषक (synthesising) योग्यता का विश्वस्त सूचक है, उससे यदि बालक में कोई मानसिक त्रुटि है या व्यक्तित्व का विकार है तो वह भी स्पष्ट हो जाता है। इसका वहुत व्यवहार होता है। अन्य कितने ही विद्वानों ने इसमें घटा-बढ़ी करके अपने-अपने प्रस्तावित परीक्षणों को प्रकाशित किया है। किन्तु उन सवों का आधार यही परीक्षण है। इस परीक्षण में ब्लाकों को कई प्रकार से जो रंग दिया गया है और उनके पृष्ठों पर जो रंगीन चित्र छपे हैं उससे परीक्षण बालक के लिये आकर्षक वन गये हैं जिससे परीक्षक को उनका सहयोग शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।

गुडेनफ़ का एक-मनुष्य-खींचो परीक्षण (Goodenough draw-a-man-test) में बालक से एक मनुष्य का चित्र खींचने को कहा जाता है, जितना उत्तम वह खींच सके। चित्र की सुन्दरता, शरीर के भिन्न भागों का अनुपात, उनका संदर्श, पहनावा, स्वच्छता आदि ५१ गुणों या चित्र संबंधी विशेषताओं के लिये बालक को अंक दिये जाते हैं और उनसे बालक की मानसिक आयु का अनुमान किया जाता है।

ऐसे ही अन्य बहुत से निष्पादन परीक्षणों की रचना की गई है जिनमें से अधिक प्रचलित परीक्षण निम्नलिखित हैं :—

पिन्टर-पेटर्सन निष्पादन स्केल (Pinter-Paterson Performance Scale)

कौलिन्स-ड्रेवेर निष्पादन स्केल (Collins-Drever Performance Scale)

कौर्नेल-कोक्स निष्पादन स्केल (Cornelle-Coxe Perfornance Scale)

आर्थर फार्म I और फार्म II निष्पादन स्केल (Arthur Form I and Form II Test)

पीछे से रचे हुए परीक्षण प्रायः पहले के परीक्षणों में हेर-फेर करके वना दिये गये हैं; कम से कम वे उन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित हैं जिनकी पूर्व के विद्वानों ने रचना की थी। उनमें किसी नये सिद्धान्त या प्रस्ताव का प्रतिपादन नहीं किया गया है।

निष्पादन परीक्षणों के सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि उनके आधार पर बुद्धि माप (I. Q) निकालना वैज्ञानिक दृष्टि से उचित नहीं है। उनका उपयोग सीमित है। उनमें सफलता बालक की विशेष तथा कई प्रकार की योग्यताओं पर निर्भर करती है। फिर उनके फलों के अनुसार बालक को जो नंबर दिये जाते हैं वे केवल परीक्षक के व्यक्तिगत अनुमान पर निर्भर होते हैं जिसमें बहुत कुछ भिन्नता की संभावना है। इस कारण कई भिन्न-भिन्न परीक्षणों या स्केलों द्वारा बालक की परीक्षा के पश्चात बुद्धि मूल्यांकन सम्बन्धी अङ्कों का प्रस्ताव उचित है।

तो भी वे इस पर सहमत हैं कि विशेषकर मन्द बुद्धि वालों की परीक्षा के लिये वे बहुत उपयोगी हैं। ऐसे बालकों के शाब्दिक परीक्षणों के प्राप्तांक (scores) सदा अतिन्यून होते हैं। निष्पादन परीक्षणों में बालक अधिक प्राप्तांक लाभ करते हैं जिससे उनकी योग्यता का उचित बोध हो जाता है। केवल शाब्दिक परीक्षणों के प्राप्तांकों से उनकी बुद्धि हीनता वास्तविक से कहीं अधिक मालूम होती है। अतएव वे दोनों शाब्दिक और निष्पादन युक्त परीक्षण स्केलों के पक्ष में हैं, जैसे वैश्लर स्केल में दोनों प्रकार के परीक्षण सम्मिलित हैं।

उपलब्धि परीक्षण (Achievement Tests)

इन परीक्षणों का मुख्य प्रयोजन विद्यार्थी ने जो अब तक सीखा है उसका मूल्यांकन करना है। इनके द्वारा यह बोध होता है कि अभी तक विद्यार्थी को जो शिक्षा दी गई है उसको उसने कितना ग्रहण किया है, उसको कितना लाभ हुआ है। दूसरे शब्दों में उसने कितनी उन्नति की है। इसी से उसकी प्रगति करने की योग्यता का अनुमान किया जा सकता है। यदि विद्यार्थी ने कुछ प्रगति की है तो वही उसकी उपलब्धि है। इसी का मूल्यांकन इन परीक्षणों का उद्देश है।

इन परीक्षणों को अभिक्षमता (aptitude) परीक्षण भी कहा जा सकता है। इनसे इसका बोध भी होता है कि विद्यार्थी में किस विशेष विषय या कौशल, कला आदि में प्रवीणता प्राप्त करने की योग्यता है, किस दिशा में विद्यार्थी की विशेष अभिरुचि है। इन्ही परीक्षणों से विद्यार्थी की उपलब्धि या प्रगति का अनुमान होता है और इन्ही के द्वारा विद्यार्थी की अभिक्षमता का बोध हो जाता है। इनसे विद्यार्थी में यदि किसी विशेष क्षेत्र में दुर्बलता है, उसकी अभिरुचि नहीं है तो उसका भी पता लगता है। उस दृष्टिकोण से सभी देशों के विद्यालयों में अध्यापकों द्वारा जो

विद्यार्थियों की परीक्षायें ली जाती हैं उनको उपलब्धि तथा अभिक्षमता परीक्षण कहा जा सकता है। प्रत्येक बालक के सम्बन्ध में जो अध्यापक की प्रगति (progress) रिपोर्ट होती है वह उसकी उपलब्धि तथा अभिक्षमता की सूचक होती है। उससे बालक की व्यवहारात्मक रुचि का भी आभास मिलता है। श्रेणी के अन्य बालकों के साथ उसका कैसा व्यवहार रहता है वह उसकी सामाजिक योग्यता का परिचय देता है।

यद्यपि अध्यापकों द्वारा परीक्षायें सब ही देशों में की जाती हैं, और बालकों की प्रगति की रिपोर्टें जो उनके द्वारा शिक्षण बोर्डों तथा बालकों के माता-पिता या अभिभावकों को भेजी जाती हैं बहुत उपयोगी होती हैं, तो भी वे प्रत्येक अध्यापक के व्यक्तित्व से प्रभावित होती हैं; व्यक्तिगत भाव उन रिपोर्टों को रंजित कर सकते हैं। यदि कोई विद्यार्थी किसी कारण से अध्यापक की प्रशंसा का पात्र नहीं बन सका है तो अध्यापक के व्यक्तिगत भावों का उस रिपोर्ट में कुछ न कुछ आभास होना स्वाभाविक है। इस कारण परीक्षणों का मानकीकरण (standardisation) आवश्यक है।

कितने ही मानकीकृत (standardised) परीक्षण बनाये गये हैं और परीक्षक को ऐसे परीक्षण प्रचुर संख्या में उपलब्ध हैं। वे उन्ही सिद्धान्तों पर आधारित हैं जो बुद्धिमापन सम्बन्धी परीक्षणों के आधार हैं। किन्तु उन परीक्षणों का उपयुक्त उपयोग करने के लिये परीक्षक को कुछ बातें जानना उचित है।

(१) प्रथम परीक्षक को यह निर्णय करना चाहिये कि वह किस गुण के लिये परीक्षा करने जा रहा है, परीक्षा का प्रयोजन क्या है; वह किस विशेष विशेषक (trait) का बोध करना चाहता है। उसी के अनुसार उसको परीक्षण चुनना पड़ेगा। प्रत्येक परीक्षण एक विशेष मन्तव्य के लिये रचा गया है। उदाहरण रूप, पाठ करने (reading) का परीक्षण कई भागों में विभक्त कर दिया गया है; पाठ की विशुद्धता (accuracy) के लिये परीक्षण, गति या त्वरता (speed) के लिये, वाक्यार्थ के बोध के लिये तथा सम्पूर्ण पैराग्राफ के अर्थ बोध के लिये। इसी प्रकार गणित के परीक्षण हैं; मानसिक गणित, समस्या की रचना, गुणा करना, अन्तर (distance) का ज्ञान और उसकी गणना आदि।

(२) परीक्षणों की रचना इस प्रकार से की गई है कि वे बालक की गुणात्मक (qualitative) योग्यता का निर्धारण या मापन (assessment, measure) करते हैं; वे परिमाणात्मक (quanti-

tative) का नहीं। देख कर आकारों की भिन्नता को पहचानना, सुनकर शब्द की तीव्रता अथवा मन्दता में भेद करना, रंगों को पहचानना, वर्णान्धता या वर्ण भेद अशक्यता (colour blindness) आदि के बोध के लिये ये परीक्षण बहुत उपयोगी हैं। उनके द्वारा बालक की अयोग्यता या त्रुटि का ज्ञान होने से उसके पुनः प्रस्थापन (rehabilitation) की योजनाओं का विचार सुगम हो जाता है। किन्तु उनसे योग्यता या त्रुटि की मात्रा या सीमा नहीं मापी जा सकती।

(३) बालक की शिक्षा ग्रहण करने की योग्यता, उससे लाभ उठाने की सामर्थ्य, उसकी परिपक्वता (maturity) पर निर्भर करती है जिसका आधार वय है। सामान्य बुद्धि वाले बालकों में विद्यालयों की शिक्षा ग्रहण करने की क्षमता साधारणतया ५ या ६ वर्ष के वय में आ जाती है, तीन वर्ष के बालक में नहीं आती। इस योग्यता को **तत्परता** (readiness) कहा जाता है। मानस मन्दता के अतिरिक्त तत्परता के अभाव अथवा अतत्परता (unreadiness) के अन्य कारण भी हो सकते हैं। विशेष कारण परिवार में सांस्कृतिक वातावरण का अभाव होता है। जिन बालकों ने पुस्तकों का पाठ, साहित्यिक चर्चा, विद्वत्ता का प्रेम देखा ही न हो, विद्वानों का वार्त्तालाप सुनने का जिनको कभी अवसर ही न मिला हो उनमें तत्परता का अभाव स्वाभाविक है। ऐसे बालकों की 'तत्परता' परीक्षा आवश्यक है। परीक्षा द्वारा यदि बालक को अतत्पर पाया जाय तो प्रारम्भ में कुछ खेल-कूद या अन्य प्रकार के अभ्यासों द्वारा उसको 'तत्पर' बनाना आवश्यक है। प्रत्येक बालक में 'जानने' (knowing) की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति को जगाने की आवश्यकता होती है जो मनोरंजक खेलों, प्रदर्शनों, वार्त्तालाप, कहानियों आदि द्वारा सम्पन्न हो सकता है और उनमें पढ़ने और जानने की जिज्ञासा उत्पन्न की जा सकती है। किन्तु मानसमन्दों में उपलब्धि परीक्षण व्यर्थ होते हैं।

उपलब्धि परीक्षण सब ही सभ्य देशों में बालक के स्कूल में प्रवेश के समय अध्यापकों द्वारा किये जाते हैं। प्रत्येक अध्यापक बालक से बातचीत करके, प्रश्न पूछ कर, उसके साथ खेल कर अथवा संगीत में बालक के सहयोग द्वारा यह अनुमान कर लेता है कि बालक तत्पर है या नहीं; वह शिक्षा ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त कर चुका है या नहीं।

ऐसे परीक्षण बहुत उपयोगी होते हैं। उनके द्वारा न केवल बालक की योग्यता के स्तर का अनुमान हो जाता है, किन्तु बालक में जो त्रुटियाँ हैं

उनका भी आभास मिलता है और यदि बालक मानसमन्द है तो उसका भी अध्यापक को पता लग जाता है जिससे उसकी हीनता का अन्य परीक्षणों द्वारा निश्चय किया जा सकता है और तब उसकी शिक्षा के लिये जो विशेष आयोजन करने होते हैं उनका प्रबंध संभव होता है।

किन्तु तत्परता के परीक्षणों की सफलता अध्यापक के चातुर्य या कौशल पर निर्भर करती है। अध्यापक की प्रथम आवश्यकता बालक के सहयोग को प्राप्त करना है। यह स्वयं एक परीक्षण है। इस के लिये स्वयं परीक्षक को यह कला सीखनी पड़ती है अथवा स्वयं मनोद्भूत करनी होती है।

विद्यार्थियों की प्रगति के मूल्यांकन के लिये जो परीक्षण या मापनी बनाई गई हैं उनमें **गुन्जवर्ग के प्रगतिशील मूल्यांकन चार्ट** (Gunzberg's progressive assesment charts) बहुत उपयोगी पाये गये हैं। कितने ही प्रशिक्षण केन्द्रों तथा शिक्षालयों में उनका उपयोग होता है।

प्रक्षेपण प्रविधियाँ (Projective Techniques)

परीक्षण के समय व्यक्ति जो कुछ कहता है या करता है वह **प्रक्षेपण** (project) कहा जाता है। प्रक्षेपण प्रविधियाँ इस सिद्धान्त पर आधारित हैं कि जो कुछ परीक्षार्थी परीक्षा के समय करता है वह उसकी **विशेषता** (characteristic) है, उसका विशेष गुण है, विशेष स्वभाव है जो अन्य व्यक्ति के गुणों या विशेषताओं से पृथक् है। परीक्षा के समय उसके कहने, उत्तर देने या करने का जो ढंग है, जो भावभंगिमा उसके आनन पर प्रकट होती है, जिस प्रकार वह अपने हाथ-पाँव चलाता है, वस्तु को उठाता है, शरीर के अंगों की गति करता है वे सब उसके व्यक्तित्व (personality) के दर्शक हैं। वह व्यक्तित्व उसका अपना है, उसकी विशेषता है, और दूसरों के व्यक्तित्व से भिन्न है। वास्तव में जिसे बुद्धि कहा जाता है वह इसी विशेषता या व्यक्तित्व की क्रियाविधि (functioning) का एक पक्ष (aspect) है।

प्रक्षेपण प्रविधियों द्वारा परीक्षण गत पृष्ठों में जिन अन्य बुद्धि मापन के परीक्षणों का वर्णन किया गया है, उन सब से अपने उद्देश्य में तथा विधियों में भी भिन्न है। इन परीक्षणों द्वारा परीक्षार्थी के मनोगत भावों का, उसकी अभिवृत्ति, विश्वास, क्रिया विधि आदि का समग्र (as a whole) रूप से बोध होता है। अन्य परीक्षण केवल एक विशेष गुण को प्रकट करते हैं, समग्रता को नहीं।

इस उद्देश्य से परीक्षार्थी से ऐसे प्रश्न पूछे जाते हैं अथवा ऐसी समस्या-पूर्ति दी जाती है जिनके कई उत्तर हो सकते हैं या कई प्रकार से उनकी पूर्ति हो सकती है जिससे परीक्षार्थी को अपनी कल्पना शक्ति के उपयोग के लिये विस्तृत क्षेत्र मिल जाता है। **रोर्शक का स्याही के धब्बे** (Rorschach Ink blots) नामक परीक्षण का सब से अधिक प्रयोग किया जाता है। इस परीक्षण में १० कार्ड होते हैं जिन पर स्याही या रंगों के धब्बे बने होते हैं जिनका कोई विशेष आकार नहीं होता; उनसे कोई चित्र या विशेष आकृति नहीं बनती, केवल अनिर्धार्य (indeterminate) आकृति के होते हैं। परीक्षार्थी से केवल यह पूछा जाता है कि उसको कार्ड पर क्या दिखाई देता है। परीक्षक जो मनोविज्ञानी होता है, परीक्षार्थी की सब अनुक्रियाओं (responses) को समझ कर उनको भलीभाँति लेख बद्ध कर लेता है। परीक्षार्थी की प्रत्येक अनुक्रिया को पूर्णतया समझ लेना और उनको निश्चित शब्दों में व्यक्त करना परीक्षक के लिये आवश्यक है, इसी पर भावी निर्णय निर्भर करता है। यदि आवश्यक हो तो उसे अपने प्रश्नों को दुहराकर और परीक्षार्थी से कई बार पूछकर अपने को सन्तुष्ट कर लेना चाहिये कि उसने परीक्षार्थी के मन्तव्य को अपने शब्दों में ठीक-ठीक व्यक्त कर दिया है।

इसी प्रकार के अन्य भी कितने ही परीक्षण रचे गये हैं जिनके द्वारा पारिवारिक स्थिति, वातावरण, व्यवहारात्मक प्रभावों आदि को जानने का प्रयत्न किया गया है। इन परीक्षणों द्वारा प्राप्त परीक्षार्थों की अनुक्रियाओं का ठीक-ठीक मूल्यांकन सहज नहीं है। अनुक्रियायें विविध प्रकार की हो सकती हैं और परीक्षार्थी के दृष्टिकोण में भी विचित्रता संभव है। उनका ठीक-ठीक मन्तव्य समझने के लिये चातुर्य तथा अनुभव आवश्यक है। इस कारण अभी तक ये परीक्षण अधिक प्रचलित नहीं हो सके हैं। अतएव इनको केवल प्रस्ताव रूप (suggestion) माना जाता है, इनको निश्चयात्मक नहीं माना जाता। और न उनका उपयोग अतिमानसमन्दों (severely retarded) में किया जाता है। किन्तु जिनमें मानसमन्दता अल्प हो उनकी परीक्षा सामान्य बुद्धि मापक तथा प्रक्षेपण प्रविधियों, दोनों प्रकार से करना लाभदायक है।

गत पृष्ठों में जितने भी परीक्षणों का वर्णन किया गया है उन सब का प्रयोजन बालक अथवा वयस्क की बुद्धि का मूल्यांकन है। उन सबों का आयोजन परीक्षार्थी के बुद्धिस्तर का पता लगाना है। जो निष्पादन या उपलब्धि परीक्षण हैं उनका भी अंतिम अभिप्राय यही है। व्यक्ति का व्यवहार

(behavionr) बुद्धि ही पर निर्भर करता है और उसी के द्वारा सामाजिक समायोजन (adjustmeut) अथवा सामाजिक निपुणता (competence) प्राप्त होती है जो समाज में अपने अस्तित्व के संरक्षण की योग्यता कही जा सकती है। बुद्धि-माप या बुद्धि-लब्धि की रचना करने का भी यही हेतु है जिसके द्वारा एक मानक (standard) को स्थिर करके उसके अनुसार व्यक्ति की बुद्धि की प्रचुरता अथवा हीनता का बोध हो सके।

जिन परीक्षणों का गत पृष्ठों में उल्लेख किया गया है उनके अतिरिक्त भी वहुत से परीक्षण रचे गये हैं। पृथक्-पृथक् विद्वानों ने उनका वर्गीकरण भी कई प्रकार से किया है। यहाँ उन सवों के वर्णन करने का प्रयोजन नहीं है। मानस परीक्षा (mental examination) मनोविज्ञान (psychology) की विशेष शाखा है, वह एक कला है जिसकी शिक्षा तथा अभ्यास के लिये तत्संवंधी पुस्तकों का अवलोकन आवश्यक है।

मनोवैज्ञानिक परीक्षा (Psychological Examination)

उपर्युक्त परीक्षणों द्वारा व्यक्ति की मनोवृत्तियों, मानसिक भावों, मानसिक क्रियाविधियों (mental functioning), विशेष स्थितियों में अर्थात् विशेष प्रकार के उद्दीपनों (stimulii) द्वारा उत्पन्न अनुक्रियायें (responses), अनुक्रियाओं का वल (तीव्र या मन्द), इन सव का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, यही मनोवैज्ञानिक परीक्षा है। वुद्धि माप (I. Q.) इसी का एक साधन है जिसको कुछ ही वर्ष पूर्व तक एक मात्र साधन माना जाता था और अंतिम निर्णय उसी पर आधारित किया जाता था।

यह मानस परीक्षा बहुत आवश्यक है और किसी न किसी रूप में सब ही विद्यालयों में विद्यार्थी के स्कूल में प्रवेश के समय की जाती है। इसके द्वारा विद्यार्थी की तत्परता (readiness), जिसका पहले उल्लेख कर आये हैं, का पता चलता है। यदि वालक की किसी विशेष दिशा में प्रवृति है तो उसका ज्ञान होता है; तथा समाजानुकूलन (social adaptability) योग्यता का भी आभास मिल जाता है। इस सबसे बालक की शिक्षणीयता, शिक्षा ग्रहण करने की योग्यता (educability) का भी निर्णय किया जा सकता है।

मानसमन्दों के लिये यह परीक्षण और भी आवश्यक और उपयोगी है। उनके भविष्य को सुधारने का यह एक अनिवार्य साधन है। मानस परीक्षा द्वारा उनकी त्रुटि का ठीक-ठीक ज्ञान हो जाने पर उनके पुनः स्थापन के

लिये उपयुक्त शिक्षा साधनों तथा प्रशिक्षण (training) का प्रबन्ध संभव होता है। अनेक विद्वानों ने भली भाँति निरीक्षणों के पश्चात् उदाहरण सहित रिपोर्ट भेजी है कि परीक्षणों द्वारा इंगित त्रुटियों को दूर करने के लिये जो उनकी शिक्षा और प्रशिक्षण के प्रबन्ध किये गये तथा उनको उन्नत वातावरण में रखा गया उससे उनके बुद्धिमाप में उन्नति हुई। विशेष कर जिन बालकों के पारिवारिक वातावरण हीन (deprived) प्रकार के थे, भ्रष्ट थे, जहाँ पारस्परिक कलह, मदात्यय, विद्याहीनता का वातावरण था उन बालकों में आश्चर्यजनक उन्नति हुई। ऐसे व्यक्तियों का जीवन का दृष्टिकोण ही बदल गया, निराशा और असफलता के स्थान पर आशा और सफलता का ध्येय उत्पन्न हो गया। मानसिक शिक्षा द्वारा ही ऐसे बालकों को उपयुक्त वातावरण में रखना और उनका उचित प्रशिक्षण संभव होता है।

मानस परीक्षा में बालक का सहयोग प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। परीक्षा के सफल होने का यह आधार है और यह परीक्षक के कौशल तथा चातुर्य पर निर्भर करता है। सबसे प्रथम परीक्षक को बालक में आत्मीयता का भाव उत्पन्न करना चाहिए। खेल, खिलौने, हास्य, संगीत, कहानी आदि द्वारा बालक को यह विश्वास हो जाय कि वह एक आत्मीय या हितेच्छु के सम्पर्क में है, अपरिचित के नहीं। यह स्वयं बालक की परीक्षा होगी और परीक्षक की भी परीक्षा होगी। इससे मालूम हो जायगा कि किस प्रकार की वस्तुओं में या क्रियाओं में बालक की रुचि है, उसकी जो अनुक्रियायें होंगी उन्ही से मनोविज्ञानी परीक्षक बालक की योग्यताओं तथा अभिरुचियों का अनुमान कर लेगा। कुछ बालक शाब्दिक परीक्षणों में अधिक सफल होते हैं, कुछ निष्पादन (performance) परीक्षणों में। उसी के अनुसार परीक्षक को बालक को परीक्षण देना चाहिये। और परीक्षण देने का ढंग ऐसा होना चाहिये कि बालक को कोई भार (pressure) न प्रतीत हो, वह उसको भी खेल ही समझे।

जितने भी स्केलों का गत पृष्ठों में वर्णन किया गया है और जिनका आगे चलकर किया जायगा उनके सेट उनको प्रकाशित करने वाली संस्थाओं ने बनाये हैं। प्रत्येक परीक्षण या स्केल का पृथक सेट है। उसके साथ ही उन परीक्षणों को करने की विधि का पूर्ण विवरण भी सेटों के साथ रहता है। उसी के अनुसार परीक्षक को परीक्षार्थी की परीक्षा करनी होती है। परीक्षणों के फलों को लिखने तथा बुद्धि-लब्धि की जिन सारणियों के अनुसार गणना की जाती है वे भी छपे हुए सेट के साथ रखी रहती हैं। परीक्षक उनकी सहायता से बुद्धि-लब्धि के अंक प्राप्त कर सकता है तथा बालक में जो

त्रुटि होती हैं उसका भी वह अनुमान कर लेता है। मनोविज्ञानी परीक्षक को मन्दता की सीमा के अनुसार बालक का वर्गीकरण भी करना होता है। इसमें वह सफल हो सकता है यदि वह सेटों के साथ उनके प्रयोग की विधि जो रहती है उसका पूर्ण अनुसरण करे।

मनोविज्ञानी का उत्तरदायित्व—फिर भी स्केलों का प्रयोग और परीक्षणों द्वारा बालक की बुद्धिमत्ता या बुद्धिहीनता को मापना एक कौशल या कला है। और प्रत्येक कला की भाँति उसमें विशेष दीक्षा प्राप्त करना तथा अभ्यास आवश्यक है। इनके बिना सफलता नहीं मिलती। फिर परीक्षक की निरीक्षण शक्ति (observation power) भी तीव्र होनी चाहिये। वह बालक की प्रत्येक गति, छोटी से छोटी चेष्टा पर ध्यान रखे और उसके प्रयोजन को समझें। शिशुओं और बालकों की इन्हीं अल्प चेष्टाओं से उनके मनोगत भावों को समझना होता है और उसी पर परीक्षणों का फल निर्भर करता है। अन्त में परीक्षक में यह भी योग्यता होनी चाहिये कि वह परीक्षणों द्वारा प्राप्त अंकों तथा फलों का अर्थ भली भाँति समझ सके। किस फल का क्या तात्पर्य है। वह बालक में किस गुण की उपस्थिति या अनुपस्थिति का द्योतक है। उसको इसका उचित ज्ञान होना चाहिये। प्राप्त फलों का निष्कर्ष निकालना उसका काम है। इसी पर भविष्य के आयोजन निर्भर करते हैं जिनके द्वारा बालक का जीवन सुधर सकता है। बुद्धि परीक्षण एक विशेष मनोविज्ञान की शाखा है और उसमें निपुणता प्राप्त करने के लिए मनोविज्ञानी को भरसक उद्योग करना उचित है। उसका उत्तरदायित्व बहुत गंभीर है। वह व्यक्तियों के जीवन की सफलता या असफलता का आधार है।

मनोविज्ञानी परीक्षक की रिपोर्ट बड़े महत्त्व की होती है। वह बालक के शिक्षण के क्रम निर्धारण का मूल समझी जाती है। बालक के लिये सभी प्रकार की योजनाओं का वह आधार होती है। इस कारण परीक्षक का उत्तरदायित्व भी उतना ही अधिक होता है। परीक्षक को अपनी रिपोर्ट में बालक के व्यक्तित्व (personality) के प्रत्येक पक्ष (aspect) पर प्रकाश डालना पड़ता है; बालक की बौद्धिक त्रुटि, उसकी क्रिया शक्ति, संवेदन-प्रेरण (sensorymotor) अनुक्रियायें, व्यवहारात्मक कुशलता अथवा उसका अभाव, मनोभाव आदि सबों पर अपना मत प्रकाशित करना होता है। बालक के माता-पिता परीक्षक की रिपोर्ट में अपने भावी आचरण, बालक के प्रति व्यवहार के लिये दिग्दर्शन ढूंढेंगे; शिक्षक उसी से यह समझना चाहेगा कि बालक की शिक्षा में क्या विशेषता होनी चाहिये; प्रबन्धकर्ता या स्कूल

की हेडमास्टर शासन व्यवस्था के लिये प्रस्तावों को जानना चाहेगा, मनोविकारी चिकित्सक (psychiatrist) मनोविकार की चिकित्सा के लिये दिग्दर्शन चाहेगा, सामाजिक कार्यकर्ता यह जानना चाहेगा कि पारिवारिक या सामाजिक वातावरण की प्रतिकूलता बालक की मानसमन्दता के लिए कहाँ तक उत्तरदायी है और उसमें कहाँ तक और किस प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता है।

इन कारणों से मनोविज्ञानी परीक्षक को अपनी रिपोर्ट सब प्रकार से सम्पूर्ण बनानी चाहिये; बालक के व्यक्तित्व के प्रत्येक पक्ष की उपयुक्त परीक्षणों द्वारा जाँच करके परीक्षक को उन सब पर अपना मत प्रकाशित करना चाहिये। उसको यह भी स्मरण रहे कि उसकी रिपोर्ट बालक की दशा के निदान का एक साधन है। जो कुछ वह कर रहा है जिसके आधार पर वह अपना जो मत प्रकट करेगा वह रिपोर्ट के रूप में विशेषज्ञों की समिति के विचाराधीन होगा, जिसका वह भी एक सदस्य होगा और वहाँ उसकी रिपोर्ट की आलोचना होगी, रिपोर्ट पर आपत्तियाँ उठाई जायेंगी और उससे प्रश्न पूछे जायेंगे जिनका उसे समाधान करना पड़ेगा। अतएव अपनी रिपोर्ट तैयार करने और बालक के हित के लिये प्रस्ताव भेजने में उसको अत्यन्त सावधान होना चाहिए। जहाँ एक ओर रिपोर्ट बालक के भविष्य का आधार है वहाँ वह स्वयं उसकी मान्यता की प्राप्ति का भी मुख्य साधन है।

नैदानिक समिति

मानसमन्दों का अथवा मानसमन्दता का निदान (diagnosis) सामान्य रोगियों के शारीरिक रोगों (व्याधि) के नियम की अपेक्षा बहुत कठिन है। शारीरिक रोगों का निदान प्रायः एक चिकित्सक (physician) कर लेता है। यदि आवश्यकता होती है तो वह मल, मूत्र, रक्त की अथवा एक्सरे द्वारा परीक्षाओं के लिए प्रयोगशालाओं (laboratories) की सहायता लेता है या कोई समस्या या उपद्रव उपस्थित होने पर किसी विशेषज्ञ का परामर्श प्राप्त करता है। शारीरिक रोगों के कारण, लक्षण, चिकित्सा इतनी निश्चित और परिमित होती है कि प्रायः एक ही व्यक्ति—चिकित्सक—रोग पहचानने और निदान करने में सफल होता है और आवश्यक चिकित्सा कर सकता है।

किन्तु मानसमन्दता की उत्पत्ति में तथा उसके लक्षणों या स्वरूप में इतनी विविधता होती है कि किसी एक विषय के विशेषज्ञ को उसका उचित

निर्णय करना सम्भव नहीं है। दूसरे परिच्छेद के अवलोकन से कारणों की विविधता स्पष्ट है। उन सबों का विचार किसी एक विद्वान की योग्यता के बाहर है। किसी समय जब बुद्धिमाप (I. Q.) ही मानसमन्दता के निर्णय का आधार मानी जाती थी उस समय केवल मनोवैज्ञानिक परीक्षा निर्णय के लिए पर्याप्त हो सकती थी, किन्तु इस समय मत पूर्णतया बदल गया है। बुद्धि माप का महत्त्व बहुत कम हो गया है और वातावरण; अन्य कारणों तथा दशाओं का विचार अत्यावश्यक समझा जाता है। इस कारण विद्वानों का यह सर्वसम्मत निश्चय है कि अन्तिम निर्णय विशेषज्ञों की एक समिति (team, committee) द्वारा होना चाहिए जिसके सदस्य पृथक्-पृथक् विशेषताओं के विशेषज्ञ हों। मनोविज्ञानी विद्वान (psychologist), मनोविकार चिकित्सक (psychiatrist), सामान्य रोग चिकित्सक (physician) अथवा बाल रोग चिकित्सक (pediatrician), सामाजिक कार्यकर्त्ता, वाक् तथा श्रवण विशेषज्ञ (speech and hearing consultant), शिक्षाशास्त्रज्ञ (educationist) तथा जनस्वास्थ्य नर्स (public health nurse), ये सब उस समिति के सदस्य होने चाहिये। बालक के माता-पिता को भी उचित अवसर पर समिति की बैठक में बुलाना लाभदायक है। यदि बालक को घर ही पर रखने का निश्चय किया गया तो उनको ही भविष्य में बालक की देखरेख और सुश्रूषा का भार उठाना पड़ेगा। इस कारण उनका सहयोग प्राप्त करने का पूर्ण उद्योग करना चाहिये। तो भी उनको मानसिक क्लेश से बचाने का पूर्ण प्रयत्न करना उचित है। बालक की अपूर्णता अथवा मानसिक त्रुटि की सूचना से उनको पहले ही धक्का पहुँचा है, वे मानसिक पीड़ा से उबर नहीं पाये हैं। तो भी उनका सहयोग वांछनीय है। ऐसी दशा में उनकी उपस्थिति बालक के सुधार सम्बन्धी आयोजनों के विचार के समय ही उपयुक्त है वह भी उनको अधिकतर उन आयोजनों को बताने ही के लिये जिनका निश्चय कर लिया गया है। किन्तु उनके सामने प्रस्तावों को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाय जैसे उनसे परामर्श किया जा रहा है।

सामान्य शारीरिक रोगों के निदान की अपेक्षा मानस मन्दता के निदान का अर्थ कुछ अधिक है। वह न केवल मानसमन्दता का निदान है, किन्तु मानसमन्दता का वर्गीकरण भी उसी का एक भाग है। मानसमन्द को उसके उपयुक्त वर्ग में रखना आवश्यक है। उसके पश्चात ही उसके लिये पुनः स्थापन के आयोजनों का विचार किया जा सकता है। इस कारण

मानसमन्द के पूर्ण मूल्यांकन (evaluation, assessment) के लिये, उसकी त्रुटियों तथा योग्यताओं की सीमा का ठीक-ठीक अनुमान या बोध करना अत्यावश्यक है।

यद्यपि स्वयं निदान चिकित्सा या बालक के पुनः स्थापन की योजना नहीं है, किन्तु वह उनका आधार है। उसके द्वारा बालक की त्रुटियों और क्षमताओं को जान लेने पर ही उसके सुधार का उद्योग संभव है। यहाँ निदान का अर्थ बालक का मूल्यांकन है, उसके व्यक्तित्व के प्रत्येक पक्ष का अनुमान करना है। इसी पर समस्त भावी कार्यक्रम निर्भर करता है। इसके सन्तोषजनक सम्पादन के लिये उन सब विशेषज्ञों या विशिष्ट व्यक्तियों की आवश्यकता है जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है। उनमें से प्रत्येक व्यक्ति का एक विशिष्ट कर्म है जिसको वही व्यक्ति पूरा कर सकता है। बाल रोग चिकित्सक का काम बालक की पूर्ण शारीरिक परीक्षा करके यह बोध करना है कि बालक में कोई शारीरिक दोष या अपूर्णता नहीं है, अथवा वह किसी चिरकालिक रोग से ग्रस्त नहीं है अथवा बालक में कोई ऐसी दशा वर्तमान नहीं है जिसका परिणाम मानसमन्दता हो। बालक के कुल में अथवा परिवार वालों में किसी को ऐसा रोग तो नहीं है; जो पूर्वजों से चला आया हो, चिकित्सक को यह भी मालूम करना चाहिये।

मनोविज्ञानी परीक्षक का महत्व जो कुछ गत पृष्ठों में बुद्धि मापन या अनेक परीक्षणों के सम्बन्ध में कहा गया है, उससे स्पष्ट है। मानसमन्दता के यथार्थ रूप का ज्ञान, उसकी सीमा, कारण, प्रकार, व्यवहार में त्रुटि, वातावरण का उस पर प्रभाव तथा उन त्रुटियों के सुधार के आयोजन, इन सबों को पहचानना, उनकी गम्भीरता समझना और उनके प्रतिकार के उपायों को प्रस्तावित करना उसी का काम है जो अत्यन्त महत्व का है।

सामाजिक कार्यकर्ता (social worker) की उपस्थिति भी बहुत उपयोगी हो सकती है। संभव है परिवार की कुछ ऐसी सामाजिक या आर्थिक समस्यायें हों जिनको परिवार वाले सुलझाने में असमर्थ हों और उनके कारण पारिवारिक वातावरण की विषमता बालक की मानसमन्दता के लिये कुछ सीमा तक दोषी हो। ऐसी समस्याओं को सुलझाने में सामाजिक कार्यकर्ता बहुत सहायक हो सकता है।

शिक्षाशास्त्रज्ञ का उपयोग शिक्षा सम्बन्धी प्रस्तावों और उनका प्रबन्ध करने में है। यह उसी का काम होगा कि वह बालक के लिये प्रस्तावित उपयुक्त सुविधा वाले विद्यालयों, संस्थाओं तथा आश्रमों (homes) को

ढूंढे और बालक के वहाँ रहने का प्रबन्ध करे। शिक्षक (teacher) और संस्था के शासक-प्रिंसिपल या हेडमास्टर अथवा निदेशक (director) का सहयोग भी वांछित और उपयोगी होगा। यदि वे बालक के पूर्ववृत्त (history) और वास्तविक स्थिति से परिचित रहेंगे तो बालक के शिक्षण में सुविधा होगी।

जनस्वास्थ्य नर्स का भी उपयोग कम नहीं है। परिवार के वातावरण को समझने और नैदानिक समिति को उसकी सूचना देने के लिये वही सबसे उपयुक्त व्यक्ति है। समिति को समय-समय पर बालक की प्रगति के सम्बन्ध में विचार करना होगा, उसके केस (case) की समीक्षा करनी होगी। और यदि बालक को घर ही पर रखा गया है तो बालक के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन जनस्वास्थ्य नर्स ही होगी। फिर नर्स के समय-समय पर बालक के निरीक्षण से परिवार वालों का बहुत ढाढस बंधेगा, उनको नैतिक बल (moral strength) प्राप्त होगा और सन्तप्त माता-पिता को आश्रय और आश्वासन प्राप्त होगा।

अन्य विशेषज्ञों का भी बहुत उपयोग है। वाक्-श्रवण विशेषज्ञ, यदि बालक इनमें से किसी दोष से ग्रस्त हैं तो वह उनके लिये उपयोगी योजनाओं का सुझाव देगा। विकृतिविज्ञानी (pathologist), ऐक्सरे विशेषज्ञ (radiologist) आदि का सहयोग भी लेना होगा। रक्तपरीक्षा, अस्थियों के एक्सरे चित्र, तथा अन्य परीक्षायें प्रयोगशालाओं में करवानी अधिकतर आवश्यक होती हैं।

इस प्रकार मानसमन्दता के पूर्ण निर्धारण (assessment) के लिये कई विषयों के विद्वानों द्वारा बालक की या प्रौढ़ व्यक्ति की परीक्षा और परीक्षा फल का विवेचन आवश्यक है; एक ही व्यक्ति द्वारा यह संभव नहीं है। यह **बहुविद्निर्धारण** (assessment by many scholars) अथवा **बहुविधि** (by many methods multidisciplinary approach) **निर्धारण** कहा जाता है।

मानसमन्द की परीक्षा (Examination of the Retarded)

रोग को पहचानने के लिये और उसकी चिकित्सा करने के लिये डॉक्टर पहले रोगी की परीक्षा करता है। पूर्ण और उपयुक्त परीक्षाओं द्वारा वह रोग का निदान करके तब चिकित्सा का आयोजन करता है। यही क्रम मानसमन्दों में व्यवहार किया जाता है। प्रथम रोगी तथा मानसमन्दों के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी प्राप्त की जाती है और तब

उसकी शारीरिक परीक्षा की जाती है। यह वृत्त या इतिहास कहा जाता है जो व्यक्ति सम्बन्धी तथा परिवार सम्बन्धी होता है—एक वैयक्तिक इतिहास या वृत्त (personal history) और दूसरा (family history) पारिवारिक इतिहास कहलाता है। मानसमन्दता की परीक्षा में इन दोनों का बहुत महत्त्व है।

वैयक्तिक इतिहास (Personal History)

इसके भी दो भाग हैं। रोगी को इस समय क्या कष्ट है, कौन व्यथायें हैं (present illness) और जीवन में पहले कौन-कौन रोग हुए थे (past illness) जो पूर्व वृत्त कहा जाता है। मानसमन्द का वैयक्तिक इतिहास उसके जन्म ही से प्रारंभ होता है। जिस त्रुटि सहित उसका जन्म हुआ था वह आज भी वर्तमान है। इस सम्बन्ध में दूसरे परिच्छेद में मानसमन्दता के जो कारण वर्णन किये गये हैं, उनका पुनः स्मरण कर लेना उपयोगी होगा। देखना यह है कि बालक या व्यक्ति के जीवन में उनमें से कोई कारण तो नहीं घटा था; कोई ऐसा रोग या दुर्घटना तो नहीं हुई थी जो उसकी मन्दता के लिये उत्तरदायी हो सकती है। अथवा किसी व्यवहारात्मक त्रुटि या मनोसम्बन्धी (psychological) अभाव से तो बालक में यह न्यूनता नहीं उत्पन्न हुई है। किसी प्रकार के अभाव (deficiency), विशेषकर स्नेह के अभाव का बालक के मन में विश्वास हो जाने से उसके मानसिक विकास पर बहुत हानिकारक प्रभाव होता हैं। ऐसे ही अन्य कारणों को, जिनका उल्लेख किया गया है, बालक के जीवन में ढूंढ़ना चाहिये।

पारिवारिक इतिहास—परिवार वालों में से तो कोई मन्द नहीं है। वे लोग किन-किन रोगों से ग्रस्त हुए हैं। माता को गर्भकाल में कौन रोग हुए थे। माता-पिता का शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य कैसा है। उनके आपस के दुर्व्यवहार से तो बालक को कोई हानि होने की संभावना नहीं है। परिवार के सदस्यों का आपस में व्यवहार कैसा है, सौहार्द्र तथा स्नेह का है अथवा वैमनस्य, कलह, इर्ष्या आदि से दूषित है। दूसरे शब्दों में पारिवारिक वातावरण का पूर्ण बोध प्राप्त करना आवश्यक है। उनकी आर्थिक स्थिति का भी साधारण ज्ञान होने से निदान में सहायता मिल सकती है। परिवार से ऊपर **आनुवंशिक इतिहास** के सम्बन्ध में पूछताछ भी बहुत वांछनीय है। मानसिक प्रवृत्तियाँ बहुधा आनुवंशिक होती हैं और मानसिक रोग पीढ़ी दर पीढ़ी चलते हैं। यदि वंश में किसी पूर्वज में इस

प्रकार की त्रुटि उपस्थित थी तो बालक में उसी त्रुटि के प्रकट होने की सम्भावना का विचार करना होगा।

सन् १९१२ में डॉक्टर गोडार्ड (Goddard) ने एक वंश की खोज की थी। व्यक्ति मानसमन्द था। उसकी माता जो एक होटल में काम करती थी, वह भी मानसमन्द थी, किन्तु जिस व्यक्ति का वह जारज सन्तान था वह सामान्य स्वस्थ. था। इससे उत्पन्न कई पीढ़ियों का उन्होंने ब्यौरा लिखा है। ४३८ पुत्र-पौत्रादि का ब्यौरा उन्होंने प्राप्त किया। उनमें से १४३ पूर्णतया मानसमन्द थे जिनको संस्थाओं में रखा गया था। ४६ सामान्य स्वस्थ थे। शेष के बारे में निश्चित रूप से पता नहीं चला। तो भी इतना मालूम हुआ कि ३६ जारज सन्तानें थीं। ३३ वेश्यायें हुईं, ३ अपस्मार से ग्रस्त (epileptics) हुए, ८ का व्यापार व्यभिचार गृह (prostiution houses) चलाना था और ८२ की शैशवावस्था में मृत्यु हो गई।

संभव है इसी प्रकार का किसी पूर्वज में मानसमन्दता का इतिहास मिल जाय।

शारीरिक परीक्षा—बालक अथवा व्यक्ति की शारीरिक परीक्षा अत्यन्त सावधानी से करना आवश्यक है। प्रत्येक अंग या शारीरिक भाग पर पूर्ण ध्यान देना उचित है। किसी भाग में किसी विकृति के चिह्न मिल सकते हैं जिसका बालक की मानसमन्दता से संबंध हो। आनन की सामान्य आकृति, शीर्ष की रचना, करोटि में अस्थिभंग अथवा अन्य किसी प्रकार के अभिघात के चिह्न, शरीर में कुपोषणता (malnutrition) अथवा किसी अन्य रोग के लक्षण, नेत्र, कर्ण, अथवा भाषण सम्बन्धी अथवा वाक् दोष-ऐसी दशाओं की खोज इस परीक्षा का प्रयोजन है। जन्मजात परिवर्धन त्रुटियाँ (developmental defects) उपस्थित हो सकती हैं। दृष्टि तथा श्रवण दोष मानसमन्दता के प्रवर्तक हो सकते हैं। रक्तक्षय अथवा रक्ताल्पता होने पर उसका कारण मालूम करना चाहिये। इसी प्रकार गले के रोग टांसिल, एडीनाइड अथवा यक्ष्मा के चिह्नों की खोज उचित है। अपस्मार का संकेत करने वाले चिह्नों का अन्वेषण अत्यन्त आवश्यक है।

बालक की गतियों का—विशेष-कर गतियों का समन्वय निरीक्षण बहुत आवश्यक है। गति या क्रिया करते समय दोनों ओर के अंगों तथा अन्य सहकारी अगों की यथासमय गति करने में कोई त्रुटि तो नहीं है। क्रिया सम्पूर्ण करने में तत्सम्बन्धी सब अंग उपयुक्त प्रकार से एक दूसरे से सहयोग

करते हैं। बालक की चाल पर भी ध्यान देना चाहिये। उसकी शारीरिक वृद्धि भी परीक्षक के ध्यान का विषय है। उसकी आयु के अनुरूप उसके शरीरभार और लंबाई में वृद्धि हो रही है या नहीं। यदि नहीं हो रही है तो उसका कारण ढूंढ़ना चाहिये।

परीक्षक को, जो सदा शिक्षित डॉक्टर और बहुधा बालरोग विशेषज्ञ होता है उसको प्रयोगशालाओं की सहायता भी आवश्यक होती है। एक्सरे भी आवश्यक है जिससे बालक की अस्थि वय (bone age) मालूम की जाती है। यदि अस्थिवय वर्षक्रमवय से कम है तो अवटु-अल्पता (hypothyroidism) जानने के लिये रक्त की प्रोटीन-बंधित-आयोडीन आवश्यक होगी जिसके लिये प्रयोगशाला (laboratory) का सहयोग आवश्यक है कितनी ही निदान-शालाओं में प्रत्येक रोगी की मल, मूत्र, रक्त, बलगम की परीक्षा सामान्य निताक्रमानुसार (routine) की जाती है। इसी प्रकार प्रत्येक विचाराधीन बालक या व्यक्ति के एक्स-रे तथा EEG लिये जाते हैं, यद्यपि अंतिम आवश्यक नहीं है।

मानसिक परीक्षा

(Psychological Examination, Mental testing)

मनोविज्ञानी द्वारा परीक्षा का सविस्तार वर्णन गत पृष्ठों में किया गया है। उसका तात्पर्य त्रुटिग्रस्त बालक के मस्तिष्क की क्रियाशक्ति अथवा सामर्थ्य की सीमा निर्धारित करना है। यही mental testing अथवा मानसिक परीक्षण कहलाता है। इसके द्वारा न केवल बालक की बुद्धि का पता लगाया जाता है किन्तु उसके मनोभावों, आवेशों अथवा परीक्षक के प्रश्नों या क्रियाओं की प्रतिक्रिया के रूप में उसके मन में किन भावनाओं का उदय होता है इसका भी ज्ञान प्राप्त किया जाता है। बौद्धिक और भावनात्मक दोनों प्रकार का मूल्यांकन इस परीक्षा का ध्येय है। परीक्षक को न केवल बुद्धि स्तर अथवा I. Q. ही मालूम करना होता है, किन्तु उसको वे सब गुण भी मालूम करने होते हैं जिनका सामूहिक नाम बुद्धि है। प्रत्युत्तरता, तत्परता, कुशाग्रता, स्मरणशक्ति, कल्पनाशक्ति, रुचि, व्यवहार; दृढ़ता, निष्पादन शक्ति, अवाप्ति (attainment), अभिक्षमता (aptitude), स्वभाव (temper) आदि इन सब गुणों की बालक में उपस्थिति या अनुपस्थिति का बोध करना परीक्षक का मन्तव्य है। गत पृष्ठों में जिन विविध परीक्षणों का उल्लेख किया गया है वे इसी प्रयोजन के लिये रचे गये हैं। उनमें से कौन परीक्षण उपयुक्त होंगे और किन परीक्षणों द्वारा वह

किस गुण का अनुमान या बोध कर सकेगा, यह परीक्षक को स्वयं निश्चय करना पड़ेगा। त्रुटिग्रस्त बालकों में बहुत भिन्नतायें पाई जाती हैं। उन्हीं के अनुसार प्रत्येक बालक की आवश्यकता के अनुरूप परीक्षणों का उपयोग करना होगा। संभव है उसको नये प्रकार के ही कुछ परीक्षणों की रचना करनी पड़े। तो भी मनोविज्ञानी को त्रुटिग्रस्त बालक या व्यक्ति के व्यक्तित्व (personality) का, जो उपर्युक्त गुणों का समूह मात्र है, पूर्ण निर्धारण आवश्यक है।

मनोविकारविज्ञानी परीक्षा (Psychiatric Examination)। मनोविकारों तथा मनोरोगों की चिकित्सा करने वालों को मनोविकार विज्ञानी कहा जाता है। अतएव उसको रोगों की उत्पत्ति के कारण, उनके लक्षण या प्रभाव, उसके कारण शरीर में होने वाले प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिवर्त्तन, तथा अन्य विकारों का भी अध्ययन करना होता है। अतएव वह त्रुटिग्रस्त बालक की परीक्षा रोगों की दृष्टि से करता है। उससे यह आशा की जाती है, वह त्रुटि उत्पत्ति के सम्बन्ध में निदेशक या निर्णायक समिति को कुछ और भी सूचनायें तथा सुझाव दे सकेगा तथा समिति के पास जो सूचनायें या रिपोर्टें आई हैं उनका पुनः अवलोकन करके उससे निष्कर्ष निकाल कर समिति के सामने अपना प्रस्ताव उपस्थित कर सकेगा। किन्तु परीक्षा की उपयोगिता और तदनुसार उसके प्रस्तावों का मूल्य, उनकी उपयोगिता, परीक्षा को सम्पूर्णता, तथा उसकी गम्भीरता पर निर्भर करती है। अतएव परीक्षक को बड़ी सावधानी से परीक्षा करनी चाहिये। उसका कौशल और चातुर्य ही परीक्षा की कुंजी है।

पहला काम जो मनोविकारविज्ञानी को करना उचित है वह बालक के संबंध में उसके माता-पिता, अन्य संबंधियों तथा जो भी बालक के घनिष्ट सम्पर्क में आये हैं उनसे बालक के सम्बन्ध में जितना भी विविध प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर सके, करे। बालक की पारिवारिक स्थिति (आर्थिक भी), बालक के प्रति परिवार वालों का व्यवहार, बालक की त्रुटिग्रस्त अवस्था का परिवार वालों पर प्रभाव और उनकी प्रतिक्रिया, यह सब भी जानने योग्य है। इससे परीक्षक बालक पर पारिवारिक वातावरण के प्रभाव का बहुत कुछ अनुमान कर सकेगा।

इसके पश्चात् वह मनोविज्ञानी तथा बाल-चिकित्सक की रिपोर्टों का ध्यान पूर्वक अध्ययन करे। प्रयोगशालाओं की रिपोर्टों तथा एक्सरे परीक्षणों का भी पूर्ण विचार आवश्यक है। इस सबसे बालक की दशा का मानसिक

चित्र परीक्षक को दिखाई देने लगेगा। किन्तु अभी तक उसको निष्कर्ष-निर्णय नहीं करना चाहिये। वह अपने को अभी तक पूर्ण उदासीन रखे, उसने अभी तक परीक्षा नहीं की है। संभव है परीक्षा करने पर उसको कुछ ऐसे फल मिलें जिनसे उसका दृष्टिकोण ही वदल जाय। अतएव वह अपना अंतिम निर्णय तव तक स्थगित रखे जव तक वह पूर्ण परीक्षा करके जो कुछ उसको मिले उसको मनोविज्ञानी और चिकित्सक की रिपोर्टों के साथ मिला कर भली प्रकार विचार न कर ले।

परीक्षा में सफलता के लिये वालक और अभिभावकों का भी सहयोग आवश्यक है, यह पहले भी कहा गया है। वालक के सहयोग की प्राप्ति के मुख्य साधन खिलौने होते हैं। भिन्न-भिन्न वय के वालकों को भिन्न प्रकार के खिलौने प्रिय होते हैं। शिशुओं को ध्वनि उत्पन्न करनेवाले खिलौने आकर्षक होते हैं। घुटने चलने वाले वालकों को आकृति दर्शक छोटे-छोटे खिलौने रुचिकर होते हैं जैसे कुत्ता, विल्ली, गेंद, व्लाक जिनसे कुछ वन सके। रंग सदा वालकों को आकर्षित करते हैं। ज्यों-ज्यों वय बढ़ती जाती है त्यों-त्यों अधिक जटिल खिलौनों की आवश्यकता होती है जैसे चाभी वाले खिलौने ऐंजिन, रेल, मोटर आदि, व्लाकों या भागों को जोड़ कर सम्पूर्ण करनेवाले खिलौने।

परीक्षक जिस कमरे में वालक की परीक्षा करता है उसमें ऐसे खिलौनों के सेट वयानुसार क्रम से रखे होने चाहिए। कमरे में स्थान भी पर्याप्त हो जिससे वालक घूम सके और अपनी रुचि के अनुसार खिलौनों को चुन सके। स्वयं परीक्षक को कुछ समय वालक के साथ खेल में व्यतीत करना बहुत उपयोगी हो सकता है। उससे उसको बालक की क्रिया शक्ति, क्रिया विधि, गतियों का समन्वय (coordination), श्रवण, भाषण, मनोवृत्ति आदि का वहुत कुछ ज्ञान हो जाता है।

इस परीक्षा का मन्तव्य वालक की मानसिक और शारीरिक क्रियाशक्ति या सामर्थ्य का अनुमान करना है। साथ ही बालक के अभिभावकों की उपस्थिति से पारस्परिक सम्बन्ध स्थापन का भी ज्ञान हो सकता है जो सामाजिक व्यवहार वृत्तियों (social behaviour) का अभिसूचक है। यदि पारिवारिक वातावरण सदोष है तो उसका वालक पर क्या प्रभाव पड़ रहा है इसका भी परीक्षक वोध कर सकेगा और इस सब ज्ञान को प्राप्त कर वह वालक के लिए भावी आवश्यक उपचार का प्रस्ताव करने में पूर्ण समर्थ होगा।

इन सब परीक्षकों की रिपोर्टें नैदानिक समिति की बैठक में विचारार्थ उपस्थित की जाती हैं जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। वहाँ ये परीक्षक गण भी उपस्थित रहते हैं। प्रत्येक अपनी रिपोर्ट पेश करता है। शासन वर्ग के अधिकारी, प्रवन्ध कर्ता, सामाजिक कार्यकर्ता, जनस्वस्थ्योपचारी (public nurse), शिक्षाविशेषज्ञ आदि सभी सदस्य रिपोर्ट को सुनते हैं तथा उन पर अपना-अपना मत प्रकट करते हैं और पूर्ण वादानुवाद के पश्चात् वालक या व्यक्ति की त्रुटि का निर्धारण करते हैं। उसके पश्चात् ही त्रुटि ग्रस्त व्यक्ति के लिपे उपचार का विचार करना संभव होता है। अनेक वार वैठक में वालक के माता-पिता या अभिभावक को भी बुला लिया जाता है। उनके सहयोग की आवश्यकता बताई जा चुकी है। घर पर रखने का निर्णय करने पर उन्हीं को वालक की देख-रेख का भार उठाना पड़ेगा तथा समिति द्वारा निर्णीत बालक के उपचार के आयोजनों को कार्यकृत करने का उन्हीं का उत्तरदायित्व होगा। समिति को यह भी निर्णय करना होगा कि दम्पत्ति या अभिभावकों को इस उत्तरदायित्व को पूर्ण करने में कितनी और क्या-क्या सहायता देनी होगी। शासक, प्रवन्धकर्ता, स्वास्थ्योपचारक; समाज सेवी इन सवों का उपयोग यहीं पर आवश्यक है। सहायता का प्रवन्ध उन्हीं का कार्य है। यदि वालक को संस्था में रखना आवश्यक समझा गया तो उसका आयोजन भी इन्हीं का काम है। संभव है विशेष शिक्षा या प्रशिक्षण (training) बालक के लिये आवश्यक समझा जाय; उसका प्रबंध करना शासकवर्ग तथा स्कूल या प्रशिक्षण संस्था के प्रिंसिपल अथवा निर्देशक का काम है।

इस विषय पर चिकित्सा या उपचार के संबंध में अधिक विचार किया जायगा।

मानसमन्दता को पहचानना

एक विद्वान ने लिखा है कि मानसमन्दता के १०० से अधिक कारण पाये गये हैं और अनेक वार एक से अधिक कारण मिश्रित होते हैं। अतएव कारणों की विभिन्नता के अनुसार मानसमन्दता के लक्षणों में भी विभिन्नता होना स्वाभाविक है। इसी कारण मानसमन्दता को पहचानना इतना कठिन होता है। इस कारण १०० में से ८५ मानसमन्दों में त्रुटि के कारण का पता नहीं चलता और उनके निदान में 'अज्ञात कारण' लिखना पड़ता है।

शैशवकाल के प्रथम मासों में केवल दो ऐसी दशायें हैं जिनमें विकार का रूप बहुधा पहचानना संभव होता है; एक **मंगोलता** (mongo-

lism) और दूसरी अवटुवामनता (cretinism)। जन्म के समय शिशु की आकृति से इन दशाओं का सन्देह हो सकता है। किन्तु जब तक चिकित्सक उनका निश्चय न कर ले तब तक शिशु के माता-पिता तथा परिवार वालों पर अपना सन्देह कदापि न प्रकट करे। भिन्न-भिन्न परीक्षाओं द्वारा, जिनका इन विकारों के साथ वर्णन किया जा चुका है, रोगों का निश्चय किया जा सकता है। निश्चय होने पर माता-पिता को तत्काल सूचित करना उचित है।

अन्य मानसमन्दता द्योतक दशायें शारीरिक विरूपांगतायें (anomalies), विशेषकर शीर्षरचना संबन्धी हैं जैसे लघु शिरस्कता; शंकुशिरस्कता, अमस्तिष्कता (anencephaly), ऐसी गुरुतर हीनताओं युक्त गर्भ तो जन्म से पूर्व ही बहुधा मृत होते हैं और मृतगर्भ की अवस्था में जन्म लेते हैं। अन्य जिनमें तीव्र अपसामान्यता होती है जन्म के पश्चात कुछ सप्ताह अथवा महीनों ही में उनका प्राणांत हो जाता है।

सतर्क करने वाले चिह्न—फिर भी कुछ ऐसी दशाऐं हैं जिनके उपस्थित होने पर चिकित्सक को सतर्क होना चाहिये और जन्म के पश्चात् ही से मानसमन्दता की संभावना को सदा ध्यान में रखना चाहिये।

इन दशाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण और गम्भीर दशा **कालपूर्वता** या अपरिपक्वता (prematurity) है और मानसमन्दता का सबसे बड़ा कारण कालपूर्व जन्म पाया गया है। कालपूर्व जन्मे शिशुओं के भविष्य के संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता। चिकित्सक को उचित है वह कम से कम एक वर्ष तक निरीक्षण करता रहे और तब बालक के सम्बन्ध में अपनी सम्मति प्रकट करे।

ऐसी ही अथवा इससे भी अधिकतर भयंकर वे दशायें या दुर्घटनायें हैं जिनमें गर्भ के (प्रसवपूर्व) अथवा शिशु के (प्रसवकालिक अथवा प्रसवोत्तर कालिक) मस्तिष्क में रक्तसंचार में बाधा उत्पन्न हो जाती है जिससे अनाक्सिता (anoxia) हो सकती है। मस्तिष्क को आक्सीजन की बहुत आवश्यकता होती है। पर्याप्त आक्सीजन न मिलने से मस्तिष्क को तीव्र क्षति पहुँच सकती है। यदि कोई भी ऐसी दशा हो जो मस्तिष्क में जाने वाले रक्त के प्रवाह का अवरोध कर सके तो उसका अन्वेषण आवश्यक है। तथा शिशु पर पूर्ण ध्यान रखना उचित है। क्षति के कारण मानसमन्दता की उत्पत्ति भुलाना उचित नहीं है। श्वेत श्वासावरोध (asphyxia pallida) जन्म के पश्चात श्वसनक्रिया प्रारंभ करने में कठिनाई तथा दो दिन से अधिक

तक बने रहने वाले शिथिल संस्तम्भ (flaccid paralysis) से मस्तिष्क क्षति का अनुमान किया जा सकता है।

घुटलियों चलनेवाले बालकों में (toddlers) मन्दता जानने का उपाय उनके वृद्धिक्रम का निरीक्षण है। बालक में जिस समय पर जो वृद्धि या गुण प्रकट होना चाहिये, वह नियत समय से उत्पन्न हो रहा है या नहीं। बालक का माता को पहचानना, मुस्कराना, ध्वनि की ओर आकर्षित होना, दृष्टि का स्थिर होना, सिर उठाना, बैठना, बैठकर अपनी स्थिति को बनाये रखना, घुटलियों चलना, मुँह से शब्द बोलना, दाँत निकलना, खड़े होने का प्रयत्न करना, परिवार के अन्य व्यक्तियों को पहचानना—ये सब वृद्धियाँ नियत समय से होती हैं। इन्हीं के परिवर्धन के समय का सहस्रों बालकों में निरीक्षण करके ही 'परिवर्धन स्केल या मापनी' (developmental scale) बनाई गई है। उसमें थोड़ी-बहुत घटा-बढ़ी हो सकती है अथवा कोई एक प्रकार की वृद्धि अतिविलम्बित हो सकती है। लेखक एक व्यक्ति से परिचित है जो तीन वर्ष की वय तक कोई शब्द नहीं बोला। परिवार वालों तथा मित्रगणों ने यही समझा कि यह बालक गूंगा रहेगा। किन्तु तीन वर्ष पश्चात् उसने बोलना प्रारम्भ कर दिया और एक वर्ष के भीतर अपनी वयानुसार सामान्य वाक्यशक्ति प्राप्त कर ली।

अतएव चिकित्सक को शिशु की सब ही प्रकार की वृद्धियों, शारीरिक और मानसिक दोनों, को ध्यान में रखना चाहिये। शारीरिक वृद्धि बहुत महत्त्व की है। प्रायः मानसमन्दों की शारीरिक वृद्धि की गति विशेषकर अल्प होती है। मानसिक वय (mental age) के अन्वेषण के सम्बन्ध में यह पाया गया कि अल्पमन्दतावाले (mildly retarded) बालकों की अपेक्षा सामान्य बुद्धि वाले बालकों की वृद्धि १½ से २ गुणा अधिक तीव्र गति से होती है और अतिमन्दता वाले बालकों में वृद्धि की प्रगति इससे भी कम होती है।

परिवर्धन स्केलों से इस आयु के बालकों में त्रुटि का ज्ञान करने में बहुत सहायता मिलती है। चिकित्सक को प्रति छह मास पर इन स्केलों के अनुसार २ वर्ष तक परीक्षा करनी योग्य है जिसका पूरा लेखा रखा जाय और प्रति बार के लेखों की तुलना ६ मास पूर्व के लेखे से की जाय तथा स्केल में लिखित वृद्धि से मिलाया जाय। यदि दो वर्ष तक सब या बहुत सी त्रुटियों में उन्नति नहीं होती है तो बालक मानसमन्द है।

विद्यालय प्रवेश से पूर्व

प्रत्येक बालक के जीवन में कुछ **'क्रान्तिक काल'** (critical periods) होते हैं जब उसमें महत्त्वशाली परिवर्तन होते हैं। ऐसे चार या पाँच कहे जाते हैं : (१) जन्म के पश्चात् प्रथम १½ मास; (२) दूसरा वर्ष जब बालक दौड़ना, भागना, लड़ना आदि गत्यात्मक कौशलों (motor skills) को सीखता है; (३) ५ या ५½ वर्ष विद्यालय प्रवेश के पहले जब भावी स्कूल जीवन का विचार उसके मन में कुछ उद्विग्नता उत्पन्न कर देता है; (४) लगभग ७½वाँ वर्ष जब वह किन्डरगार्टन से प्राथमिक स्कूल की प्रथम कक्षा में जाता है। स्कूल-जीवन में बालक की शिक्षा ग्रहण करने की अयोग्यता स्पष्ट हो जाती है। (५) १४ या १५ वर्ष पर, जब जीवन संग्राम में प्रवेश करके जीवनोपार्जन का प्रश्न सामने दिखाई देता है। इस समय माता-पिता बालक की अपेक्षा अधिक चिन्ताग्रस्त होते हैं।

सामान्यतया विद्यालय में प्रवेश के समय प्रत्येक त्रुटिग्रस्त बालक का निदान तथा उसकी हीनता का निर्धारण पूर्णतया हो जाना चाहिये। तो भी अनेक बालकों की दशा का पूर्ण ज्ञान नहीं होता। अतिमानसमन्द तो अवश्य ही पहचान लिये जाते हैं। उनमें त्रुटि इतनी अधिक होती है कि घर तथा बाहर के सभी लोगों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो जाता है। किन्तु अल्पमन्दों का बहुत अधिक देर से और कुछ मध्यमन्दों का पता नहीं चलता। इसका कारण अधिकतर घरवालों की और चिकित्सक की असावधानी ही होती है। यदि बालक के स्वभाव, उसकी शारीरिक गतियों तथा क्रियाओं की असाधारणता की ओर थोड़ा भी ध्यान दिया जाय तो इससे पूर्व ही उसके दोष का पता चल जाय और चिकित्सा आयोजनों का प्रारम्भ सम्भव हो।

परिवर्धन स्केल द्वारा बालक की जाँच करते रहने से त्रुटि छिपी नहीं रह सकती है। विद्वानों के कथनानुसार २ वर्ष तक बालक की प्रति ६ मास पर जाँच करने से त्रुटि का निदान अवश्य हो जाता है। जिन बालकों की इस वय तक त्रुटि नहीं मालूम होती उनकी इस समय पर इन गुणों की जाँच आवश्यक है : (१) **प्रेरक परिवर्धन** (motor development), अर्थात् परिवर्धन स्केल के अनुसार हाथ-पाँव की गत्यात्मक तथा अन्य कर्म करने की योग्यता, अंगों की गतियों की तत्परता—द्रुत गति अथवा मन्दता, उनका समन्वय, सार्थकता आदि। (२) **सामाजिक वृत्तियाँ**

(social tendencies) अर्थात परिवार वालों तथा अन्य समवयस्क बालकों के साथ सम्बन्ध स्थापन, उनके साथ सहयोग, उदासीनता, अथवा विरोध। (३) **बालक की विन्यास शक्ति** का परिचय उसके अपने खिलौनों को रखने, सजाने तथा खेलने के ढंग से मिल सकता है। उसका वस्त्रों को रखने और पहनने तथा अन्य वस्तुओं के उपयोग का ढंग, भोजन के समय की स्थिति, आहार के उपकरणों—चम्मच, प्याला, दूध की बोतल का उपयोग, ये सब उसकी निर्माण तथा विचार शक्ति के द्योतक हैं। (४) **वाक् शक्ति** अथवा भाषा का उपयोग, शब्द या वाक्य रचना-परिवर्धन स्केल के अनुसार इस गुण का विकास। इन परीक्षणों द्वारा न केवल बालक की अपूर्णता ही का पता लगाना प्रयोजन है, किन्तु किस क्षेत्र में कितनी त्रुटि है, किसमें कौन सी त्रुटि कम है, कौन सी अधिक है यह भी अनुमान आवश्यक है।

विद्यालय में—विद्यालय में प्रविष्ट होने के पश्चात्, शिक्षा काल में बालक की अत्यल्प त्रुटि का भी पता लग जाता है। प्रवेश के समय ही बालक शिक्षक के सम्पर्क में आता है जो उसकी 'शिक्षा तत्परता' का अनुमान कर लेता है। बालक के सहपाठियों के सम्पर्क में आने पर, जो उसी की वय के बालक होते हैं, शिक्षक को बालक की 'सामाजिक योग्यता या दक्षता' (social competence) का निरीक्षण करने का अवसर मिलता है। उसके खेलकूद के समय उसकी गत्यात्मक पूर्णता (motor skill) का भी परिचय प्राप्त हो जाता है। कुछ समय तक विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् शिक्षक यह भी पता लगा लेता है कि बालक सहपाठियों के साथ चल रहा है या उनसे पिछड़ा हुआ है। उनके समान वह भी शिक्षा ग्रहण कर रहा है या नहीं। इन सब निरीक्षणों द्वारा शिक्षक को बालक की शिक्षा ग्रहण करने की योग्यता का बोध हो जाता है। शिक्षक के सन्देह करने पर बालक की मनोविज्ञानी तथा मनोविकार विज्ञान द्वारा परीक्षाओं से त्रुटि का निर्णय करना सहज होता है। इन परीक्षाओं द्वारा यह निश्चित होता है कि बालक शिक्षा ग्रहण करने योग्य भी है या नहीं। यही educability कहा जाता है।

परीक्षाओं द्वारा जहाँ त्रुटि का ज्ञान करना होता है वहाँ यह भी जानना आवश्यक है कि किस क्षेत्र में बालक की प्रवृत्ति है। वह किस प्रकार की कला में दीक्षित किया जा सकता है जिसके द्वारा वह भविष्य में जीवनोपार्जन के योग्य हो जाय। यही पुनःस्थापन है। परीक्षाओं, विद्यालयों, विशेष

आयोजनों आदि का यही अंतिम ध्येय है कि उस बालक को स्वतन्त्र जीवन विताने के योग्य बना दिया जाय।

स्कूल में बालक की त्रुटि को पहचानने में कठिनाई नहीं होती। शिक्षकों की पहले ही उस पर दृष्टि रहती है। मनोविकार विज्ञानी को उनसे बहुत सहायता मिलेगी। बालक के संबंध में सभी प्रकार की जानकारी स्कूल के कार्यकर्ताओं से मिल जायगी। तो भी वह स्वयं बालक से परिचय प्राप्त करे और उसके माता-पिता तथा संबंधियों से बालक का इतिहास प्राप्त करे, स्वयं पूछ ताछ करे और आवश्यक सूचनाओं का स्वयं अनुसंधान करे। तब वह उसी प्रकार बालक की परीक्षा करे जैसे वह अपने पास पहली बार आने वाले त्रुटिग्रस्त बालक की करता है। परीक्षक को स्मरण रहे कि उसको केवल त्रुटि ही को नहीं पहचानना है किन्तु उसकी योग्यता को ढूंढ़ निकालना और भी आवश्यक है। बालक किस दिशा में, किस कला में शिक्षित या प्रशिक्षित (trained) किया जा सकता है। उसकी योग्यता का पता लगाना मुख्य प्रयोजन है जिससे उसको एक योग्य नागरिक बनाया जा सके और वह समाज पर भार न हो।

वयस्कों (adults) का निदान—जिन उन्नतिशील देशों में जहाँ गत ७० या ७५ वर्षों से मानसमन्दों की रक्षा तथा शिक्षण और प्रशिक्षण द्वारा उनके पुनःस्थापन के उद्योग किये जा रहे हैं उनमें प्रौढ़ावस्था तक त्रुटि का पता न लगना अत्यन्त असाधारण है। वहाँ किसी दूरवर्ती अन्तर-भाग में जहाँ यातायात की सुविधा न होने से चिकित्सा सम्बन्धी पूर्ण सुविधाओं का, बड़े नगरों के समान, उच्च कोटि के साधन, अभी तक प्राप्त नहीं हो सके हैं, वहाँ कदाचित कोई ऐसा त्रुटिग्रस्त व्यक्ति मिल सकता है। किन्तु जिन पिछड़े हुए देशों में इस दिशा में हाल ही में ध्यान दिया गया है वहाँ ऐसे अनेक व्यक्ति मिलना संभव ही नहीं, अपेक्षित है।

वयस्क या प्रौढ़ अवस्था में त्रुटि को पहचानना कठिन नहीं है। प्रायः वे अतिमानसमन्द ही होते हैं, मध्य मानसमन्द हो सकते हैं। अल्प मानसमन्द तो इस समय तक कुछ न कुछ काम में लगकर समाज में विलीन हो जाते हैं। वे प्रगति अवश्य नहीं कर सकते, तो भी अपना पेट भर ही लेते हैं और कालयापन करते रहते हैं। ऐसी दशा में अधिक त्रुटिग्रस्त व्यक्तियों की खोज सहज संभव है।

उनके लिये क्या किया जा सकता है, क्या करना युक्त है, यही प्रश्न है। संभव है कुछ ऐसे हों जिनको किसी प्रकार के प्रशिक्षण से लाभ हो;

उनके लिये वैसे ही आयोजन करने होंगे जो स्कूल के मानसमन्द बालकों के लिये किये जाते हैं। परीक्षणों द्वारा उनका बुद्धिमापन करके उसी के अनुसार प्रबन्ध करना होगा।

जिन व्यक्तियों में शिक्षण या प्रशिक्षण से किसी लाभ की आशा नहीं है, जो शिक्षण प्रशिक्षण अयोग्य (uneducable, untrainable) हैं, उनके शांति से जीवन बिताने के लिये ऐसी संस्थायें बनाना होगा जहाँ उनको जीवन की सामान्य सुविधायें प्राप्त हों और उनकी देख-रेख की जा सके।

चिकित्सा के प्रकरण में ऐसे आयोजनों का विचार किया जायगा।



सातवाँ परिच्छेद

इस परिच्छेद में हम संक्षेप से कुछ ऐसी दशाओं का विचार करेंगे जो यद्यपि मानसमन्दता नहीं हैं किन्तु अनेक वार मानसमन्दता से संयुक्त या मिश्रित होती हैं। व्यक्ति में मन्दता के साथ ये दशायें भी उपस्थित होती हैं जिनसे मानसमन्दता का स्वरूप और भी गाढ़ा हो जाता है। उसकी गम्भीरता और भी अधिक हो जाती है। इन दशाओं के लक्षण भी मानसमन्दता के वहुत कुछ समान होते हैं। इस कारण जो मानसमन्द नहीं होते, किन्तु इन दशाओं के शिकार होते हैं, उनको भी मानसमन्द मान लिया जाता है। और उनके साथ मानसमन्दों ही के समान व्यवहार किया जाता है। उनके उपचार के लिये भी मानसमन्दों ही के समान साधनों का उपयोग होता है जिससे कोई लाभ नहीं होता।

मानसमन्दता के समान इन दशाओं की भी एक विस्तृत शृङ्खला है जिसमें बहुत विभिन्नतायें पाई जाती हैं। शृंखला के एक छोर पर वह व्यक्ति है जिसको संगत जडबुद्धि या anomalous idiot कहा जाता है, जिसमें मानवगुणों का विकास नहीं के समान है। वह अपने चारों ओर होने वाली घटनाओं को समझ ही नहीं पाता; इस कारण उन की ओर उसका ध्यान ही आकर्षित नहीं होता, न उसे अपनी ही सूझ-बूझ होती है। अत्यन्त आवश्यक या प्राकृतिक दैनिक कर्मों के अतिरिक्त कोई भी कर्म करने की उसे रुचि नहीं होती, न वह कर ही पाता है। वह संसार से एक प्रकार से बाहर ही रहता है।

इसी शृङ्खला के दूसरे छोर पर वे हैं जिनको केवल लोकाचार बिरुद्ध या eccentric कह सकते हैं। इन दोनों सीमाओं के बीच में अनेक प्रकार की विचित्रतायें हैं।

ये व्यक्ति दो प्रकार के हैं :—(१) जिनमें सम्वन्ध रचना (relationship formation) के विकार पाये जाते हैं। (२) वे जिनमें मुख्यतया व्यवहारात्मक विकार (disorders of behaviour) होते हैं। विचार करने से सहज में समझ में आ जायगा कि व्यवहार विकृति सम्बन्ध रचना के दोष ही का परिणाम है, उसी का व्यावहारिक रूप है। इन दोषों के मूल में मानस मन्दता अवश्य है जिसके कारण ग्रस्त व्यक्ति यह नहीं समझ पाता कि उसका व्यवहार परिवार और समाज के अनुकूल नहीं है, उस

व्यवहार को न उसके परिवार वाले स्वीकार करते हैं और न समाज सहन करता है, क्योंकि वह दोनों के प्रतिकूल है, अहितकर है।

१. सम्बन्ध रचना के विकार या व्यतिक्रम
(Disorders of Relationship Formation)

सम्बन्ध रचना का अर्थ है जन्म के पश्चात् शिशु का अपने चारों ओर के व्यक्तियों, जो उसके सम्पर्क में आते हैं या जिनको वह देखता है तथा अन्य उपस्थित वस्तुएँ जो उसकी दृष्टि के भीतर आती हैं या जिन्हें वह प्रयोग करता है, जैसे दूध की बोतल, उनके प्रति उसमें जिन भावों का उदय होता जाता है, वही सम्वन्ध रचना कहा जाता है।

प्रथम चार मास तक तो शिशु में मूल प्रवृत्ति (instinct) ही प्रधानतः काम करती रहती है। तो भी सबसे अधिक और घनिष्ठतया सम्पर्क में माता ही आती रहती है। इस कारण वह माता को पहचानने तथा उत्सुकता से प्रतीक्षा करने लगता है। फिर माता के सम्पर्क से उसे सन्तोष या सुख का अनुभव होने लगता है। यही भाव समय पाकर बढ़ता रहता है और वह पाँचवें मास तक स्नेह का रूप ले लेता है। यही माता-शिशु सम्बन्ध कहलाता है और इसकी उत्पत्ति विधि माता-शिशु सम्वन्ध रचना कही जाती है।

ज्यों-ज्यों शिशु की आयु बढ़ती है परिवारवालों से तथा अन्य वस्तुओं से भी उसकी सम्वन्ध रचना स्थापित होती चली जाती है। माता के पश्चात् पिता से, दूध की बोतल से, खिलौनों से, अन्य परिवार वालों से, जो उसको खिलाते हैं उन सबों से समयानुक्रम से सम्वन्ध स्थापन होता चला जाता है। फिर समवयस्क बालकों से, स्कूल में सहपाठियों से, साथ के खेलने वालों से सम्वन्ध स्थापन का यही क्रम चलता रहता है। यही उचित और उपयुक्त सम्वन्ध रचनाक्रम आगे चलकर सामाजिक व्यवहार और सामाजिक दक्षता के रूप में प्रकट होता है।

शैशव काल की यह पूर्ण और उपयुक्त सम्वन्ध रचना का विकास भावी जीवन की मानसिक पूर्णता के लिए बहुत कुछ उत्तरदायी है। उसकी नींव है। इस विकास के कहीं पर अस्त-व्यस्त हो जाने से बालक का सारा भावी जीवन दोषयुक्त हो जाता है और वह सांसारिक यात्रा की सफलता और उसके द्वारा सुख प्राप्ति से वञ्चित रहता है।

इस सम्वन्ध रचना के अन्तर्गत दो कारक (factors) हैं जो सम्वन्ध रचना की पूर्णता के हेतु होते हैं; एक, दुख अथवा अभाव और (२) सुख

अथवा भाव। यह दुख-सुख (pain–pleasure) का चक्र शिशु के जन्म के पश्चात् ही से प्रारम्भ होता है। प्रथम यह सहज प्रवृत्ति (instinct) का रूप होता है। इस काल में शिशु तीन कर्म करता है; पेट खाली हो जाने पर उसको अभाव (दुख) प्रतीत होता है, भूख लगती है और वह रोता है। दूध पी लेने पर उसका अभाव मिट जाता है, वह तृप्त हो जाता है। यही भाव या सुख है। इसके पश्चात् वह सो जाता है। यह सोना दूसरा कर्म है। तीसरा कर्म मल-मूत्र त्याग है जिसको वह समय-समय पर करता रहता है। इन्हीं तीन कर्मों में उसको अभाव-भाव अथवा दुख-सुख (pain-pleasure) का अनुभव होता है। भूख लगने पर शिशु के भीतर एक तनाव (tension) प्रतीत होता है। माता जितने शीघ्र उसे दूध दे देती है उतनी ही शीघ्रता से तनाव मिट जाता है और शिशु में तृप्ति अथवा सुख या भाव की अनुभूति उदय हो जाती है। इस तृप्ति या सुख की अनुभूति प्रदान करनेवाली माता ही होती है। अतएव शिशु-माता सम्बन्ध की रचना इसी समय से प्रारम्भ हो जाती है। और पाँचवें या छठे मास तक वह भलीभाँति स्थापित हो जाती है। उसी के रूप में शिशु अपने वाह्य वातावरण की अनुभूति प्रारम्भ करता है। सन्तुष्ट तृप्त शिशु की अनुभूति उपयुक्त उत्तम सामाजिक पूर्णतायुक्त मानसविकास का कारण होती है। यदि माता शिशु की आवश्यकता उसकी अभाव अनुभूति को तत्परता से नहीं दूर कर पाती तो शिशु-माता की सम्बन्ध रचना में रोष उत्पन्न हो जाता है। जो शिशु सदा अतृप्त रहता है; अथवा सुख की अनुभूति से वञ्चित काल यापन करता है आगे चल उसके मानसविकास में विकार उत्पन्न होना स्वाभाविक है। उसका सामाजिक व्यवहार प्रतिकूल होना सम्भावना से परे नहीं है।

ज्यों-ज्यों शिशु बड़ा होता है त्यों-त्यों सहज प्रवृत्ति (instinct) शनैः शनैः विलीन होने लगती है और उसका स्थान मानस विकास लेने लगता है अथवा संकल्प (will) शक्ति लेने लगती है। पाँचवें-छठे मास पर शिशु माता को पहचानने लगता है। तृप्त रहने पर शिशु माता में विश्वास करने लगता है। कुछ प्रयोजनयुक्त क्रियायें भी करना प्रारंभ करता है जैसे हाथों को उठाकर माता की गोदी में जाने की इच्छा प्रकट करना। धीरे-धीरे वह अन्य व्यक्तियों, परिस्थितियों तथा चारों ओर के वातावरण के साथ सम्बन्ध रचना स्थापित करता जाता है। इस सम्बन्ध स्थापना में उसको अवरोध भी मिलते हैं। किन्तु अब तक माता की सहायता से वह सदा उन अवरोधों को दूर करता रहा है जिससे वह अपने को अधिकाधिक माता के समीप प्रतीत करता चला आ रहा है और माता में उसका विश्वास निरन्तर

दृढ़ होता चला गया है। यह उसके भावी मानस विकास के लिये बहुत ही अनुकूल और आवश्यक है।

इसी प्रकार वह भिन्न-भिन्न अवस्थाओं पर भिन्न-भिन्न गुणों का विकास करता हुआ 'बाल' अवस्था (stage) को पार करके विद्यालय में प्रवेश करने की वय (school going age) में पहुँच जाता है। १८ मास की वय ही से उसको सामाजिक व्यवहार के गुणों के विकास की दीक्षा मिलती है। अपने भाई-बहिनों से, अन्य परिवार वालों से, खेल के साथियों से तथा परिवार के मित्रों से वह सम्बन्ध रचना स्थापित करता रहा है। प्रत्येक सम्बन्ध रचना में अन्य सम्बन्ध रचना से कुछ भेद है जिसे वह प्रतीत कर रहा है, यद्यपि वह उसका वास्तविक रूप नहीं समझ पाता। तब भी वह दूर और पास का अन्तर अनुभव करता है। यही सामाजिक व्यवहार के विकास का प्रारम्भिक रूप है।

स्कूल में प्रवेश के समय से उसकी सम्बन्ध रचना की योग्यता में बहुत विस्तार होता है। माता-पुत्र सम्बन्ध रचना का बहुत सा अंश अब शिक्षक ग्रहण कर लेता है। भाई-बहिनों की सम्बन्ध रचना में सहपाठी भाग बटा लेते हैं। यहाँ सबसे बड़ा परिवर्तन बुद्धि (intelligence) विकास में होता है। तर्क (reason) शक्ति उत्पन्न होती है जो बाल बुद्धि चपलता का स्थान ले लेती है। वय वृद्धि के साथ तर्क शक्ति, जिज्ञासा, स्मृति धारणा, सहयोग, विधान, सज्जनता, सामाजिक आचरण, नागरिकता आदि गुणों का विकास भी होता जाता है और सामान्य प्रज्ञा की उन्नति होती है। विद्वानों की सम्मति है कि बुद्धि या प्रज्ञा की १५ वें वर्ष तक वृद्धि होती है। उसके पश्चात बुद्धि की प्रगति नहीं होती अनुभव बढ़ता है जिसके द्वारा बुद्धि या प्रज्ञा का उपयोग अधिक लाभदायक होता है। किशोरावस्था (adolescence) तक ये गुण दृढ़ हो जाते हैं। किन्तु इस अवस्था में उद्दंडता या सरगर्मी (hot headedness) रहती है। उसको पार करने पर शांति, स्थिरता, दृढ़ता स्वभाव का अंश बन जाती है। **उत्तरदायित्व** सामाजिक योग्यता का एक प्रधान अंग है। विद्यालय काल ही से इस गुण का प्रादुर्भाव व्यक्त हो जाता है। शिक्षक की आज्ञा-पालन ही उत्तरदायित्व का लघुकर्म है। आधुनिक शिक्षण प्रणाली का उद्देश्य बालक में इन सब गुणों का विकास करना है जिनमें सच बोलना और उत्तरदायित्व प्रधान हैं। शिक्षक समुदाय और माता-पिता तथा परिवारगण सभी पर बालक में इन गुणों के विकास का उत्तरदायित्व है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका सारांश यह है कि सम्वन्ध रचना का प्रारम्भ शिशु के जन्म के पश्चात ही से आरम्भ हो जाता है। प्रतिक्षण और प्रतिदिन उसकी रचना होती रहती है। शिशु के जीवन के प्रथम मास के पश्चात ही से यह रचना स्थायी होने लगती है, विशेषकर ६ मास में जब सहजप्रकृति (instinct) का रूप परिवर्तन होने लगता है। इस सम्वन्ध रचना का आधार माता होती है। और उसकी त्रुटि भविष्य में होने वाले विकारों की मूल हो सकती है।

स्वपरायणता, स्वैरचिन्तन (Autism)

सम्वन्ध रचना विकार का मुख्य स्वरूप स्वपरायणता अथवा स्वैर चिन्तन है जिसे अंग्रेजी में (autism) कहते हैं। इस दशा से ग्रस्त व्यक्ति या वालक अपने ही में केन्द्रित रहता है। वह वाह्य वातावरण से उदासीन अपने ही क्रमहीन निरर्थक विचारों में डूबा रहता है, जिनको विचार कहना भी असंगत होगा, क्योंकि उनमें सार्थकता नहीं होती। वे केवल व्यतिक्रमित भाव होते हैं जिनसे प्रेरित होकर वह कुछ प्रयोजनहीन और वहुधा हानिकारक क्रियायें करता रहता है। ऐसे एक त्रुटियुक्त वालक के वर्णन से यह दशा स्पष्ट हो जायगी।

स्वैरचिन्तित बालक का व्यवहार माता-पिता अथवा अभिभावकों के लिये एक समस्या होता है। उसको समझना उनके लिये दुष्कर होता है। कई वार उसका आचरण सामान्य वालकों के समान होता है। उसमें कोई दोष नहीं होता। किन्तु दूसरे ही क्षण क्रुद्ध होकर वह अपनी माता से लड़ने को उद्यत हो जाता है। उसको मारने काटने लगता है। कभी-कभी वह घंटों तक कमरे के एक कोने में चुपचाप वैठा हुआ किसी चमकदार वस्तु की ओर देखता रहता है अथवा अपनी अँगुलियों ही को मटकाता रहता है। एक दिन वह अपने ही नाम को पुकारने पर तनिक ध्यान नहीं देता जैसे सुना ही न हो। दूसरे दिन धीरे से भी नाम पुकारने पर तुरन्त आकर्षित हो जाता है। एक समय संगीत में उसकी रुचि हो सकती है, वह किसी गीत को भली प्रकार से गाता है। किन्तु दूसरे ही क्षण वह इच्छा या आवश्यकता को प्रकट करने में भी असमर्थ होता है। कभी वह उत्तम प्रकार से अपनी वय वालों के समान बात करता है और दूसरे ही क्षण उससे जो कुछ कहा जाता है उसे समझ भी नहीं पाता।

इस प्रकार के (स्वैर चिन्तित) बालक बहुधा सुन्दर, सुगठित और मनोहर होते हैं और देखने वालों को शीघ्र ही आकर्षित कर लेते हैं।

किन्तु उनके वास्तविक अन्तरंग का बोध नहीं हो पाता। कुछ बालक कभी नहीं रोते न कभी हँसते हैं। अन्तर वातावरण या पूर्व क्रम के तनिक से परिवर्तन से उद्विग्न और चिन्तित हो जाते हैं। अनेक इस दशा से ग्रस्त बालक किसी के स्पर्श को सहन नहीं करते। यदि कोई नवीन व्यक्ति उनके पास पहुँचता है या वे किसी नवीन शब्द को सुनते हैं तो वहाँ से भागने का प्रयत्न करते हैं; यदि नहीं भाग पाते तो अपने मुख को या शरीर ही को किसी वस्त्र से ढँक लेते हैं।

स्वैरचिन्तित बालकों की खेलने की सीमा भी बहुत परिमित होती है। वह एक ही प्रकार के खेल को, खिलौनों को आगे पीछे हटा कर रखने में, खेलने में घंटों लगे रहते हैं।

उपरोक्त क्रियाओं की अपेक्षा उनकी प्रवृत्तियाँ हानिकारक अथवा विनाशक हो सकती हैं। तनिक से उद्विग्न होने पर वे घर के कमरों में भागना और वहाँ रखी वस्तुओं को तोड़ने लगते हैं। जो कुछ मिलता है उसको नष्ट करते जाते हैं। वे स्वयं अपने को शारीरिक आघात पहुँचा सकते हैं, अपने अंगों को, बाहु, हाथ, जंघा आदि को काट लेते हैं। माता-पिता पर वे आक्रमण कर सकते हैं। उन्हे काट लेते हैं, अपना शिर दीवार, मेज, कुर्सी जो कुछ उनके सामने आ जाय उसी पर मार देते हैं जिससे स्वयं उनको तीव्र क्षति पहुँच सकती है।

ऊपर कहे हुए अति साधारण लक्षण हैं। यह स्मरण योग्य है कि प्रत्येक स्वैरचिन्तित बालक में सब लक्षण नहीं मिलते और न सदा ही मिलते हैं। भिन्न-भिन्न बालकों में लक्षण भिन्न होते हैं। किसी में कोई लक्षण मिलता है तो दूसरों में अन्य लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। फिर एक ही बालक में एक समय कोई लक्षण प्रमुख होता है; दूसरे समय वह लक्षण जाता रहता है या दब जाता है और दूसरा लक्षण उभर आता है। दोष की गम्भीरता के अनुसार भी लक्षणों की उग्रता कम या अधिक हो सकती है।

एक भेद और भी है। उल्लिखित आचरण व्यतिक्रम सामान्य बालकों में भी कभी-कभी घटित हो सकते हैं। अतएव लक्षणों का निरन्तर बने रहना, उनका सातत्य, माता-पिता तथा अभिभावकों के बालक को सुधारने के प्रयत्नों का विफल होना, दशा निर्णय करने में इन सब बातों का ध्यान रखना आवश्यक है।

घर में ऐसे एक भी बालक से सारे परिवार का दैनिक जीवन कितना अस्त-व्यस्त हो सकता है इसका सहज में अनुमान किया जा सकता है। माता-पिता का सारा समय उस एक ही बालक की चिन्ता और देख-रेख में बीत जाता है। वे चिन्ता से किसी समय मुक्त नहीं रहते। अपनी अन्य सन्तानों, बालक के भाई-बहिनों पर ध्यान तथा समय देना उनके लिये असम्भव सा हो जाता है। विशेष भार माता को सहन करना होता है। दिन भर उसी बालक के पीछे दौड़ते-दौड़ते उसका भी स्वास्थ्य-क्षीण होने लगता है और अन्य बालक भी अपने को उपेक्षित प्रतीत करते हैं। जिसका उनके शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के विकासों पर हानिकारक प्रभाव होता है। जब पिता दिन भर अपने काम से श्रमित होकर घर लौटता है तो भी उसको शांति और विश्राम नहीं मिलता। इस सब के परिणाम स्वरूप समस्त पारिवारिक जीवन— मानसिक, आर्थिक, सामाजिक तथा शारीरिक—अशान्त और नष्ट सा हो जाता है।

प्राग्ज्ञान (prognosis)—ऐसे बालकों का भविष्य भी प्रायः अन्धकारमय होता है। ऐसे बहुत थोड़े से त्रुटि ग्रस्त बालक समाजानुकूल जीवन व्यतीत करने योग्य होते हैं और उनमें से भी कुछ ही जीवनोपार्जन की क्षमता प्राप्त कर पाते हैं। अधिकतर जीवन पर्यन्त अपने घरों की चारदीवारी में बन्द या अतित्रुटि युक्त ऐसे ही रोगियों की संस्थाओं में कालयापन करते हैं। उनके कारण माता-पिता का जीवन भी भार हो जाता है। उनमें एक अपराधी का सा भाव उदय हो जाता है वे प्रतीत करने लगते हैं कि बालक के अपूर्ण विकास के लिये वे ही उत्तरदायी हैं। अन्य परिवार वाले भी इस दशा के हानिकारक प्रभाव से नहीं बच पाते। परिवार की जो आर्थिक हानि होती है वह अलग रही। समाज भी हानि से नहीं बच पाता। समाज के एक सदस्य का जीवन नष्ट होता है, वह उसके सहयोग से वंचित रह जाता है। उधर त्रुटि ग्रस्त व्यक्तियों के लिये सरकार को जो संस्थायें बनानी पड़ती हैं और वहाँ रहने वालों का भोजन, वस्त्र, देख-देख के लिये जितना व्यय करना पड़ता है वह सब जातीय आर्थिक हानि होती है।

चिकित्सा का विचार अगले चिकित्सा प्रकरण के परिच्छेद में किया जायगा। यहाँ इतना बताना उपयुक्त होगा कि चिकित्सा सम्बन्धी जो जो नई खोजें हो रही हैं और हुई हैं उनसे ऐसे व्यक्तियों के जीवनसुधार की

आशा में बहुत उन्नति हुई है। चिकित्सा क्रम सहज नहीं है। माता-पिता को उसमें दीक्षित करना स्वयं एक विशेष शिक्षा पद्धति है। किन्तु बहुत से देशों में माता-पिता और स्वयं बालक की सहायता के लिये प्रबंध किये जा रहे हैं। खोजों के अनुसार ऐसे शिक्षक, जो उपबोधक या काउन्सलर्स (counsellors) कहलाते हैं, विशेष प्रशिक्षणालयों में तैयार किये जा रहे हैं जो घरों पर जाकर माता-पिता या अभिभावकों को बालक की देखरेख के संबंध में परामर्श देते रहें और स्वयं भी प्रत्यक्ष रूप से बालक की शिक्षा में सहायक हों। अब तक जो प्रयोग किये गये हैं उनके सन्तोष. जनक परिणाम हुए हैं और बहुत से बालकों की दशा में वांछित उन्नति हुई है। कितने ही बालक उपयोगी जीवन और नागरिकता के योग्य हो गये हैं। ऐसे स्कूल भी स्थापित किये गये हैं जहाँ आवश्यक होने पर ऐसे बालकों को रख कर उनकी शिक्षा दीक्षा का प्रबन्ध किया जाता है।

किन्तु व्यय का बहुत बड़ा प्रश्न है, परिवारों के लिये भी और सरकारों के लिये भी। व्यय के कारण ही अभी तक नई शिक्षा प्रणाली से अल्प बाल संख्या ही लाभ उठा सकी है। और पर्याप्त संख्या में उपबोधक या काउन्सलर्स को तैयार नहीं किया जा सका है।

२. व्यवहारात्मक विकार
(Disorders of Behaviour)

सम्बन्ध रचना विकारों के सम्बन्ध में जो कुछ गत पृष्ठों में कहा गया है उससे सहज में बोध हो जाता है कि इन विकारों की श्रृंखला एक ओर अति अवसामान्य (severe subnormality) से प्रारंभ होकर दूसरी ओर सामान्य विरोधाभास तक चली जाती है। इन दोनों सीमान्तों के बीच अनेक विविधताएँ मिलती हैं। किन्तु है वह एक सतत श्रृंखला जिसका सातत्य कहीं भंग नहीं होता। व्यवहारात्मक विकार भी इसी श्रृंखला का दूसरा पक्ष अथवा छोर है। सम्बन्ध रचना विकार ही व्यवहारिक विकारों के मूल में वर्तमान है जो ग्रस्त व्यक्ति के सामाजिक नियमों की विरोधी क्रियाओं के रूप में प्रकट होता है जिससे परिवार तथा समाज दोनों की हानि होती है। समाज विरुद्ध आचरण करने वालों की **मनोविकृत व्यक्तित्व** (psychopathic personality) कहा जाता है। यद्यपि इस शब्द की यथोचित व्याख्या करना कठिन है, व्यक्ति का वर्णन करने से उनके लक्षण स्पष्ट हो जायेंगे। एक सम्भ्रान्त मान्य अन्वेषणकर्ता ने इस प्रकार वर्णन किया है :—

मनोविकृत (psychopath) को देखने से उसकी आकृति में सामान्य व्यक्ति से कोई अन्तर नहीं होता। कितने ही मनोविकृत (psychopaths) देखने में सुन्दर चित्ताकर्षक होते हैं। बहुधा उनकी शिक्षा का स्तर ऊँचा नहीं होता। किन्तु उसके कारणों का व्यक्ति के दोष से कोई सम्बन्ध नहीं होता। माता-पिता के स्थान-परिवर्तन के कारण बालक की स्कूल में उपस्थिति की कमी उसका कारण हो सकती है। अभिप्रेरक शक्ति (motivating power) न्यूनता, शिक्षा की कमी का कारण हो सकती है। मनोविकृतों को परिश्रम करने के लिये प्रेरित करना कठिन होता है। अनेक बार वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये ऐसी क्रियाएँ कर डालते हैं जिनका उससे कोई संबंध नहीं होता। वे बहुधा सम्भाषण करने में पटु होते हैं, असाधारण विषयों पर भी वे सहज में वार्त्तालाप कर लेते हैं जिसमें विनोद या हास्य भी मिश्रित रहता है। उनकी वाक् पटुता को देखते हुए उनमें उपस्थित दोष या त्रुटि की आशंका भी नहीं होती।

किन्तु वे पूर्ण स्वार्थी होते हैं। अपनी स्वार्थ प्राप्ति के लिये औचित्य या अनौचित्य का उनको तनिक भी विचार नहीं होता; दूसरों को शारीरिक अथवा मानसिक आघात पहुँचाने में उनको कभी संकोच नहीं होता। स्नेह, लज्जा, पश्चात्ताप, कृतज्ञता आदि उच्च भावों से सर्वथा वंचित होते हैं। उत्तरदायित्व का उनमें लेशमात्र भी नहीं होता। और न आत्मसम्मान ही उनका स्पर्श करता है। शासन या नियमन (discipline) के वे घोर विरोधी होते हैं। अनुभव से वे लाभ नहीं उठा सकते। इस कारण दंड से भी विधान और समाज विरोधी कर्मों से उनको दूर नहीं रखा जा सकता।

बाल्यकाल के वृत्त से पता चलता है कि वे सदा ही से झूठ बोलने वाले, चोर, लड़ाकू, गाली बकने वाले और अविश्वसनीय थे। दूसरों को दुख पहुँचाने, वस्तुओं को तोड़ने, अपने साथ खेलने वाले अपने से छोटी आयु के बालकों को सताने की उनकी सदा प्रवृत्ति रहती थी। घरेलू मूक पालतू पशुओं पर अत्याचार तक करने में उनको हिचकिचाहट नहीं होती थी। एक ८ वर्ष के बालक ने घरेलू बिल्ली के कुछ दिनों के बच्चे को शिर कुचल कर घर ही की भूमि में गढ़ा खोद उसमें दबा दिया। पता लगने पर जब उस मरे हुये बच्चे को उसको दिखाकर उससे पूछताछ की गई तो उसके उत्तर और आचरण ऐसे थे जैसे उसे अपने कृत्य पर तनिक भी पश्चात्ताप न हो। वह यह समझ ही नहीं रहा था कि उसने कुछ अनुचित काम

किया हो। ये बालक अपने से बड़ों—माता, पिता, भाई, बहिन तथा अन्य सम्बन्धियों को भी मारने, उन पर आक्रमण करने को उतने ही सहज में तैयार रहते हैं जैसे अपने साथियों को या छोटों को। शिक्षक की अवहेलना, उसके आदेश को न मानना, पाठ की उपेक्षा करना ऐसे बालकों का विशेष गुण होता है।

'ऐसे मनोविकृत बालक जब बड़े होकर प्रौढ़ होते हैं तो भी उनकी प्रवृत्तियां ऐसी ही रहती हैं, उनके स्वभाव के सब लक्षण पूर्व की भाँति बने रहते हैं। और उनका अपराधी जीवन प्रारंभ हो जाता है। वे विधान के विरोधी कर्म करते हैं और विधान के कर्मचारियों को उनके विरुद्ध कार्यवाही करनी पड़ती है। उनको दंड मिलता है। किन्तु उस दंड से उनको कोई लाभ नहीं होता। वे छोटे से छोटे अपराध से लेकर बड़े से बड़ा अपराध कर डालते हैं। हत्या तक कर देते हैं।'

सामान्य अपराधी में और मनोविकृत में यह भेद है कि सामान्य अपराधी अपने लिये किसी प्रकार का लाभ प्राप्त करने के लिये अपराध करता है। दूसरे शब्दों में अपराध करने में अपराधी का कुछ लक्ष्य होता है जिससे उसको लाभ हो। चोर रुपये की चोरी करता है जिससे उसको धन का लाभ हो। अधिकतर धन-प्राप्ति ही लक्ष्य होता है। कुछ में प्रतिहिंसा (revenge) लक्ष्य हो सकता है। यौन (sexual) अपराध भी होते हैं जिसमें वासना तृप्ति लक्ष्य होता है। किन्तु मनोविकृतों के अपराधों में कोई लक्ष्य नहीं होता। उनकी प्रवृत्ति ही अपराध करने की होती है। कभी-कभी किसी वस्तु की प्राप्ति उनका लक्ष्य होती है। किन्तु उस वस्तु की प्राप्ति से उनका कुछ भी लाभ नहीं होता।

'मनोविकृत व्यक्ति के अपराध का कारण यह होता है कि उसके मन में जो आवेग (impulse) उठ जाता है उसका दमन या रूपान्तरण (modification) वह नहीं कर पाता। ये आवेग अत्यन्त प्रारंभिक या आदिम (primitive) होते हैं जैसे नव शिशु में होते हैं। आगे चल कर परिवर्धन काल में इन आदिम आवेगों का रूपान्तरण होता है जब बुद्धि (intelligence) का विकास होता है जिसमें तर्क और विवेक (discrimination) शक्ति उत्पन्न होती है। मनोविकृतों में बुद्धि-क्रम के विकास में विकार आ जाने से व्यवहारात्मक विकारों का प्रादुर्भाव होता है। वह आदिम आवेगों का रूपान्तरण नहीं कर पाता। आदिम आवेगों का दमन करके वह उनको दीर्घसूत्री नहीं बना पाता जिससे तर्क द्वारा उन आवेगों को वह अन्त में हितकर परिणाम की दिशा में निर्देशित कर सके।'

इस विषय सम्वन्धी साहित्य में ऐसे मनोविकृत व्यक्तियों (psychopathic personalities) के उदाहरण, उनकी जीवन कथायें प्रचुर संख्या में उल्लिखित हैं। यहाँ केवल उदाहरण रूप दो का वर्णन किया जाता है।

१. वालक र को एक मध्यम श्रेणी के परिवार ने २० मास की वय पर गोद ले लिया। उसके माता-पिता का कुछ पता नहीं था। वे कौन थे, मालूम नहीं हो सका। शिशु सुन्दर था किन्तु अत्यन्त दीन अवस्था में था, कठिनाई से सरक पाता था। घुटनों के वल भी नहीं चल सकता था। दम्पति ल—ने विशेषकर शिशु पर तरस खाकर उसको ले लिया था। उनके ३½ वर्ष की एक पुत्री थी। किन्तु उनकी दूसरी एक ६ मास की पुत्री का देहान्त हाल ही में हो गया था जिससे वे दुखी थे। किन्तु अन्य सब भाँति से परिवार सम्पन्न, सुशिक्षित, सदाचारी, सम्भ्रान्त और सुखी था। समाज में उनका सन्मान था।

वालक र''' देखने में वड़ा आकर्षक था। प्रत्येक व्यक्ति जो उसे देखता वह वालक को गोद में लेकर खिलाना चाहता था। किन्तु र बड़ा होने पर अत्यन्त उद्धत प्रकृति का निकला। जव चलने लगा तो वस्तुओं को तोड़ना, अपने स्थान से उठाकर फेंकना, तस्वीरों, कमरों को सजाने की वस्तुओं को नष्ट करना, प्रत्येक समय वह ऐसे कर्मों में लगा रहता। वह एक अतिसक्रिय (hyperkinetic) वालक था। इस समय तक दम्पति के एक और संतान हो गई थी। वालक र''' वड़ी वहिन और छोटे भाई के लिये हौवा था। वे दोनों सदा उससे भयभीत रहते। उसको सुधारने के दम्पति के सब प्रयत्न विफल रहे। सारे घर की शांति भंग हो गई। श्रीमती की मानसिक अवसाद (nervous breakdown) की सी दशा हो गई। पिता ने फिर भी धैर्य रखा और उसको सुधारने का प्रयत्न करते रहे।

किन्तु सफल होने का कोई लक्षण न दीखने पर उन्होंने बालक को अस्पताल में भरती कराया जहाँ उसकी ७ वें वर्ष की वय की एक घटना उल्लेख योग्य है। अस्पताल में वह सुन्दर होने के कारण नर्सों तथा अन्य कर्मचारियों को बड़ा प्रिय हो गया था। किन्तु एक दिन एक नर्स ने रिपोर्ट की कि बालक र अपनी शैया से अकस्मात् एक बालिका की शैया पर चढ़ गया जिसका दो दिन पहले ही हृदय का आपरेशन हुआ था। बालिका के हाथ में जो खिलौना था उसको उसने छीन लिया और कुछ समय पश्चात् उसकी शैया से उतर गया और खिलौना फर्श पर पटक दिया। फिर दूसरे रोगी से उसने वैसा ही व्यवहार किया।

वालक र'''ज्यों-ज्यों बढ़ता गया उसकी क्रूरता और विरोधभाव या शत्रुता का भाव (hostility) और बढ़ता गया। परिवार उसके कारण नष्ट हो गया। माता दोनों सन्तानों को लेकर चली गई। पिता ने फिर भी अपना प्रयत्न जारी रखा। किन्तु अन्त में हारकर अपसमायोजित वालकों (maladjusted children) के स्कूल में उसको भरती कराना पड़ा। वहाँ उसका अपराधी जीवन प्रारंभ हो गया। जव तव स्कूल से भाग जाना, चुराना, अन्य बालकों से क्रूरता का व्यवहार, उनको हानि पहुँचाना, जन्तुओं को सताना, शिक्षकों से झगड़ा करना तथा सब प्रकार के नियम-विरोधी आचरण करना उसके स्वभाव अथवा दैनिक जीवन का अंश बन गया। अन्त में अधिकारियों को उसको नगर से दूर देहात में एक निवास गृह में रखना पड़ा जहाँ उसको कृषि का काम सिखाया जा सके। अब उसके भविष्य के विचार का प्रश्न था जिससे उसको जीवनोपार्जन के योग्य वनाया जा सके। इस समय उसकी १६ वर्ष की अवस्था थी। इस समय से उसका जीवन शान्त था। वहाँ उससे स्पर्धा के लिये कोई नहीं था और न वहाँ क्षोभ उत्पन्न करने वाली कोई दशायें थीं। इस समय खेती का काम उसको रुचिकर प्रतीत होता था। किन्तु उसका भविष्य अत्यन्त अनिश्चित था। कोई स्थान या संस्था नहीं थी जो उसकी देख-रेख के लिए जीवन भर का भार ले सके।

२. वालिका प्रे''''''एक सामान्य श्रमिक परिवार की कन्या थी। माता-पिता साधारण अवस्था के, किन्तु सुखी थे। यद्यपि धन की प्रचुरता नहीं थी तो भी कोई अभाव नहीं था। वालिका का स्कूल का जीवन भी संतोषजनक था। शिक्षा ग्रहण में उसमें कोई त्रुटि नहीं पाई गई।

स्कूल के पश्चात जब उसने घरों का काम करना आरंभ किया तो प्रत्येक घर वालों ने जिन-जिन के घरों में उसने काम किया उन सबों ने बड़ा असन्तोष प्रकट किया। उसके जब-तब काम से अनुपस्थित होने, चोरी करने, झूठ बोलने, दुराचार आदि की शिकायतें आती रहीं। दो बार वह घरों से भाग कुछ दूरी पर स्थित एक बड़े नगर में पहुँच गई जहाँ से पुलिस द्वारा सूचना पाकर उसका पिता उसको घर वापस लाया।

घर से वह बार-बार भाग जाती थी। कई बार कई दिन तक वापस नहीं लौटी।

तब उसको एक प्रशिक्षण गृह (training home) में रखा गया जहाँ से वह कुछ दिन के पश्चात् वहाँ की कर्मचारिणियों के कुछ वस्त्र और आभूषण लेकर भाग गई। तीन सप्ताह तक एक बड़े नगर में मारी-मारी

फिरती रही और तब एक रात्रि को शराब में मत्त घर को लौटी। एक ही सप्ताह के पश्चात् कुछ वस्त्र और रूपया लेकर वह फिर भाग गई। तीन सप्ताह के पश्चात् फिर से पकड़ कर वह घर लाई गई। इस समय वह यौन रोग (सुजाक, गोन्नो मेह) से ग्रस्त थी। पुलिस ने उसको ऐसे अस्पताल में रख दिया जहाँ से रोगी बाहर नहीं जा सकते थे और पुलिस ने उस पर व्यभिचार का दोषारोपण किया।

अस्पताल में निरीक्षक डाक्टरों ने रिपोर्ट दी कि उसमें ऐसी कोई त्रुटि नहीं थी कि उस पर मानस त्रुटि विधान (mental deficiency act) लागू हो सके। किन्तु उसके इतिहास के अनुसार, उसको 'नैतिक दोषी' (moral defective) माना जा सकता था।

उपर्युक्त दोनों व्यक्तियों के आचरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि उनकी मनोविकृत दशा का कारण बाल या आदिम सहज प्रवृत्तियों की रूपान्तरण अवस्था विकृत हो गई थी; रूपान्तरण उचित प्रकार से नहीं हो पाया और प्रारंभिक संवेगात्मक सम्बन्ध रचना (infantile emotional relationship) उपयुक्त प्रकार से न हो पाई जिससे उसमें संतोष, अथवा सुख व आनन्द की अनुभूति के भाव ही न उत्पन्न हो पाये। इसी कारण वे सहज प्रवृत्ति जन्य अन्तर्नोदों (instinctual drives) के नियंत्रण या रूपान्तरण को सहन नहीं कर सकते थे। बालिका प्रे का व्यवहारात्मक दोषयुक्त जीवन भी स्कूल जीवन के पश्चात् ही प्रारंभ हुआ।

मानसमन्दता और मनोविकृति (mental retardation and psychopathy) दोनों के संयोग से व्यक्ति के आचरण, उसके कृत्य और भी विषम हो जाते हैं। मानसमन्दता के कारण वे उपयुक्त संबंधरचना स्थापित करने में पहले ही असमर्थ होते हैं। तिसपर मनोविकृति उनको आदिम सहज प्रकृतिजन्य अन्तर्नोदों का रूपान्तरण करने या शमन करने की शक्ति से भी वंचित कर देती है। ऐसे व्यक्ति गुरुतर अपराध कर डालते हैं। जो आवेग उनके मन में एक बार उत्पन्न हो गया उसको वे दबा नहीं पाते, उसी के अनुरूप क्रिया कर डालते हैं। मनोविकृत के व्यक्तित्व ही में अपराध की भावना छिपी रहती है। यह जान लेना असंभव है कि कब वह प्रत्यक्ष रूप ले ले। मनोविकृत प्रेम, आज्ञापालन, माता-पिता को प्रसन्न करना, उनसे अनुमोदन या प्रशंसा प्राप्त करना तथा अन्य ऐसे ही उच्च भावों से सर्वथा वंचित होते हैं। साथ ही मानसमन्दता उपस्थित होने पर उनकी अपने कृत्यों के परिणाम को समझने की शक्ति की हीनता होने से उनमें

हिंसा, विद्वेष, विरोध, अराजकता आदि के भाव उदय हो जाते हैं। अनेक ऐसे अवसामान्य (subnormal) व्यक्ति यह समझते हैं कि उनके कृत्य अवैधानिक हैं, वे जो करने जा रहे हैं उसका उनके परिवार वाले या समाज अनुमोदन न करेगा, वे अनुचित कर रहे हैं। किन्तु उनसे उनको क्या हानि होगी, किस-किस को उससे आपद ग्रस्त होना पड़ेगा, विधान के कर्मचारी, अथवा पुलिस उनके विरुद्ध क्या कार्यवाही करेगी। इन सब परिणामों का विचार करने में वे असमर्थ होते हैं और इस कारण बहुधा विधान के शिकार बनते हैं। किन्तु उससे उनको कोई लाभ नहीं होता, उनमें सुधार की संभावना नहीं होती। उनका सारा जीवन अपराधों की एक सतत शृंखला होती है।

सम्बन्ध रचना तथा व्यवहारात्मक विकारों के कारण

इस परिच्छेद के आरम्भ ही में कह आये हैं कि विकारयुक्त व्यक्तियों की बहुत लम्बी शृङ्खला है जिसके एक छोर पर analogous imbecile या अतिजड़बुद्धि है जो अपने चारो क्या हो रहा है इससे अनभिज्ञ है, जिसको तनिक भी बोध करने की प्रवृत्ति ही नहीं है कि उसके लिये क्या हितकर है या किससे उसको हानि पहुँच सकती है। जो अपनी शारीरिक आवश्यकताओं तक को नहीं समझ पाता। दूसरे सिरे पर वे हैं जिनको केवल झक्कड़ (eccentric) कहा जा सकता है। उनके दृष्टिकोण या कर्मों में सामान्य सीधे पथ से कुछ विषमता है। इन दोनों सीमाओं के बीच में विविधताओं या विचित्रताओं की वृहद संख्या है। प्रत्येक विकारयुक्त व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से भिन्न है। प्रत्येक के लक्षण दूसरे से भिन्न है। प्रत्येक अपना ही विशिष्ट स्वरूप है। ऐसे बहुत कम व्यक्ति हैं जिनके लक्षणों में समानता हो।

दूसरी कठिनाई यह है कि समस्त जनता की गणना करते हुए उनके अनुपात में ऐसे विकारयुक्त व्यक्तियों की संख्या अत्यल्प होती है जिसके कारण उनकी ओर ध्यान आकर्षित नहीं होता। अधिकारियों को उनका पता भी नहीं चलता। जब तक उनके अनुसंधान के लिये विशेष कार्यकर्ता नहीं नियुक्त किये जाते तब तक ऐसे व्यक्ति अज्ञात प्रकार से समाज में समाये रहते हैं। जिनमें बाल्यकाल ही से अथवा शैशव अवस्था से ऐसे विकार प्रकट होने लगते हैं, उनके माता-पिता, यदि शिक्षित समुदाय के होते हैं तो वे बालक को चिकित्सक को दिखा कर उसके परामर्श के अनुसार कार्यवाही करते हैं।

इन दशाओं को पहचानना भी कठिन होता है। प्रत्येक चिकित्सक इन दशाओं से अपरिचित होता है। इस कारण वे छिपे रह जाते हैं और उनका अध्ययन नहीं हो पाता। इनका पता लगाने के लिये विशेषतया शिक्षित कर्मचारियों की आवश्यकता है जिसके लिये व्यय का प्रश्न उपस्थित हो जाता है।

इन सब कारणों से और विशेषकर लक्षणों की उत्पत्ति के हेतु में साम्यता के नितान्त अभाव से इन विकारों के कारणों, उनके उत्पत्ति-हेतुओं के यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने में विद्वान असमर्थ रहे हैं। और न लक्षणों का वर्गीकरण कर सके हैं।

फिर भी विद्वानों ने अपने-अपने मत प्रकट किये हैं। ये मत दो प्रकार के हैं। एक के अनुसार विकारों को उत्पन्न करने वाले कारण **देहजनित** (somatogenic) हैं और दूसरों के अनुसार **मनो-समाज जनित** (psycho-social) अथवा मनो-वातावरण (psycho-environmental) सम्बन्धी कारणों से उत्पन्न होते हैं।

देहजनित कारण (somatogenic factors)—जो स्वयं व्यक्ति के शरीर से उत्पन्न हों। ये तीन हैं—जीनीय (genetic), परिवर्धन सम्बन्धी असंगति (developmental anomaly) जिससे क्रिया विकृति (दुष्कृति) उत्पन्न हो जाती है, और मस्तिष्क की क्षति।

एक विद्वान, जिसने बालकों के एक विख्यात अस्पताल में भरती बालकों की एक बृहद संख्या पर इस सम्बन्ध में अनुसन्धान किया था, उसके मतानुसार ये अभिविन्यास[१] विकार वास्तव में प्रमस्तिष्क विकृति है जिसका विशेष लक्षण शारीरिक बृद्धि, पोषण (nutrition), प्रेरक (motor), सांवेदनिक (sensory), बौद्धिक (intellectual) और संवेगात्मक विकास की अपूर्णता है। यह आवश्यक नहीं है कि ये सब गुण अपरिवर्धित रहे। इनमें से अधिक, सब अथवा एक गुण अविकसित या अर्ध विकसित अवस्था में रह जाय। यह विद्वान इसका कारण जीनीय (genetic) मानते हैं। किन्तु साथ ही उनका कहना है कि जीनजनित त्रुटि की वृद्धि, प्रस्फुटन अथवा पूर्णतया प्रकट होने के लिए किसी मनोजनित संकट (psychological crisis) आवश्यक है। वह 'प्रसव' या शिशु के 'जन्म' ही को इस प्रकार का संकट मानते हैं।

---

१. चारों ओर के वातावरण के सम्बन्ध में काल और दिक के अनुसार अपनी स्थिति समझना।

अनेक अन्वेषणकर्ताओं ने इस मत के सम्बन्ध में अपनी-अपनी सम्मतियाँ प्रकट की हैं। कुछ इस मत के समर्थक हैं, कुछ उसका विरोध करते हैं। समर्थकों ने जो प्रमाण दिये हैं तथा स्वयं मत के प्रवर्तक द्वारा उपस्थित प्रमाण भी अभी तक सर्वमान्य नहीं हैं। इस कारण यह मत भी अनिश्चित अवस्था में है। तो भी इतना सब ही स्वीकार करते हैं कि आनुवंशिक प्रवृत्ति भी एक कारण हो सकती है।

विद्वानों का दूसरा समुदाय **मनो-सामाजिक** (psychosocial) कारणों को मानने वालों का है। वे इन विकारों को वातावरण जनित (environmental) ही मानते हैं। इनमें भी कुछ विद्वान वातावरण के कारण **अहम् की रचना** (ego-formation) की अपूर्णता या अहम् की दुर्बलता को इन विकारों की जननी समझते हैं। अन्य सीधे वातावरण के दोष ही से विकारों का उत्पन्न होना मानने वाले हैं।

कुछ विद्वान आनुवंशिक प्रभाव और वातावरण दोनों ही को विकारों का कारण मानते हैं। उनका कथन है कि जीनिक व्यतिक्रम के साथ वातावरण-त्रुटि मिलकर इन विकारों को उत्पन्न करती है। केवल एक ही कारण नहीं किन्तु जीनिक तथा वातावरण जनित दोनों दशाओं के संयोग से विकारों का प्रादुर्भाव होता है। वातावरण में माता का अत्यन्त महत्व का स्थान है। उसके प्रेम का अभाव बालक की त्रुटि के लिये विशेष उत्तरदायी हो सकता है।

आठवाँ परिच्छेद

मानसमन्दों की चिकित्सा और पुनःस्थापन

किसी ऐसी ओषधि का अभी तक आविष्कार नहीं हुआ है जिससे मानसमन्दता की चिकित्सा में सफलता प्राप्त हो सके। अभी तक यही सामान्य विश्वास रहा है कि मादसमन्दता ग्रस्त व्यक्तियों-शिशुओं तथा वयस्कों में किसी प्रकार की मानसिक या बुद्धि के स्तर का उन्नत करना सम्भव नहीं है। डॉक्टर कौल ने मानसमन्दता के प्रमाणों में से मानसमन्दता की अपरिवर्तनीयता को एक विशेष प्रमाण माना है। उनका विश्वास था कि यदि किसी प्रकार से भी एक मानसमन्द की दशा में सुधार हो जाता है तो वह मानसमन्द नहीं है और मानसमन्दता का निदान करना ही भूल थी। उनकी सम्मति के अनुसार मानसमन्द के बुद्धि स्तर में या उसके व्यवहार में किसी प्रकार का सुधार सम्भव नहीं था।

किन्तु गत ५० वर्षों के अनुसन्धानों और प्रयोगों के पश्चात यह मत पूर्णतया बदल गया है। आधुनिक नवीन आविष्कृत उपायों द्वारा मानसमन्दों को समझने की शक्ति तथा सामाजिक व्यवहार को उन्नत करना न केवल संभावना के भीतर प्रमाणित हो चुका है, किन्तु वही चिकित्सा या सुधार का ध्येय हो गया है और अनेक मानसमन्द सामाजिक जीवन व्यतीत करने योग्य हो गये हैं। वे चाहे समाज के उपयोगी अंग न बन सकें किन्तु समाज पर किसी प्रकार भार नहीं रहे हैं। यह भी समाज सेवा है। वे अपना जीवनोपार्जन करने योग्य हो जायँ, चाहे वे अधिकारियों के निरीक्षण में ही कर सकें, तो भी वह बहुत बड़ी समाजोन्नति का विषय है। उसके द्वारा एक व्यक्ति जिसको समाज ने एक गलित अंग मान लिया था फिर से समाज में अपना स्थान प्राप्त करता है और आत्म सम्मान से पुनः गौरवान्वित होता है।

हाँ, अतिमानसमन्दों के सम्बन्ध में अभी भी सन्देह है। अभी तक यही प्रतीत होता है कि उनको जीवन आश्रित जीवन ही व्यतीत करना होगा और उनकी देखरेख का उत्तरदायित्व सरकार और समाज ही को उठाना होगा। किन्तु उनके व्यवहार में कुछ परिवर्तन तो किया ही जा सकता है।

चिकित्सा के साधन या उपाय

वास्तव में यहाँ चिकित्सा शब्द उपयुक्त नहीं है। चिकित्सा का अर्थ लिया जाता है कि रोगी को औषधि दी गई और कुछ दिन तक सेवा सुश्रूषा की गई जिससे रोगी के कष्ट का अन्त हो गया उसको जो रोग था वह जाता रहा और व्यक्ति आरोग्य लाभ करके फिर पूववत् अपने दैनिक कृत्य करने योग्य हो गया। किन्तु मानसमन्दता को पूर्णतया कभी नष्ट नहीं किया जा सकता, उसमें कुछ सुधार करने के लिये भी अनेक प्रकार के शिक्षण और प्रशिक्षण के साधनों को बहुत समय तक प्रयोग करना पड़ता है। किसी ओषधि की कुछ मात्राओं से मानसमन्दता का तनिक भी शमन नहीं हो सकता। अतएव चिकित्सा के स्थान में पुनःस्थापन (rehabilitation) शव्द अधिक सार्थक है।

मानसमन्द का सुधार—गत पृष्ठों में कहा जा चुका है कि प्रत्येक मानसमन्द एक अपना ही प्ररूप (type) होता है जो दूसरों से भिन्न होता है। उसकी त्रुटियाँ अन्य की त्रुटियों से पृथक होती हैं। एक में गति या प्रेरक (motor) त्रुटि है तो दूसरे में समझने की या वाक् (speech) त्रुटि है। तीसरे में सामाजिक त्रुटि है, वह अपने साथियों से सहयोग नहीं कर सकता। चौथा अपने वातावरण, माता-पिता, परिवार वालों से उदासीन है, विरोधभाव से ओत-प्रोत है। एक में शारीरिक विरूपांगता है तो दूसरा शारीरिक अपसामान्यता से रहित है।

अतएव यह आवश्यक है कि व्यक्ति—शिशु या वयस्क—की पूर्णतया शारीरिक, मानसिक तथा उसके वातावरण की जांच करके उसकी त्रुटि का निर्धारण किया जाय और उसकी आवश्यकताओं का पूर्ण बोध कर लिया जाय। तभी उसके लिये उपयुक्त सुधारक उपायों का विचार सम्भव है।

यह पाया गया है कि सौ में से पचहत्तर मानसमन्द स्वास्थ्य संबंधी विकारों से ग्रस्त होते हैं अथवा होते रहते हैं। श्वास सम्वन्धी रोग उनको सहज में दवा लेते हैं। अन्य संक्रामक रोग भी उनको होते रहते हैं। शारीरिक रचनात्मक असंगतियाँ अनेक वार पाई जाती हैं। इस कारण चिकित्सक को उनकी ओर विशेष सतर्क रहना आवश्यक होता है।

इस कारण उनकी परीक्षा करते समय परीक्षक को ध्यान पूर्वक यह खोजने के लिये सतर्क रहना चाहिये कि व्यक्ति में कोई ऐसी शारीरिक हीनता या अपूर्णता तो उपस्थित नहीं है जो मानसमन्दता की जननी हो।

परीक्षक को सारे अंगों की क्रियाक्षमता का भी अनुसंधान करना उचित है जिसके लिये प्रयोगशालाओं, एक्सरे आदि की आवश्यकता हो सकती है। शारीरिक, मनोवैज्ञानिक तथा मनोविकारवैज्ञानिक (psychiatric) परीक्षाओं का छठे परिच्छेद में वर्णन किया जा चुका है। इन सब का तात्पर्य मानसमन्दता, उसकी सीमा, उत्पत्ति के कारण तथा सांप्रत वातावरण का प्रभाव—इन सब विषयों का निर्णय करना है। जितना शीघ्र हो सके यह निर्णय करना उचित है जिससे सुधार अथवा पुनः स्थापन के उपायों को तत्काल प्रारंभ किया जा सके।

मानसमन्दता का प्रतिषेध (prevention)

मानसमन्दता के प्रश्न को हल करने में प्रथम चरण उसका प्रतिषेध है। मानसमन्दता के कारणों का एक बार पुनः अवलोकन कर लेने से यह प्रत्यक्ष हो जायगा। प्रसवपूर्व कालिक, प्रसव कालिक तथा प्रसवोत्तर कालिक तीन प्रकार के कारणों का जो वर्णन किया जा चुका है, वे प्रायः सभी ऐसे हैं जिनका प्रतिषेध संभव है। कुछ ही ऐसे हैं जिनका मनुष्य द्वारा नियन्त्रण संभव नहीं मालूम होता, जैसे आनुवंशिकता। किन्तु अब तक वैज्ञानिक प्रविधियाँ (techniques) इतनी प्रगति कर चुकी हैं कि गर्भ के गुणदोष अथवा विकारों का पहले से पता लग सकता है। उल्वोदक (liquor amnii) की अल्पमात्रा को गर्भ के थैले से उल्वोदक वेधन (amniocentesis) द्वारा निकाल कर उसकी परीक्षा से यह ज्ञान प्राप्त हो सकता है और तब उचित कार्यवाही की जा सकती है।

१. प्रसवपूर्व निदानशाला या क्लिनिक (ante-natal clinic)

ये अस्पताल के बहिरंग विभाग (outpatients) के समान भावी माताओं की परीक्षा करके उनको उचित परामर्श देने वाली संस्थायें होती हैं। प्रायः बड़े अस्पतालों में ये उनके बहिरंग विभाग की ही विशेष शाखायें होती हैं और अस्पताल ही के प्रबंध के अन्तर्गत इनका संचालन होता है। यहाँ स्त्री रोग तथा प्रसव विशेषज्ञ डॉक्टर तथा अन्य कर्मचारी नियुक्त होते हैं जिनका काम गर्भवती स्त्रियों की परीक्षा करना होता है। रक्तभार (blood pressure) नापना, मूत्र परीक्षा, यदि आवश्यक हो तो रक्त परीक्षा, मल परीक्षा, पूर्ण शारीरिक परीक्षा करके गर्भवती के स्वास्थ्य की पूर्ण रक्षा करना इन विभागों या संस्थाओं का मुख्य कार्य होता है। भावी माताओं को शिक्षित करना कि वे किस प्रकार संक्रामक रोगों से बचें, विशेषकर रुबैला या जर्मन मीजिल्स (rubella or german measles),

से बचें, किस प्रकार का आहार उनके लिये आवश्यक है जिससे उनका स्वास्थ्य उन्नत हो तथा गर्भ (foetus) को उपयुक्त पोषण प्राप्त हो और उसका उचित परिवर्धन हो, माता को विश्राम, व्यायाम, उपयुक्त निद्रा, मानसिक उद्वेगों से मुक्त रहना, इन सब का परामर्श देना, यह भी संस्था के कार्यक्रम का एक अंग है। माता को सिफिलिस रोग तो नहीं हुआ था, यदि हुआ था तो पेंसिलीन द्वारा उसकी चिकित्सा हुई या नहीं, तथा इस समय गर्भवती रोग के प्रभाव से पूर्णमुक्त है या नहीं, यह जानने के लिये रक्त परीक्षा आवश्यक है। गर्भवती का रीसस (rhesus) घटक जानना भी आवश्यक है, ऋण है या धन। यदि ऋण है तो पिता के रीसस घटक का ज्ञान करना भी अनिवार्य है जिससे गर्भ के रक्त की दशा का अनुमान किया जा सके। जैसा कारणों में बताया जा चुका है माता-पिता के रक्त की विपरीतता गर्भ के लिये घातक हो सकती है।

गर्भ की स्थिति और परिवर्धन पर विशेष ध्यान देना उचित है। गर्भकाल के अंतिम तीन महीनों में यह और भी आवश्यक है, जिससे कष्ट प्रसव (difficult labour) का अनुमान किया जा सके। ऐसी संभावना होने पर गर्भवती को प्रसव के लिये अस्पताल के प्रसव विभाग में भेजना चाहिये। यदि स्वयं संस्था किसी अस्पताल का विभाग नहीं है तो संस्था ही को किसी बड़े अस्पताल में गर्भवती के प्रसव का प्रबन्ध करना चाहिये जहाँ प्रसवविशेषज्ञ की सहायता उपलब्ध हो तथा आपरेशन करने की सुविधा प्राप्त हो।

भावी माता को विकिरण के प्रभाव (radiation) से भी बचाना चाहिये। इस लिये जहाँ तक हो सके एक्सरे चित्र न लेना ही उत्तम है। अनिवार्य होने पर ही एक्सरे चित्र लिया जाय।

गर्भवती का स्वास्थ्य—निदानशाला का काम यहीं समाप्त नहीं हो जाता। गर्भवती के स्वास्थ्य की रक्षा के अतिरिक्त उसको उन्नत करना, माता को हृष्ट-पुष्ट बनाना भी वहाँ के कर्मचारियों का उत्तरदायित्व है। यह पाया गया है कि एक सुगठित पुष्ट शरीर वाली गर्भवती कितने ही ऐसे संक्रमणों का अपनी शारीरिक अन्तःशक्ति द्वारा निवारण कर सकती है जिसको कृश, यद्यपि रोग रहित शरीर वाली भावी माता नहीं कर पाती। कुछ संक्रमण (infections) माता में लक्षण उत्पन्न किये बिना गर्भ के अपरा द्वारा अवरोध (placental barrier) को पार कर लेते हैं और गर्भ को हानि पहुँचाते हैं जिससे भ्रूण (embryo) में विरूपताएँ (malformations) उत्पन्न हो जाती हैं और उसकी रचना विकृत हो

सकती है जिसका परिणाम मानसमन्दता होती है। शक्तिहीन माताएँ ऐसे संक्रमणों के निवारण में असमर्थ रहती हैं, किन्तु ओजस्वी प्रबल माताएं उनका सामना करने में समर्थ होती हैं। इस कारण माता की स्वास्थ्य वृद्धि, पर्याप्त पोषण द्वारा उसकी पुष्टि मानसमन्दता के प्रतिषेध का विशेष उपाय माना गया है। यद्यपि वाइरस संक्रमण को पहँचानने, उसको निष्क्रिय करने और क्षमीकरण (immunization) की प्रविधियों द्वारा ऐसे विषों के निराकरण की सफलता में सन्देह नहीं रहा है तो भी स्वयं शरीर ही का इस शक्ति से सम्पन्न होना अत्युत्तम है। आधुनिक खोजों द्वारा रोमान्तिका या खसरा (measles), इनफ्लुएंजा (influenza) और कनफेड़ (mumps) जिनसे गर्भ को बहुत हानि पहुँच सकती है, उनका अब नियंत्रण सहज हो गया है।

इसी प्रकार भावी माता को मानसिक उद्वेग तथा द्वन्दों से बचाना आवश्यक है। विशेष कर जो उद्वेग दीर्घकालीन और तीव्र प्रकार के होते हैं उनसे गर्भ को हानि पहुँचती है और वह विकृत हो सकता है। यद्यपि खोजों द्वारा इसके प्रमाण नहीं मिले हैं जिनसे यह कथन सिद्ध किया जा सके। तो भी पशुओं तथा छोटे जन्तुओं पर किये गये प्रयोगों द्वारा पाया गया है कि मानसिक उद्वेगों द्वारा शरीर में होने वाली रासायनिक क्रियाओं का सन्तुलन (chemical balance) अस्तव्यस्त हो जाता है जिससे हारमोनों की उत्पत्ति तथा क्रियाओं पर भी प्रभाव होता है और गर्भ में अनेक बार विरूपतायें या विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इससे मनुष्य से भी ऐसे ही परिणामों के होने की आशंका की जाती है। सामान्य जनता में यह विश्वास भी है कि गर्भकाल में माता की मानसिक दशा जैसी होती है शिशु का मन वैसा ही होता है। किन्तु वैज्ञानिक अन्वेषकों को इसके प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सके हैं।

जो अन्य प्रसवपूर्व कालिक कारण बताये गये हैं उपर्युक्त निदान शालायें उनके संबंध में उचित शिक्षा देती हैं।

प्रसव अभिघात—प्रसव कालिक कारणों में कष्ट प्रसव में शिशु को आघात पहुँचने का बहुत भय रहता है। साधारणतया प्रसवों का अन्त संतोषजनक और सफल होता है। किन्तु कुछ कष्ट प्रसव भी हो जाते हैं जिनका कारण दूसरे परिच्छेद में बताया जा चुका है। कई बार बाहर से कोई लक्षण नहीं दीखता, माता के प्रसव अंगों में भी कोई क्षति नहीं दीखती। किन्तु गर्भ को प्रसवजन्य क्लेश (distress) होता है जो कई बार मानसमन्दता का कारण होता है। विशेष कर जो प्रलम्बित प्रसव होते हैं, जिनमें

बहुत समय लग जाता है, उनमें गर्भ को दारुण क्लेश (deep distress) की संभावना रहती है जिससे शिशु मानसमन्द हो सकता है। यह न भूलना चाहिये कि प्रसव क्रिया गर्भ के लिये एक संकट काल होता है। वह अपनी पूर्व सुरक्षित स्थिति से ढकेला जाकर एक संकीर्ण पथ द्वारा अपना मार्ग बनाता जाता है। एक वल (force) उसको पीछे से ढकेलता है और पथ की भित्तियाँ उसके शिर को दबाकर आगे बढ़ने से रोकती हैं। इन दो विरोधी वलों के बीच उसका सम्पीडन होता है जिसमें कितनी ही बार वह अपना जीवन खो देता है। अपक्वता अथवा पूर्वकालिकता (prematurity) इस भय को बहुत बढ़ा देती है। किन्तु साधारणतया नौ मास के काल में प्रकृति उसको ऐसी परिस्थिति से और बाहर आने पर नये वातावरण से संग्राम करने की सामर्थ्य से सम्पन्न कर देती है जिससे वह संकट को सहन करने के योग्य होता है।

इस संकट से बचाने के लिये और नवजात शिशु की रक्षा के लिये विशेषज्ञों की सहायता की आवश्यकता है जो उसको बड़े अस्पतालों में प्राप्त होती है।

आजकल यातायात की उग्रता, द्रुतगामी वाहनों की प्रचुरता और समय बचाने की स्पर्धा इतनी बढ़ी है कि नित्यप्रति संघातिक दुर्घटनाओं द्वारा जीवन हानि की सूचनाओं से समाचार पत्र भरे रहते हैं। पाश्चात्य देशों में सबसे अधिक यातायात मोटरकारों द्वारा होता है जो ७०, ८० या इससे भी अधिक प्रतिघंटा की गति से चलाई जाती हैं। इनमें अधिकतर दुर्घटनाओं में यात्रियों में से अधिक की मृत्यु हो जाती है। कहा जाता है कि ये दुर्घटनायें बाल मृत्यु का सबसे बड़ा कारण हैं। जो बच जाते हैं उनको दीर्घ काल तक अस्पताल सेवन करना होता है। कुछ जीवन भर के लिये अपंगु अथवा शैयारूढ़ हो जाते हैं। ये दुर्घटनायें मानसमन्दता का विशेष कारण होती हैं। जो बालक बच जाते हैं वे प्रायः शिरोघात (head injuries) के शिकार होते हैं जिससे मस्तिष्क क्षत होना स्वाभाविक है जिसका परिणाम मानस-मन्दता होती है। शिर के आघातों का मानसमन्दता के कारणों में विचार किया गया है। ऐसे मानसमन्दों का सुधार आयोजन उन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित है जिनके अनुसार अन्य मानसमन्दों का पुनःस्थापन किया जाता है।

(२) शिशु कल्याण केन्द्र (Infant welfare centres)

ये केन्द्र शिशुओं की देखभाल के लिये स्थापित किये जाते हैं। अनेक बड़े अस्पतालों में ये बहिरंग (outdoor) की भाँति काम करते हैं जहाँ

विशेषकर शिशुओं ही की परीक्षा और उनकी रक्षा का निदान किया जाता है। ऐसे अस्पतालों में प्रसवपूर्व केन्द्र और शिशुकल्याण केन्द्र दोनों एक ही अस्पताल के भिन्न-भिन्न वहिरंग विभाग होते हैं। ऐसे अस्पतालों में प्रसव का अथवा आवश्यक होने पर आपरेशन आदि का भी प्रबंध होता है। इस प्रकार गर्भवती प्रथम प्रसवपूर्व केन्द्र के निरीक्षण में रहती है। प्रसव के समय उसी अस्पताल में प्रसव सम्पूर्ण करा दिया जाता है। तत्पश्चात् शिशु कल्याण केन्द्र शिशु की देख-रेख करता है।

ऐसा प्रबंध केवल बड़े-बड़े अस्पतालों में होता है। जो प्रायः शिक्षा संस्थाओं के विभाग होते हैं जहाँ चिकित्सा विज्ञान के विद्यार्थियों को क्रियात्मक शिक्षा दी जाती है। अन्यतः वे स्वतन्त्र संस्थायें होती हैं जिनका प्रबंध और शासन नगरों की म्यूनिसिपैल्टियों के स्वास्थ्यविभाग द्वारा होता है।

इन केन्द्रों का विशेष काम शिशु के स्वास्थ्य की रक्षा होता है। परीक्षा करके यदि शिशु में किसी प्रकार की अवसामान्यता होती है, तो उनका काम है कि वे उसका पता लगायें और शिशु की माता को सूचित करें तथा उचित परामर्श दें। यदि शिशु की शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की उपयुक्त वृद्धि नहीं हो रही है तो उस अवृद्धि के कारण का अनुसंधान केन्द्र का विषय है। परिवर्धन स्केल (development scale) द्वारा वृद्धि ह्रास को वहाँ के कर्मचारियों को मालूम करना चाहिये और तब रक्त परीक्षा; मूत्र परीक्षा, एक्सरे चित्रण आदि द्वारा कारण का निश्चय करना चाहिये। शिशु को फिनाइलकीटोनमेह (phenylketonuria) तो नहीं है अथवा वह किसी अन्य चयापचय विकार (metabolic disorder) से तो नहीं ग्रस्त है। उसके शिर की परिधि तथा अन्य मापों (measurements) द्वारा अतिवृद्धि अर्थात् जलशीर्ष (hydrocephalus) का निश्चय करना चाहिये। शिशु के दृष्टि, श्रवण तथा वाक् (speech) संवन्धी विकारों की ओर भी ध्यान देना उचित है। शिशु के अंगों तथा पेशियों की परीक्षा द्वारा संस्तम्भता (spasticity) अथवा अंगघात तथा अन्य तंत्रिका सम्बन्धी विकारों का यथासंभव बोध करना उचित है। आवश्यक होने पर शिशु अथवा बालक को उसके विकार के अनुसार मनोविकार-विज्ञानी, नेत्रविशेषज्ञ, श्रोत्र अथवा वाक्विकार चिकित्सकों के पास परामर्श तथा चिकित्सा के लिये भेजा जा सकता है।

शिशु तथा बाल कल्याण केन्द्रों में शिशु के प्रथम छह मास में उसका प्रत्येक १५वें दिन निरीक्षण किया जाता है। माता को प्रत्येक पन्द्रहवें दिन

शिशु को केन्द्र में लाना होता है। छह मास के पश्चात् महीने में केवल एक ही बार निरीक्षण करना पर्याप्त होता है। यदि बालक की वृद्धि सन्तोषजनक हो रही है, उसमें विकार के कोई लक्षण नहीं हैं और अब तक किसी प्रकार की अपसामान्यता के चिह्न नहीं मिले हैं तो उनकी आगे भी अधिक संभावना नहीं होती है। तो भी माता को आदेश रहता है कि शिशु या बालक में तनिक भी विकारग्रस्त होने के चिह्न दिखाई देते ही वह बालक को तत्काल केन्द्र में ले आवे। कुछ ऐसे विकार हैं जो वय अधिक होने पर प्रकट होते हैं।

इन केन्द्रों में ५वर्ष के वय तक बालकों का निरीक्षण किया जाता है।

संसार के सभी देशों में मानसमन्दों की प्रचुर संख्या पाई जाती जिनके जीवन निर्वाह के लिये वहाँ की सरकारों और समाजों को कुछ न कुछ प्रवन्ध करना पड़ता है। इससे जातीय आर्थिक हानि और व्यक्तिगत समय की अनुपयोगिता का अनुमान किया जा सकता है। इन सब कारणों से मानसमन्दता के प्रतिषेध तथा मानसमन्दों की अधिक से अधिक संख्या को प्रशिक्षण (training) द्वारा जीवन निर्वाह योग्य बनाने का प्रश्न प्रत्येक देश के सामने उपस्थित रहा है और इस सम्बन्ध में अनेक अन्वेषण किये गये हैं तथा हो रहे हैं। सभी अन्वेषणकर्ता विद्वान जिन्होंने मानसमन्दता के अध्ययन और उनके सुधार के उद्योग में अपना समय लगाया है तथा समाज-सेवियों का यह मत है कि मानसमन्दता को रोकना तथा मानसमन्दों की दशा को सुधारना उनकी प्रज्ञा या ज्ञानशक्ति अथवा बुद्धि की उन्नति करना बहुत कुछ संभव है। उनका दृढ़ निश्चय है कि पूर्वकाल का यह मत कि मानसमन्दता की दशा अपरिवर्तनीय है, मान्य नहीं है। उनकी बहुत बड़ी संख्या ८०% को जीवन निर्वाह योग्य बनाया जा सकता है जिससे वे समाज पर भार न रहें और अधिकांश स्वतन्त्र जीवन व्यतीत कर सकें। दीर्घकाल के प्रयोगों से इस मत की यथार्थता प्रमाणित हो चुकी है। जो अति मानस-मन्द हैं उनकी दशा में भी सुधार संभव है। चाहे वे पूर्णतया स्वतन्त्र जीवन निर्वाह के योग्य न बनाये जा सकें तो भी उनको अपनी शारीरिक देखभाल करने, वस्त्र पहनने, अपनी आवश्यकताओं को व्यक्त करने तथा अनुपयुक्त आचरण न करने योग्य बनाया जा सकता है।

यहाँ अमरीका के राष्ट्रपति जॉन केनेडी (John Kennedy) ने उस देश में मानसमन्दता के पूर्ण अन्वेषण करने तथा उसके प्रतिषेध और मानसमन्दों के सुधार के उपायों के सुझाव करने के लिये सन् १९६२ में

एक कमीशन नियुक्त किया था, उसका उल्लेख असंगत न होगा। उस कमीशन के प्रस्तावों का सारांश यह था :—

१. **गर्भवती की पूर्ण सुरक्षा**—गर्भवती को प्रसव-पूर्वकालिक, प्रसव-कालिक तथा प्रसवोत्तरकालिक सभी प्रकार की चिकित्सा तथा प्रसव-सम्बन्धी सुविधायें प्रदान कराई जायँ। यह प्रमाणित हो चुका है कि इन तीनों कालों की सम्भावित आपदाओं से गर्भवती को सुरक्षित रखने से अनेक ऐसी दशायें जो मानसमन्दता की उत्पत्ति का कारण होती हैं, रोकी जा सकती हैं।

२. बहुधा मानसमन्दता का कारण **जीनीय** या **आनुवंशिक** (genetic) (जीन सम्बन्धी विकार) होता है। इस कारण तत्सम्बन्धी निदानशालायें देश भर में स्थापित की जायँ जहाँ दम्पति के जननिक विकारों की परीक्षा करके उनको उचित परामर्श दिया जा सके (genetic counselling)। तथा यदि उनके एक मानसमन्द सन्तान हो चुकी है तो उनको भविष्य के लिये आवश्यक उपाय सुझाये जायँ।

३. कितनी ही रासायनिक औषधियों तथा अन्य प्रकार के रासायनिक पदार्थों जैसे सीस, पारद का गर्भ पर हानिकारक प्रभाव होता है। ऐसे पदार्थों का पता लगाया जाय और गर्भवती द्वारा उनके निषेध का प्रचार किया जाय।

४. इसी प्रकार विकिरण (radiation) से भी गर्भ को हानि पहुँचती है। इस कारण उसके एक्सरे चित्र यथासम्भव न लिये जायँ।

५. कष्ट प्रसवों (difficult labour) में अनेक ऐसे उपद्रव हो जाते हैं जो गर्भ को मस्तिष्क क्षति पहुँचा सकते हैं। दक्ष प्रसवविज्ञों की प्रसवगृहों (obstetric clinics) में नियुक्ति द्वारा इस आपत्ति को बहुत कुछ मिटाया जा सकता है।

६. जिन दुर्घटनाओं में मृत्यु नहीं होती किन्तु तीव्र शिर आघात होते हैं उनका परिणाम बहुधा मानसमन्दता होती हैं। इस दृष्टि से अस्पतालों में विशेष प्रबन्ध किये जायँ।

७. कमीशन ने बालक के मानसविकास पर वातावरण का जो प्रभाव होता है उसकी ओर भी ध्यान आकर्षित किया। हीन दशाओं में पले हुए बालकों की मानसिक उन्नति का परिमित होना स्वाभाविक है। बाल्यकाल में अथवा उससे भी पहले शैशव काल ही से मानसिक परिवर्धन बहुत कुछ बाह्य उद्दीपनों (stimulus) का फल होता है। जो कुछ शिशु देखता है

या सुनता है उससे उसको उद्दीपन मिलता है और उसके फलस्वरूप उद्दीपन के अनुसार ही वह अनुक्रिया (response) करता है। शिशु पास में रखा खिलौना देखता है। उससे वह उद्दीपन प्राप्त करता है और उसको पाने और अपने हाथों में थामने की चेष्टा करता है। यह खिलौने को पकड़ने और थामने की चेष्टा खिलौने को देखने के उद्दीपन की अनुक्रिया है। इसी प्रकार माता के पुकारने पर उसकी वाणी से जो उसको उद्दीपन प्राप्त होता उससे वह हाथ फैला कर माता की गोद में जाने की इच्छा प्रकट करता है जो उस उद्दीपन की अनुक्रिया है। यह शिशु का प्रशिक्षण है। शिशु तथा बालक उद्दीपनों द्वारा ही शिक्षा प्राप्त करते हैं और यह क्रिया वयस्क अवस्था अथवा जीवन पर्यन्त जारी रहती है। आर्थिक, सामाजिक सांस्कृतिक सब प्रकार की उन्नति का कारण उपयुक्त और उचित उद्दीपन होते हैं। बालक के मानसिक परिवर्धन के लिये उचित उद्दीपन अत्यन्त आवश्यक हैं।

हीन दशा में, जहाँ आर्थिक अभाव हो, जीवन की आवश्यक सामग्री भी उपलब्ध न हो सके अथवा परिवार के सदस्यों में सदा कलह होती रहे, असन्तोष का प्रदर्शन हो, पड़ोसियों से अमित्रता का व्यवहार हो, ऐसा वातावरण बालक की मानसिक वृद्धि का सहायक नहीं हो सकता। और माता-पिता का संतान के साथ उदासीनता का व्यवहार रहे तो बालक के मानसमन्द होने के लिये सब ही अनुकूल दशायें उपस्थित हैं। बालक के मानसिक विकास की कुंजी माता-पिता का प्रेमपूर्वक व्यवहार है; न केवल प्रेम किन्तु शिशु द्वारा प्रेम की अनुभूति। माता का शिशु का स्नेहमय चुम्बन उसकी सब भाँति की वृद्धि की औषधि है।

अतएव कमीशन ने यह भी प्रस्ताव उपस्थित किया कि सामान्य जनता का आर्थिक और सांस्कृतिक स्तर उन्नत करने के भी उपाय किये जाँय। किन्तु इस दीर्घ कालिक प्रस्ताव की सफलता तो सुदूर भविष्य के गर्भ में है। और वह भी अनिश्चित है। इस कारण कमीशन ऐसे भी सुझाव उपस्थित किये जो तत्काल उपयोगी हो सकते हैं। (१) निर्धन लोगों की बस्तियों या चालों, जिनको साधारणतया स्लम (slum) कहा जाता है, में रहने वालों में शिक्षा का प्रचार। कलकत्ता, बम्बई, कानपुर तथा अन्य बड़े नगरों में जहाँ उद्योगों के केन्द्र (industrial centres) हैं और मजदूरों की प्रचुर संख्या है वहाँ ऐसी चालें बहुत हैं जिनमें एक कमरे में सारा परिवार रहता है, वहीं रसोई पकाता है, २०,२५ परिवारों के लिये एक शौचालय और

एक स्नानागार होता है, बालकों के खेलने के लिये कोई खुला स्थान नहीं होता। वहाँ के रहने वाले दम्पतियों को विशेपतया गर्भ और शिशु पालन संबंधी शिक्षा देना बहुत आवश्यक है। अतएव इन क्षेत्रों में शिक्षा केन्द्रों को बनाना तथा वहाँ के रहने वाले दम्पतियों को शिक्षा ग्रहण करने को प्रोत्साहित करना तत्काल उपयोगी है। (२) वहाँ के बालकों के लिये नर्सरी अथवा पूर्वशिक्षालय केन्द्र (preschool centres) बनाये जाँय। (३) सायान्य स्कूलों में ऐसे बालकों की विशेष शिक्षा का प्रवन्ध किया जाय जिनके मानसमन्द होने की आशंका हो। (४) सामाजिक संस्थायें जो इस कार्य में सहायक हो सकें उनको आर्थिक सहायता देकर उनका सहयोग प्राप्त किया जाय।

(८) मानसमन्दों को प्राय: अस्पतालों या विशेष संस्थाओं में रखा जाता था। कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि शिशुओं को विशेष कर, और बालकों को माता से पृथक् रखने से बालक माता-पुत्र संवंध तथा स्नेह से वंचित होने के कारण बालक की मानसिक वृद्धि को गम्भीर क्षति पहुँच सकती है तथा उसमें आवेशात्मक विकार उत्पन्न हो सकते हैं। इस कारण जहाँ तक संभव हो शिशु को माता ही के साथ रखा जाय। किन्तु माता को शिशु की देखरेख के लिये सब प्रकार की सहायता दी जाय। निरीक्षक नर्स (visiting nurse) और सामाजिक कार्यकर्ता की सहायता बहुत उपयोगी हो सकती है।

(९) मानसमन्दता के विषय में पूर्णतया शिक्षित चिकित्सकों, परिचारकों तथा परिचारिकाओं, सहायकों, परामर्शदाताओं तथा कार्यकर्त्ताओं को तैयार करना भी बहुत आवश्यक है, यह भी कमीशन द्वारा प्रस्तावित किया गया।

(१०) तथा इस सम्वन्ध में अन्वेषण और विस्तृत अन्वेषणों के आयोजनों की आवश्यकता की ओर ध्यान भी आकर्षित किया गया।

उपर्युक्त सुझाव अत्यन्त उपयोगी हैं और मानसमन्दता के प्रतिपेध तथा चिकित्सा के सभी पक्षों का भलीभाँति विचार करते हैं। इनके दिग्दर्शन के अनुसार, देश काल के अनुसार परिवर्तन करके सभी प्रगतिशील देश वहाँ की मानसमन्दता के सुधार में अग्रसर हो रहे हैं। यद्यपि इस सम्वन्ध में इंग्लैण्ड प्रथम कार्यकर्ता देश था, तो भी राष्ट्रपति केनेडी के इस ओर विशेष ध्यान देने से इस संशोधक जनोपकारी आयोजन ने महान उन्नति की है जिसका क्षेत्र केवल अमरीका में परिमित नहीं रहा है किन्तु संसार व्यापी हो गया है।

मानसमन्दता के प्रतिषेध संबन्धी आयोजनों का परिचय गत पृष्ठों में दिया जा चुका है। अब उन वालकों की चिकित्सा अथवा सुधार या पुनःस्थापन का प्रश्न रह जाता है जिनको मानसमन्द निर्णीत किया जा चुका है, जिनकी पूर्व परिच्छेदों में निर्देशित विविध परीक्षाएँ की जा चुकी हैं और निर्णायक समिति या चिकित्सकों के समुदाय ने उनको मानसमन्द निश्चित कर दिया है। उनकी दशा में सुधार करने के जटिल प्रश्न को हल करने के लिये विविध विज्ञानों के विद्वानों के सहयोग की आवश्यकता है तथा प्रचुर व्यय का प्रश्न भी है। कितनी ही प्रकार की सेवाएँ मानसमन्दों के सुधार के लिये आयोजित करनी होंगी और उनमें नियुक्त व्यक्तियों को वेतन देना होगा तथा वहुत से मानसमन्दों के लिये निवासस्थानों और भोजनादि का प्रवंध भी करना पड़ेगा।

एक बड़ी कठिनाई जो उपस्थित होती है वह त्रुटिग्रस्त शिशुओं तथा बालकों के माता-पिता या अभिभावकों का असहयोग होता है। वे बहुत काल तक यह मानने को तैयार नहीं होते कि उनके बालक में कोई त्रुटि है। चिकित्सक के सुझाव करने पर वे उसका तत्काल विरोध करते हैं और उसकी तथा परामर्शदाताओं के प्रस्तावों को अस्वीकार कर देते हैं और केवल समय की प्रतीक्षा करते रहते हैं कि समय पाकर वड़ा होने पर वालक का व्यवहार सुधर जायगा। जब अन्त में उनको निश्चय हो जाता है कि वालक की दशा सुधर नहीं रही है, उसकी उग्रता बढ़ती ही जा रही है, उन्नति के स्थान पर केवल अवनति ही होती जा रही है तव वे चिकित्सक के सुझावों से सहमत होकर चिकित्सा का आश्रय लेते हैं। इसमें कई वर्ष व्यतीत हो सकते हैं और शिशु को गम्भीर हानि पहुँचती है जिसका प्रतिकार सम्भव नहीं होता। इस कारण न केवल त्रुटिग्रस्त वालक की शिक्षा तथा चिकित्सा आयोजित करनी होती है, वरन अभिभावक और बालक के माता-पिता की शिक्षा आवश्यक हो जाती है।

तत्काल आवश्यक आयोजन—गत पृष्ठों में कहा जा चुका है कि जितने शीघ्र मानसमन्दता का निदान होकर सुधार सम्वन्धी आयोजन प्रारम्भ कर दिये जायेंगे उतना ही शीघ्र और अधिक त्रुटि-ग्रस्त वालक को लाभ होगा और उसकी दशा सुधरेगी। अनेक बालक जन्मजात विकार युक्त जन्म लेते हैं, उनमें विकार जन्म ही से उपस्थित होता है। उनमें से बहुतों की दशा का निश्चय तत्काल ही अर्थात जन्म के पश्चात कुछ सप्ताहों या महीनों में ही हो सकता है। चौथे परिच्छेद में जिन संलक्षणों का वर्णन किया गया है उनमें से कुछ ऐसे हैं जिनका कुछ दिनों ही में चिकित्सक को सन्देह होने

लगता है, जैसे फिनाइलकीटोन्यूरिया (PKU)। यदि यह विकार अधिक दिनों तक चलता है तो मस्तिष्क को चिरकालिक क्षति पहुँचती है जिसका फिर सुधार सम्भव नहीं होता। यह दशा मूत्र परीक्षा द्वारा सहज में निश्चित की जा सकती है। चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह यथासम्भव शीघ्र ही निदान करके उपयुक्त साधनों द्वारा शिशु को मस्तिष्क-क्षति से बचावे। कई अन्य ऐसे ही चयापचय सम्बन्धी विकार हैं जिनका शीघ्र निदान कठिन नहीं है, यदि चिकित्सक सतर्क रहे। मंगोलता (mongoloids, Down's syndrome) का बहुधा जन्म के पश्चात ही से आभास मिल जाता है।

जन्म के पश्चात ही शिशु की पूर्ण शारीरिक परीक्षा आवश्यक है जिससे शिशु में अपसामान्यताओं (abnomalities) का पता लगाने में चिकित्सक सदा सतर्क रहे।

मानसमन्द बालक की परीक्षाओं का वर्णन छठे परिच्छेद में सविस्तार किया जा चुका है तथा अतिशीघ्र निदान की आवश्यकता भी बताई जा चुकी है जो सुधार के आयोजनों का प्रथम चरण और मौलिक आधार है।

चिकित्सा अथवा सुधार का स्वरूप—परीक्षाओं द्वारा मानसमन्दता का निश्चय होने के पश्चात सुधार के आयोजनों का विचार करना होता है। सुधार का मुख्य रूप मानसमन्द के व्यवहार को बदलता है। व्यवहार की विपरीतता ही के कारण बालक मानसमन्द माना गया है। व्यवहार की विपरीतता का अर्थ यह है कि सामान्यतया उस वय के बालक जो व्यवहारात्मक क्रियायें करते हैं, वह बालक उस प्रकार की क्रियायें नहीं करता; उसमें उन गुणों, शब्दोच्चारण, घुटलियों चलना, खिलौनों को पकड़ना, दूध की बोतल को हाथों में थाम लेना, मुस्कराना, हँसना, शारीरिक आवश्यकताओं को रोकर, हाथ उठाकर, इच्छित वस्तु की ओर दौड़ कर, नेत्रों को घुमाकर या किसी अन्य क्रिया द्वारा प्रकट करना इत्यादि, का विकास नहीं हुआ है जो उस वय के बालकों में उस समय तक प्रकट हो जाते हैं। परीक्षकों, विशेषकर मनोविकार विज्ञानी (psychiatric) परीक्षक को यह निश्चय करना होगा कि बालक में कौन-कौन व्यवहारात्मक त्रुटियाँ हैं और कौन पूर्णतायें या दक्षतायें हैं। जहाँ तक सम्भव हो, उनके कारणों को भी जानने का प्रयत्न करना उचित है, जैसे दृष्टि दोष या श्रवण दोष तो नहीं है; भाषण शक्ति ह्रास तो नहीं है। परीक्षक को बालक के साथ कुछ समय बिताना होगा जिसमें वह बालक का भिन्न-भिन्न

परिस्थितियों में तीक्ष्ण निरीक्षण करता रहे। तभी वह बालक की त्रुटियों का पूर्ण बोध कर पायगा।

बालक के व्यवहार में जो दोष हैं, उनका ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात ही उन दोषों को दूर करने के लिये, अर्थात् बालक के व्यवहारात्मक पुनः प्रशिक्षण के उचित उपाय किये जाते हैं। बालक के वातावरण का विचार भी आवश्यक है।

व्यवहार के परिवर्तन का प्रशिक्षण
(Training change in behaviour)

प्रशिक्षण का भार, यदि बालक घर ही रहता है तो, माता को ही विशेषतया उठाना पड़ता है। पिता भी सहायता कर सकता है। किन्तु प्रारम्भ करने से पूर्व यह भली भाँति समझ लेना चाहिये कि इस कार्य के लिये धैर्य, परिश्रम और निरन्तर उद्योग आवश्यक है। दो चार बार के उद्योग से सफलता नहीं मिल सकती। उद्योग तब तक जारी रखना होगा जब तक बालक सीख नहीं जाता और प्रशिक्षण का अभिप्राय पूरा नहीं हो जाता।

प्रशिक्षण विधि की व्याख्या के हेतु कल्पना कर ली जाय कि माता चाहती है कि बालक जहाँ-तहाँ शौच करके घर को गन्दा न करे। वह चाहती है कि आवश्यकता के समय बालक स्वयं पौटी[1] पर बैठ कर उसमें मलत्याग करे। इस प्रशिक्षण में पहला चरण बालक को पौटी से परिचित कराना है। पौटी को उठा कर बालक के पास रख देना चाहिये। वह पौटी को देख ले। सम्भव है बालक उसको छुए भी नहीं, उसकी ओर ध्यान ही न दे। कई बार पौटी उसके पास रख कर छोड़ दी जाय जब वह उससे परिचित हो जाय, उससे दूर न भागे तब उसको उठा कर उस पर बैठा दिया जाय। संभव है वह पहले के समान आचरण करे, बठे ही नहीं या उठ कर भाग जाय। पौटी पर उसको बैठाना यह उद्योग का दूसरा चरण है। अनेक बार प्रयत्न करने पर इसमें भी सफलता मिलेगी। तीसरा चरण बालक को पौटी पर उस समय बिठाना है जब वह मलत्याग करने वाला हो। माता को बालक की चेष्टाओं, मुद्राओं आदि से यह अनुभव हो जाता है। वह बालक की इच्छा का अनुमान कर

१. पौटी बालकों की वयानुसार छोटी या बड़ी कमोड होती है जिनमें लकड़ी के फ्रेम में एक तामचीनी का पात्र लगा होता है। बालक उसी पर बैठकर मलत्याग करता है।

लेती है। मलत्याग की इच्छा के समय बालक को पौटी पर बिठाने से सम्भव है वह पौटी में मल त्याग कर ले। यदि नहीं करता तो फिर प्रयत्न को नित्य प्रति दोहराने के साधन का आश्रय लेना होगा। कुछ दिन में बालक पौटी पर मल त्याग के लिये बैठने लगेगा। चौथा बहुत महत्व का चरण बालक को इनाम देना है। यह reinforcement कहलाता है। इससे बालक में यह भावना उत्पन्न करने का लक्ष्य है कि वह अनुभव करे कि उसने कुछ उत्तम काम किया है जिसके लिये उसको पुरस्कृत किया जा रहा है। और जब भी वह ऐसा काम करेगा उसको पुरस्कार मिलेगा। यह पुरस्कार-विधि बहुत सफल पाई गई। पुरस्कार कोई ऐसी वस्तु हो जो बालक को रुचिकर हो; खाने की मिठाई हो, खेलने के लिये कोई खिलौना हो या अन्य कोई वस्तु हो जिससे बालक प्रसन्न हो। कुछ दिनों तक नित्य प्रति ऐसा ही किया जाय जिससे बालक को पौटी ही में मलत्याग करने का अभ्यास हो जायगा।

इसके पश्चात् वह समय आयगा जब पौटी को बालक की शैया या उस के रहने के स्थान से दूर रखा जाय और बालक को वहाँ जाकर पौटी पर बैठने को प्रोत्साहित किया जाय जब तक कि बालक को दूर जाकर पौटी में मलत्याग की आदत न हो जाय। फिर उसको पुरस्कार दिया जाय। यह पाँचवाँ चरण है।

उस विधि में समस्त क्रिया को उसके छोटे-छोटे भागों में तोड़ दिया गया है। प्रत्येक क्रिया के कई अंश होते हैं, कई लघु क्रियाओं के समूह-रूप एक कर्म या सम्पूर्ण क्रिया होती है। उपर्युक्त विधि का सिद्धान्त यही है कि एक बार में एक लघु क्रिया में बालक को प्रशिक्षित किया जाय। कुछ विद्वानों का सुझाव है कि प्रत्येक लघु क्रिया के सम्पादन पर बालक को पुरस्कार दिया जाय।

इसका विशेष ध्यान रखा जाय कि बालक यह अनुभव करे कि उसको उसी विशिष्ट क्रिया को करने का पुरस्कार दिया जा रहा है जो माता की निर्देशित क्रिया थी, जिसको कराना चाहती थी, अर्थात् पौटी पर मलत्याग करना। ऐसा न हो कि वह बीच में घटी हुई किसी अन्य घटना के लिये पुरस्कार को मिला समझ ले। मलत्याग के पश्चात पौटी पर से उठ कर लौटते समय कोई खिलौना उसे मिल जाय जिसे वह उठा ले। और तब समझे कि खिलौना उठाने के लिये उसे पुरस्कार मिला है। इस कारण बालक को पुरस्कार निर्दिष्ट क्रिया के सम्पूर्ण कर लेने के **पश्चात तत्काल** मिलना आवश्यक है।

पुरस्कार विधि—इस पुरस्कार विधि पर कई प्रयोग किये गये हैं। अनेक मनोविज्ञानियों द्वारा इस विधि का भिन्न-भिन्न दशाओं और परिस्थितियों में उपयोग किया गया है। मानसमन्द तथा सामान्य छात्रों की स्कूलों में, घरों पर, सामूहिक तथा व्यक्तिगत रूप से, बालकों तथा वयस्कों में, शिशुओं में, अनेक प्रकार से व्यक्ति को पुरस्कृत करके उसके प्रभाव को देखा गया है। सभी अन्वेषणकर्ता इस विधि के उपयोग के परिणामों से सन्तुष्ट हैं और उसके अनुमोदक हैं। कुछ ऐसी भी रिपोर्टें मिली हैं जहाँ सफलता नहीं हुई। वहाँ विज्ञों ने उस पर गम्भीरतया पुनः विचार किया और वे इस परिणाम पर पहुँचे कि पुरस्कार उपयुक्त नहीं था अथवा वह उपयुक्त समय पर नहीं दिया गया था।

पुरस्कार का चुनाव—यह निर्णय करना कि कौन-सा पुरस्कार बालक को या व्यक्ति को रुचिकर होगा जो इच्छित फल प्राप्त कर सके अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु उतना ही कठिन है। कारण यह है कि 'भिन्न-भिन्न रुचिर्लोके'। हम सबों की अभिरुचियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। भय एक को गुण करे, करे एक को व्याधि। यह पुरानी कहावत है। ऐसे में यह पता लगाना कि बालक को कौन सी अतिप्रिय वस्तु है जिसको पाकर वह वास्तव में प्रसन्न होगा, उसे हर्षातिरेक होगा। यह निरीक्षक के कौशल और सतत निरीक्षण पर निर्भर करता है। कोई एक ऐसी निर्दिष्ट विधि नहीं है जिससे यह मालूम हो जाय कि अमुक वस्तु या क्रिया बालक को अतिप्रिय है। पूछने से भी वांछित फल नहीं होता। इस सम्बन्ध में अनेक प्रयोग किये गये हैं। किन्तु उन सभी का परिणाम यही हुआ कि बालक को पृथक-पृथक समय और पृथक-पृथक दशाओं में निरीक्षण करते रहने ही से यह बोध हो सकता है। बालक से पूछना भी एक उपाय है जिसका उपयोग किया जा सकता है। किन्तु निरीक्षण करते रहना अधिक आवश्यक है, दोनों के विचार से निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

सामान्यतया यह पाया गया है कि अल्प वय के बालक कुछ खाने की या खेलने की वस्तु को पसन्द करते हैं। मूँगफली, कैंडी, केला, खिलौने आदि उनको रुचिकर होते हैं। वय बढ़ने पर उनकी रुचि कुछ बदल जाती है। तब वे ऐसा पुरस्कार पसन्द करने लगते हैं जिससे उनके साथियों में उनका मान बढ़े, जैसे क्लास में अध्यापक द्वारा प्रशंसा, माता-पिता द्वारा उसके भाई-बहिनों तथा परिवार वालों के सामने बालक के किये हुये काम की सराहना तथा स्कूलों की परीक्षाओं में जो बालकों को पुरस्कार दिये जाते हैं उनका यही अर्थ है। इसी सिद्धान्त को उसके रूप को परिवर्तित

करके मानसमन्द पर लागू किया जाता है। और अधिक वय से बालक सराहना के किसी स्थायी रूप को प्राप्त करना अधिक पसन्द करते हैं जैसे बैज (badge), बिल्ले, जो वस्त्र के विशेष प्रकार के टुकड़ों पर छपे या कढ़े हुए श्लाघा के शब्द होते हैं जिसे वे अपने कोट या कमीज पर लगा लेते हैं।

उपर्युक्त केवल सामान्य दिग्दर्शन मात्र है। छोटी या बड़ी वय के बालकों, विशेषकर मानसमन्द बालकों के निरीक्षण ही से उनकी अभिरुचि का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

यह पुरस्कार जो दिया जाता है वह **धनात्मक पुरस्कार** (positive reinforcement) कहा जाता है। दूसरा **ऋणात्मक पुरस्करण** (negative reinforcement) भी होता है। इस विधि में बालक को क्लेश पहुँचाने वाले कारणों को दूर कर दिया जाता है। मान लिया जाय कि बालक के पास जो खिलौने रखे हुए हैं उनमें एक ऐसा खिलौना है जो बालक को पसन्द नहीं है अथवा उससे वह डरता है जिसके कारण वह अन्य खिलौनों से भी नहीं खेलता। उस खिलौने को वहाँ से हटा देना ऋणात्मक पुरस्करण कहलायगा। बालक को क्लेश देने वाली कोई भी वस्तु हो, व्यक्ति हो, खाद्य हो—वातावरण में कोई भी कारण उपस्थित हो सकता है—उसको दूर कर देना ऋणात्मक पुरस्करण है।

तीसरी विधि **दंड** (punishment) है जो प्राचीन काल से प्रयुक्त होती आई है। उसका अर्थ है कि बालक इस प्रकार से व्यवहार नहीं कर रहा है जो सबों को मान्य है, जो समाज में स्वीकृत है और उसके निषेध के लिये बालक को प्रतिकूल उत्तेजनायें (aversive stimulus) दी जा रही हैं। मनोविज्ञानी अन्वेषणकर्त्ता इस विधि का अनुमोदन नहीं करते। उनकी सम्मति में ऐसी उत्तेजनाओं से बालक में अन्य प्रकार की व्यावहारिक विपरीततायें उत्पन्न हो सकती हैं। यदि बालक को उचित प्रकार से भोजन करने का प्रशिक्षण दिया जा रहा है तो उसके वांछित क्रिया न करने पर उसको दंड देने से सम्भव है कि क्रिया भी न सीखे और शिक्षक से उत्तेजना ग्रहण करना भी बन्द कर दे—बोलना ही छोड़ दे। दंड का परिणाम यह पाया गया है कि उससे धनात्मक उत्तेजन नहीं मिलते। उससे व्यवहार का दमन हो जाता है, किन्तु किसी प्रकार के उत्तेजन का सृजन नहीं होता। बालक तक कोई ऐसी उत्तेजना नहीं पहुँचती जो उसको क्रिया करने को प्रोत्साहित कर सके। इस कारण इस विधि का प्रयोग वर्जित है। तो भी यदि बालक कोई अनुचित कर्म करता है तो

उसको यह बोध करा देना कि उसका व्यवहार ठीक नहीं था, उसकी की हुई क्रिया का अनुमोदन नहीं किया जा रहा है, यह भी आवश्यक है। किन्तु इस प्रकार किया जाय कि बालक को शारीरिक अथवा मानसिक आघात न पहुँचे।

मानसमन्दों के उपचार तथा शिक्षा या प्रशिक्षण सम्बन्धी अन्य संस्थायें

मानसमन्दों का उपचार एक प्रकार से उनकी शिक्षा तथा प्रशिक्षण है जिसका उद्देश उनको जीवन निर्वाह करने योग्य बनाना है। वे समाज में यथोचित स्थान ग्रहण कर सकें, समाज पर आयु पर्यन्त भार न बने रहें और कम से कम किसी प्रकार के व्यवसाय के योग्य होकर जीवन की सामान्य सुविधायें प्राप्त करने में सफल हों, यही उपचार अथवा शिक्षा का ध्येय होता है। जो भी अनेक प्रकार के साधनों का उपयोग किया जाता है उनका आविष्कार अन्वेषणकर्ताओं द्वारा वहुत परिश्रम के पश्चात इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये किया गया है।

यह बताया जा चुका है कि मानसमन्दों के दोषों, उनकी त्रुटियों, व्यवहार की विपरीतताओं तथा क्रियात्मक सामर्थ्य या कर सकने की शक्तियों—उपलब्धि (achievement) अथवा निष्पादन (performance) में उतनी ही भिन्नता पाई जाती है जितनी मनुष्यों की आकृतियों अथवा सामान्य बुद्धि वाले व्यक्तिथों की कृतियों में, निष्पादन में। इस कारण उनकी शिक्षा या प्रशिक्षण विधियों में भिन्नता करना आवश्यक होता है। त्रुटि-युक्त की आवश्यकताओं के अनुसार उसकी शिक्षा का आयोजन करना होता है। ऐसे व्यक्तियों, जिनको अवसामान्य (subnormal) कहा जाता है, की आवश्यकताओं के निर्णय की विधियाँ छठे परिच्छेद में सविस्तार वर्णन की जा चुकी हैं।

मानसमन्दों की शिक्षा या प्रशिक्षण का हम अगले परिच्छेद में विचार करेंगे। यहाँ उनकी शिक्षा, निवास का प्रबन्ध, देखभाल, उपचार, अन्य प्रकार की सहायताओं का परिचय मात्र देना अभीष्ट है।

प्रारम्भ ही में यह बता देना उचित है कि यद्यपि मानसमन्दों को परिवार से पृथक रखने के लिये अब भी बड़ी-बड़ी संस्थायें-अस्पताल, होस्टल आदि उपस्थित हैं जहाँ उनके निवास के अतिरिक्त उनको शिक्षा देने का भी प्रबन्ध होता है, तथापि आधुनिक सर्वसम्मत मत यही है कि मानसमन्द को यथासम्भव परिवार में ही रखा जाय। समाज का अंग

बनाकर रखना ही उसके लिये अधिक उपादेय है। परिवार से जो उसको पृथक होना पड़ता है उससे माता के वियोग से तथा पारिवारिक वातावरण से वंचित होने से (यदि पारिवारिक वातावरण संस्कृत और सानुकूल हो) बालक या व्यक्ति को मानसिक आघात पहुँचता है। अन्त में उसको फिर भी समाज ही में रहना पड़ेगा। अतएव उत्तम है कि उसको प्रारंभ ही से समाज का अभ्यस्त बनाया जाय और समाज को उसका दीर्घकालिक परिचय हो जिससे दोनों एक दूसरे के शनैः शनैः पास आते चले जायँ। अब यही मत प्रचलित है और सरकारों तथा प्रवन्धकर्ताओं का यही उद्योग है कि संस्थाओं से मानसमन्दों को समाज में लौटा कर भेजा जाय और वहीं उनको उपचार तथा शिक्षा अथवा प्रशिक्षण सम्बन्धी सुविधायें प्राप्त करायी जायँ। अब ५ या ६ या अधिक से अधिक ८ मानसमन्दों को जो एक साथ रहने योग्य हैं, उनको एक छोटे परिवार के साथ रख दिया जाता है। जहाँ दम्पति परिवार उनकी देखरेख करता है जिसके लिये दम्पति को सरकार या म्यूनिसिपैलिटी की ओर से आवश्यक आर्थिक सहायता दी जाती है तथा उपचार और शिक्षा का प्रबन्ध भी वे ही करते हैं।

मानसमन्दों के लिये निम्नलिखित संस्थायें बनाई जाती हैं जिनका संचालन सरकार के स्वास्थ्य विभाग, नगर की म्यूनिसिपैलिटी या अन्य कोई विशेष गठित प्रबन्धक कमेटी करती है। उसके लिये आवश्यक धन केन्द्रीय सरकार या उस प्रदेश की सरकार समाज कल्याण विभाग द्वारा अथवा उस नगर की म्यूनिसिपैलिटी द्वारा देती है।

(१) बाल निर्देशन शाला (child guidance clinic)
(२) उपबोधक या परामर्शदायक सेवा (counselling services)
(३) मानसमन्दों के विद्यालय (स्कूल) (schools for educationally subnormal)
(४) मानसमन्दों के अवर प्रशिक्षण केन्द्र (junior training centres)
(५) मानसमन्दों के उच्च प्रशिक्षण केन्द्र (senior training centres)
(६) दिन में देखभाल या दिन का अस्पताल (day care, day hospital)
(७) अस्पताल (hospitals) अन्तरंग विभाग सहित (with indoor)

(८) बहिरंग निदान शाला (outdoor clinic and diagnostic centre)
(९) लघु कालिक व्यवस्था (short term care)
(१०) दीर्घकालिक व्यवस्था (long term care)
(११) औद्योगिक प्रशिक्षण (industrial training)
(१२) गृह संबंधी प्रशिक्षण (domestc training)
(१३) मानसिक चिकित्सा (psychotherapy)
(१४) चिकित्सा में औषधियों तथा आहार का उपयोग (drugs, diet)

बाल निर्देशन शाला—इन नैदानिक शालाओं का मुख्य कार्य व्यक्तियों—बालक और वयस्क दोनों की मानसिक दशा का निदान करने के अतिरिक्त उनके लिये उपयुक्त उपाय का निर्देशन करना भी होता है। विशेषतया अल्प मानसमन्दों की चिकित्सा का भार भी कुछ सीमा तक उनको उठाना होता है अथवा चिकित्सा काल में उनको निरन्तर देखते रहना पड़ता है कि व्यक्ति को लाभ हो रहा है या नहीं? यदि हो रहा है तो कितना, उसकी प्रगति कैसी है? चिकित्सा प्रणाली में परिवर्तन करना तो आवश्यक नहीं है? जिस दोष के लिये अमुक विशेष साधन का उपयोग हो रहा है वह उसके लिये पर्याप्त है अथवा और भी कुछ करना वांछित है? जब से चिकित्सा प्रारम्भ हुई है तब से व्यक्ति में और कोई त्रुटि तो नहीं पाई गई है, इत्यादि। मानसमन्दों के प्रश्न इतने जटिल और विविध प्रकार के होते हैं कि उनका पहले से अनुमान करना भी कठिन होता है। यदि व्यक्ति को लाभ नहीं हो रहा है तो भावी क्रम भी कमेटी ही को प्रस्तावित करना होता है कि व्यक्ति को विशेष स्कूलों में भेजा जाय, घर पर रखा जाय अथवा संस्था में रखा जाय।

इन निदानशालाओं में कई कार्यकर्ता होते हैं। एक मनोविज्ञानी अध्यक्ष होता है जो अपने सहयोगियों का अध्यक्ष या नेता होता है। नैदानिक मनोविज्ञानी या मनोविकार विज्ञानी (pschychiatrist) सामाजिक कार्यकर्ता और पब्लिक नर्स अथवा एक लेखक भी नियुक्त होते हैं। अध्यक्ष को अधिकार होता है कि वह अन्य किसी भी विशेषज्ञ से सहयोग प्राप्त कर सकता है।

मनोविज्ञानी का विशेष काम मनोवैज्ञानिक परीक्षायें करना है। उसके पास त्रुटियुक्त व्यक्ति भेजे जाते हैं उनकी मानसिक परीक्षा (mental testing), उपलब्धि परीक्षण (achievement testing), अभि-

क्षमता (aptitude) परीक्षण तथा अन्य परीक्षाओं द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व (personality) का आकलन करना होता है;, उसकी त्रुटियों और योग्यताओं का निर्णय करना उसका काम है। मनोविकारविज्ञानी शारीरिक दोषों और मानसिक दोषों के सम्बन्ध का पता लगाता है। सामाजिक कार्यकर्ता व्यक्ति के पारिवारिक वातावरण की ओर ध्यान देता है। परिवार वालों का व्यक्ति के प्रति कैसा व्यवहार है, कैसा भाव है; उनके व्यवहार का त्रुटियुक्त व्यक्ति पर कैसा प्रभाव पड़ रहा है, उनकी आर्थिक स्थिति कैसी है, वातावरण कलहपूर्ण है या प्रेममय है, इस सब की खोज करना उसका काम है। सामाजिक कार्यकर्ता को शिक्षाविभाग के कर्मचारियों तथा अन्य मानससम्बन्धी संस्थाओं और नगरनिगमों (municipalities) से भी सम्बन्ध स्थापित करना होता है। जब मानस-मन्द के माता-पिता की सहायता की आवश्यकता होती है तब उसकी प्राप्ति का भी वही साधक होता है। इस प्रकार वह निर्देशनशाला का अत्यन्त उपयोगी अंग होता है।

ये बाल निर्देशन-शालायें प्रायः शिक्षा विभाग द्वारा स्थापित की जाती हैं और शिक्षाविभाग का अंग होती हैं। स्वास्थ्य विभाग द्वारा भी मानसमन्दता की चिकित्सा सम्बन्धी अस्पतालों तथा उनकी निवास-संस्थाओं के साथ भी जहाँ मानसमन्दों को रखा जाता है (residential institutions or indoor hospitals), इस प्रकार की निर्देशन शालाओं का निर्माण किया जाता है। यहाँ बालक निदान के लिये डाक्टरों, चिकित्सा संस्थाओं, होस्टलों, निवास संस्थाओं (residential institutions) तथा अनेक बार परिवारवालों द्वारा भेजे जाते हैं। कुछ निदान-शालायें डाक्टरों द्वारा ही आने वाले तथा संस्थाओं से भेजे हुए ही बालकों को लेती हैं। कुछ अन्य परिवारों से सीधे आने वालों को भी स्वीकार कर लेती हैं। कभी-कभी ग्रस्त बालक (अधिक वय के) तथा व्यक्ति स्वयं आ जाते हैं।

अस्पताल या चिकित्सालय

अस्पताल या चिकित्सालय वे स्थान होते हैं जहाँ रोगी की चिकित्सा की जाती है। मानसमन्दों की चिकित्सा के स्थानों को सुधार-स्थान या पुनःस्थानपन स्थान (rehabilitation centres or institutions) कहना अधिक उपयुक्त होगा।

ये स्थान कई प्रकार के होते हैं। यहाँ उनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

(१) दिवस अस्पताल, दिन के अस्पताल, दिन की देख-भाल (day care) इन केन्द्रों में, जिनको बहुधा अस्पताल कहा जाता है, ग्रस्त व्यक्ति को, जो बालक या वयस्क हो, केवल दिन में देख-रेख की जाती है। दिन के अन्त पर रोगी को घर लौटा दिया जाता है। सप्ताह के अन्तिम दिवसों शनिवार तथा रविवार को तथा अन्य छुट्टियों के दिनों पर भी रोगी अपने घर ही रहता है। रोगी की केन्द्र में देखरेख के लिये विशेषतया शिक्षित उपचारक या उपचारिकायें (nurses) नियुक्त होती हैं। इस प्रकार रोगी को विशेष उपचर्या का भी लाभ होता है और वह पारिवारिक वातावरण से भी वंचित नहीं होता और मातृ-विछोह के गम्भीर हानिकारक परिणाम से बच जाता है।

व्यक्ति को केन्द्र में लाने और वहाँ से ले जाने का प्रबन्ध स्वयं व्यक्ति के परिवारवालों को करना होता है। कुछ केन्द्रों में केन्द्र के प्रबन्धकों की ओर से किया जाता है। किन्तु यदि बालक के परिवार का निवास स्थान केन्द्र से अधिक दूर स्थित होता है तो यातायात में अधिक समय तक व्यक्ति के बस या अन्य सवारी में बन्द रहने से उस पर बुरा प्रभाव हो सकता है। सबसे बड़ा लाभ परिवार को होता है। ग्रस्त बालक या वयस्क की नित्य प्रति की देख-रेख के क्लेश से माता-पिता बच जाते हैं और उन्हें शांत चित्त से विश्राम मिल जाता है अथवा वे चिन्तामुक्त होकर घर का काम-काज कर सकते हैं।

(२) बहिरंग निदानशाला अथवा केन्द्र
(outpatients centre for diagnosis)

अस्पतालों में अन्तरंग (indoor) और बहिरंग (outdoor) दो विभाग होते हैं। अन्तरंग विभाग में रोगियों के रहने का प्रबन्ध होता है। बहिरंग में रोगियों की परीक्षा करके उनको औषधि पत्र पर औषधियों को लिख कर दे दिया जाता है जिनको प्रयोग करने का रोगी को आदेश होता है। समय-समय पर रोगी को बुलाकर देख लिया जाता है। जो रोगी अधिक बीमार होते हैं, दशा गम्भीर होती है, उनको अंतरंग विभाग में भरती करके अस्पताल के वार्ड (wards) ही में रखकर उनका उपचार किया जाता है।

इसी प्रकार मानसमन्दों के अस्पतालों के भी बहिरंग विभाग में रोगी का निदान किया जाता है। बहुतेरे अस्पताल जो नगरों ही के किसी भाग में स्थित होते हैं अथवा नगरों के पास होते हैं उनके बहिरंग विभाग भी उसी के कुछ भवनों में होते हैं जो जनता के आने-जाने के लिये सुविधा जनक स्थित होते हैं। जो अस्पताल नगरों से १५, २० मील दूर स्थित होते हैं वे नगर के सामान्य (general) अस्पताल ही के कुछ कमरों में अपना बहिरंग स्थापित करते हैं। जैसे प्रत्येक सामान्य अस्पताल का एक बहिरंग विभाग होता है जहाँ रोगी स्वयं आते हैं अथवा उनके परिवार वाले या मित्र उन्हें डाक्टरों को दिखाने लाते हैं, उसी प्रकार बहिरंग में केवल मानसमन्दों को देखकर उनका प्रथम निदान किया जाता है और तब उनकी चिकित्सा की व्यवस्था की जाती है।

ये बहिरंग विभाग वास्तव में निदान-शालायें (diagnostic clinics) होती हैं जिनका मुख्य कार्य निदान और उसके पश्चात् उपबोधन या परामर्श (counselling) होता है। परामर्श परिवार वालों, मित्रगण, अथवा अभिभावकों को दिया जाता है जिसका तात्पर्य उनको यह समझाना होता है कि त्रुटिग्रस्त बालक या व्यक्ति के हित के लिये क्या करना उचित है। बालक के माता-पिता या परिवार वाले इस समय बड़े उद्विग्न होते हैं; वे बालक की दशा के लिये अपने को उत्तरदायी समझते हैं। इस कारण बहुधा वे अपने को दोषी अनुभव करने लगते हैं। उनमें अपराधी होने का भाव जागृत हो जाता है। उनको वास्तविक स्थिति समझा कर उनका धैर्य बँधाना और ग्रस्त की उन्नति के उपाय सुझाना, यही परामर्श या उपबोधन कहलाता है।

इन बहिरंग विभागों में वे सब सुविधायें होती हैं, अथवा होनी चाहिये जो निदान के लिये आवश्यक होती हैं। मनोविज्ञानी की आवश्यकता प्रमुख है। बालक की मानसिक परीक्षा, बुद्धिमाप (I. Q.) परीक्षा, उसकी अभिरुचि तथा निष्पादन परीक्षाएँ करना उसका काम है। व्यक्तित्व मापन (personality test) वही करता है। बालक की शिक्षा किस प्रकार की होनी चाहिये, इस आवश्यक बोध को भी वही प्राप्त करता है। सामाजिक कार्यकर्ता बालक के परिवार की ओर ध्यान देता है। सामाजिक वातावरण, परिवार की कठिनाइयाँ, अन्य सामाजिक संस्थाओं से सम्बन्ध यह सब उसका क्षेत्र है। समय-समय पर परिवार वालों से भेंट करना, परामर्श देना, बालक की प्रगति को बराबर देखते रहना और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति—इन

सब से परिवार वालों को बहुत सान्त्वना मिलती है और उनको अपनी विपत्ति का सामना करने में साहस बढ़ता है।

वहिरंग में एक सामान्य चिकित्सा विशेषज्ञ (general consultant) भी होता है जो संचालक का काम करता है।

वहिरंग में साधारण प्रयोगशाला-जाँचों (laboratory tests) का भी प्रवंध होना चाहिये और विशेष परीक्षाओं के लिये सामान्य अस्पताल की जीवरसायन तथा विकृति परीक्षणशालाओं (biochemistry, pathological laboratories) से भी उसका सम्वन्ध होना चाहिये जहाँ रक्त, शारीरिक स्राव या तरलों (fluids) और क्रोमोसोमों की परीक्षायें हो सकें। अस्पताल के विशेषज्ञ चिकित्सकों की सेवा तथा परामर्श भी वहिरंग में उपलब्ध होना उचित है।

वहिरंग में शिशु, छोटे वालक तथा वयस्क सभी लाये जाते हैं। शैशव काल में शरीर में कोई अपसामान्यता (abnormality) अथवा किसी ऐसे दोष या असाधारणता के प्रकट होने पर जिससे किसी विशेष शरीरगत रोग की आशंका होती है, शिशुओं को लाया जाता है। छोटे वालक या तो स्कूल जाने से पूर्व की वय के होते हैं अथवा वे स्कूल में पढ़ने वाले होते हैं। स्कूल पूर्व वय वाले बालकों को प्रायः इस लिये लाया जाता है कि उनकी वृद्धि सन्तोषजनक नहीं हो रही है। अथवा माता-पिता को सन्देह होता है कि बालक स्कूल जाने योग्य नहीं है। जो बालक स्कूल जा रहे हैं उनकी प्रायः प्रगति बहुत मन्द होती है। वे कक्षा में अन्य बालकों के साथ चल नहीं पाते, पिछड़े रहते हैं।

अधिक वय वाले वयस्क सामाजिक प्रतिकूलता, जीवनोपार्जन के कार्यों में असफलता, दूषित व्यवहार, कलहप्रियता आदि के लिये वहिरंग में परामर्श प्राप्त करने के लिए आते हैं या लाये जाते हैं। उनकी मानसमन्दता का प्रायः पहले से ज्ञान होता है।

(३) अन्तरंग अस्पताल (indoor hospitals)

अन्तरंग विभाग अस्पताल का विशेष भाग होता है जहाँ रोगियों के रहने का प्रवन्ध होता है। वास्तव में अस्पताल शव्द से प्रायः यही समझा जाता है कि वहाँ रोगी रहते हैं और उनकी चिकित्सा होती है।

आजकल यही मत मान्य है और इसी के अनुसार व्यवहार भी किया जाता है कि प्रत्येक मानसमन्द को अस्पताल में रखना आवश्यक नहीं है। जहाँ तक हो सके उसको घर पर माता के साथ ही रखा जाय। केवल मानस-

मन्दता वालक को घर छुड़ाने के लिये पर्याप्त कारण नहीं है। घर पर बालक का जितना सुधार हो सकता है उतना अस्पताल में रखने से नहीं।

इस कारण अन्तरंग में केवल ऐसे रोगी रखे जाते हैं जिनमें मानसमन्दता के साथ विकलांगता (crippled) भी होती है। विकलांगता शारीरिक हो अथवा मानसिक हो, किन्तु वह इतनी गंभीर होती है कि व्यक्ति को घर पर रखना असंभव होता है। वहाँ उसकी त्रुटि की प्रगाढ़ता के कारण, देखभाल संभव नहीं होता, न शिक्षा या प्रशिक्षण का प्रबंध हो सकता है। और घरवालों को तथा पास रहने वाले पड़ोसियों को भी उसके कारण कष्ट पहुँचता है या उससे हानि पहुँचने की संभावना होती है।

प्रायः निम्नलिखित में से कोई एक या अधिक कारण हो सकते हैं जो वालक को अस्पताल में रखने को बाध्य कर देते हैं:—

(१) **व्यक्तिगत कारण**—वालक अति अथवा मध्यम मानसमन्द हो। वह अंधा या बधिर या अपस्मार (epilepsy) या ऐसे ही किसी रोग से ग्रस्त हो जिस के कारण माता-पिता उसकी देखभाल करने में असमर्थ हों। बालक की अपराधी मनोवृत्ति हो जिसके कारण परिवार के अतिरिक्त पड़ोसियों या व्यक्तिसमुदाय (community) को भय का कारण उपस्थित हो। इनके अतिरिक्त अन्य कितने ही बालक संबंधी कारणों से माता-पिता को विवश होकर बालक को अस्पताल या संस्था में रखना पड़ता है।

(२) **परिवार सम्बन्धी कारण**—जैसे माता-पिता का अथवा केवल माता का चिरकारी रोगग्रस्त होना और पिता का जीवनोपार्जन में व्यस्त होने के कारण बालक के देखरेख की असमर्थता। यदि दम्पति के अन्य छोटे बालक हैं तो उनकी देखरेख के कारण माता को त्रुटियुक्त बालक की उपयुक्त परिचर्या के लिये आवश्यक समय नहीं मिल पाता। स्वयं माता-पिता की आर्थिक तथा मानसिक दशा बालक के सुधार के लिये अनुकूल न हो। पारिवारिक कठिनाइयाँ बहुत प्रकार की हो सकती हैं।

(३) फिर बालक के चारों ओर के वातावरण का विचार भी आवश्यक है। संस्कृतिहीन, कलहयुक्त, प्रेमरहित वातावरण बालक के पुनःस्थापन के लिये प्रतिकूल होता है। निवास स्थान से शिक्षालय के बहुत दूर होने पर उसके यातायात का प्रबंध नहीं हो सकता।

इन सब दशाओं में बालक को संस्था में रखना अनिवार्य हो जाता है।

अन्तरंग व्यवस्था—अन्तरंग में कितने ही प्रकार के रोगी भरती होते हैं। बालक, किशोर, वयस्क तथा प्रौढ़ सभी अवस्था वाले आते हैं।

अतिमन्द, मध्यमन्द तथा अल्पमन्द होते हैं। स्वपरायण (autistic) बालक भी होते हैं जो यद्यपि मानसमन्द नहीं होते किन्तु वे किसी से मेल नहीं खाते, स्वयं अपने माता-पिता तथा परिवार वालों के विरोधी होते हैं। वास्तव में उनकी समस्या भिन्न प्रकार की होती है, किन्तु उनके लिये अन्य संस्था न होने से वे भी मानसमन्दों ही की संस्था में रखे जाते हैं। इसी प्रकार संवेगात्मक क्षुब्ध (emotionally disturbed) बालकों का प्रश्न है। उनको भी इन्हीं अस्पतालों या संस्थाओं में रखना पड़ता है।

फिर भी संस्था की ओर से व्यक्तियों की त्रुटि, दशा और उनकी आवश्यकताओं के अनुसार उनके भिन्न समूह बना दिये जाते हैं और उनको संस्था के पृथक्-पृथक् कक्षों में रखा जाता है जिससे प्रत्येक समूह की आवश्यकताओं के अनुसार उपयुक्त प्रवंध करना सुगम हो। सारे अस्पताल या संस्था के प्रबन्ध तथा वहाँ के उपचार या चिकित्सा का लक्ष्य वहाँ के निवासियों को सामाजिक जीवन के योग्य वना कर उनको फिर से जन-समुदाय में स्वतन्त्र जीवननिर्वाह के लिये भेज देना होता है। यद्यपि यह समझ लिया जाता है कि कुछ मन्दों को फिर से कदाचित समाज को लौटाना संभव न होगा, कुछ व्यक्तियों को सदा वहीं रहना पड़ेगा, तो भी उनको इस योग्य बनाना कि वे अपने जीवन के अधिक से अधिक विस्तृत क्षेत्र का आनन्द ले सकें, अपने को अपनी कल्पना के संसार में आमोदित कर सकें, उनसे अन्तर मानस में हर्षातिरेक के भाव उदय हो सकें, ऐसा प्रयत्न करना संस्था का उत्तरदायित्व तथा कर्तव्य है।

आवश्यक उपचार की सुविधा के लिये रोगियों को समूहों में बाँटा जाता है जिसमें निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना उचित है। पहले जो इस प्रकार की संस्थाएँ बनाई जाती थीं वे साधारण अस्पताल के कक्षों के समान होती थीं और उन्हीं के समान कक्षों (वार्डों) में मानसमन्दों को रख दिया जाता था जैसे अस्पताल में रखा जाता था। इससे उपचार में बहुत असुविधा होती थी। इस कारण अब जो संस्था के कक्ष बनाये जाते हैं उनमें रोगियों की आवश्यकताओं का विचार सर्वोपरि रखा जाता है। कक्षों के निर्माण में निम्न बातों का विचार बहुत उपयोगी पाया गया है :—

(१) जिन रोगियों की निरन्तर देखभाल या उपचारकों की सेवा की आवश्यकता होती है तथा वे चलने-फिरने, एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने में अशक्त होते हैं उन सबों के—बालक, बालिकाओं, स्त्री, पुरुषों—निवास के कक्ष पास-पास बनाए जायें तथा चिकित्सा केन्द्र—एक्स-रे विभाग,

भौतिक चिकित्सा (physiotherapy) केन्द्र, आदि—के सन्निकट हों जिससे रोगी को दूर जाना न पड़े। अतिमानसमन्द तथा विकलांग (जिनके शरीर का कोई भाग काम नहीं करता (physically handicapped) ऐसे ही रोगी होते हैं जो आने-जाने में अशक्त होते हैं। उन सबों को पास-पास रखना जहाँ वे भिन्न-भिन्न परीक्षण और चिकित्सा केन्द्रों के पास ही रहें, उत्तम है।

(२) अनुभव से पाया गया है कि विकलांग बालक अधिक वय की स्त्रियों के साथ रहने से बहुत प्रसन्न रहते हैं। उनके संग से उनको मातृ-वियोग का दुःख भूल जाता है। इन प्रौढ़ या वृद्ध स्त्रियों का बालकों के प्रति मातृवत् व्यवहार होता है। किन्तु बालकों को प्रौढ़ पुरुषों के साथ रखना, उचित नहीं है। अनेक व्यभिचार की अथवा उसके उद्योग की रिपोर्टें पाई गई हैं।

(३) रोगियों की अधिकतर संख्या चलने-फिरने वाली होती है। वे घूमते-फिरते रहते हैं जिसकी उनको बहुत कुछ स्वतन्त्रता होती है। यह गति की स्वतन्त्रता चिकित्सा का एक ध्येय है। तो भी प्रत्येक रोगी के सम्बन्ध में—विशेषकर अतिमन्द और मध्यम मन्द के सम्बन्ध में—कर्मचारियों द्वारा निरीक्षण के पश्चात् यह निर्णय करना उचित है कि किस सीमा तक उनको स्वतन्त्रता दी जाय जिससे वे सुरक्षित रहें।

(४) कुछ ऐसे रोगियों की भी अल्पसंख्या होती है जिनमें अपराध करने की प्रवृत्ति होती है। कुछ व्यक्ति अपराध के कारण निरीक्षण (observation) के लिये अदालतों द्वारा भेज दिये जाते हैं। ऐसे रोगियों की सुरक्षा (security–व्यक्ति भागने न पावें) की बहुत आवश्यकता होती है और अपराध के मामलों में पुलिस उसका प्रबंध करती है। किन्तु अन्य रोगियों में भी ऐसे होते हैं जो प्रायः भाग जाते हैं। यद्यपि रात्रि के समय इनके कक्षों में ताले डाल दिये जाते हैं किन्तु वह पर्याप्त नहीं है। रोगियों को मूत्र या शौच त्याग के लिये जाना आवश्यक हो सकता है। ऐसे रोगियों के कक्षों के चारो ओर कुछ खुली भूमि छोड़ कर लोहे के तारों और खंभों का एक बाड़ा होना चाहिये जिसमें फाटक हों जिनमें ताला लगाया जा सके। इस प्रकार रोगियों को घूमने की भी स्वतन्त्रता रहेगी और सुरक्षा का भी उचित प्रबन्ध हो जायगा।

अस्पतालों में प्रशिक्षण (training)—सामान्य अस्पतालों में रोगी को रखकर उसकी चिकित्सा की जाती हैं और उसके रोगमुक्त हो जाने पर

उसको घर भेज दिया जाता है। किन्तु मानसमन्दों के अस्पतालों में समस्या बहुत जटिल होती है। यहाँ रोगी के अस्पताल में रहने की कोई सामयिक सीमा नहीं है क्योंकि रोगी की चिकित्सा उसके व्यवहार को बदल देना है। उसमें वे गुण उत्पन्न करने हैं जो उसको सामाजिक जीवन स्वतन्त्रतया व्यतीत करने योग्य बनावें। अतएव सारा प्रशिक्षण का प्रश्न है जिसमें समय भी अधिक लगता है और व्यक्तिगत प्रयत्न की भी अधिक आवश्यकता होती है। प्रत्येक व्यक्ति पर ध्यान देना और उसको व्यवहारात्मक शिक्षा देना वांछित होता है। बालक और प्रौढ़ों के प्रशिक्षण में अन्तर होता है। दोनों के ध्येय में कुछ अन्तर होने से प्रयत्नों के रूप में भी भेद करना होता है।

बालकों का प्रशिक्षण—बालकों को प्रशिक्षित करने का रूप वही है जो घर पर होता है। जैसे माता बालक को भिन्न-भिन्न कर्म करना सिखाती है, शौचत्याग, भोजन करना, वस्त्र पहिनना, खिलौनों को अपने स्थान पर रखना, मुख शुद्धि, बालों में कंघी करना, बातचीत करना, आदि। उसी प्रकार बालक को नित्य क्रियाओं में निपुण होने की शिक्षा देनी होती है। बालक में सामाजिक व्यवहार के गुणों का प्रादुर्भाव करना उसके लिये अत्यन्त महत्त्व का है। ये गुण **स्वतन्त्र क्रियापरायणता** (independent functioning) या **मौलिक जीवन कौशल** (basic living skills) कहे जाते हैं।

इसके लिये घर ही के समान वातावरण उत्पन्न करना आवश्यक है। जो परिचारिका बालक की देखभाल करती है उसके प्रति बालक के वे ही भाव हों जो उसके अपनी माता के प्रति होते हैं। यह परिचारिका के कौशल पर निर्भर करता है। अस्पतालों अथवा प्रशिक्षण केन्द्रों में यह संभव नहीं है। वहाँ एक परिचारिका को कम से कम १५–२० बालकों की देखभाल करनी होती है। फिर एक परिचारिका २४ घंटे बालक के साथ नहीं रह सकती। आठ घंटे काम करके वह अपने घर को चली जाती है और उसके स्थान पर दूसरी आ जाती हैं। इस प्रकार चौबीस घंटे में तीन परिचारिकायें बालक के सम्पर्क में आती हैं। फिर सब परिचारिकाओं का स्वभाव भी एक-सा नहीं होता, न बालकों ही का समान होता है। इन कारणों से घर का सा स्नेहपूर्ण वातावरण संस्थाओं में स्थापित करना असंभव है। अतएव मानसमन्द बालक को घर ही रखकर, उसकी देखभाल के लिये परिवार को सब प्रकार की आवश्यक सहायता पहुँचाना, सर्वोत्तम उपाय समझा जाता है। किन्तु कितनी ही दशाओं में, जिनका संक्षिप्त उल्लेख गत पृष्ठों में किया

जा चुका है, उनको माता-पिता से पृथक करके संस्था में रखना पड़ता है जहाँ उनकी देखभाल परिचारिकाओं द्वारा होती है। वे ही बालकों का प्रशिक्षण भी करती हैं। कुछ बड़ी संस्थाओं में प्रशिक्षक वर्ग पृथक ही होता है। आवश्यक यह है कि यह वर्ग बालकों के प्रशिक्षण की विधियों में भली प्रकार दीक्षित हो। उनको मानसमन्दों के उपचार की पूर्ण शिक्षा मिली हो। वास्तव में जो भी परिचारिकायें ऐसे बालकों की देखभाल करें उन सभी का भलीभाँति इस विषय की शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक है। उनके उचित आचरण पर ही मानसमन्द बालकों की प्रगति निर्भर करती है। उच्च कक्षा वाले बालकों को बाज़ार ले जाना, उनको खाने या पहनने अथवा खेलने की वस्तुओं को पसन्द करके खरीदने, उनके मूल्य का हिसाब करने, दुकानदार को मूल्य देने तथा हिसाब लगाकर शेष पैसों के वापिस लेने की शिक्षा देना उनके भावी जीवन के लिये बहुत आवश्यक है। समय-समय पर उनकी पार्टियों को बाहर ले जाना, और वहाँ मिलकर भोजन बनाना, आपस में बाँटकर सहभोज करना, मिलकर गाना तथा अपने वस्त्रों और अन्य वस्तुओं को सँभाल कर रखना यह सब उनकी शिक्षा का अंग है। सारांश में वे सब कलायें जो उनको समाज में अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये आवश्यक हैं उनको बाल्यकाल ही से सिखाना प्रारंभ करना उचित है।

वयस्कों का प्रशिक्षण—अधिक वय वाले मानसमन्द—किशोर तथा वयस्क—जो अस्पताल या संस्थाओं में रहने के लिये भरती किये जाते हैं, प्रायः दो प्रकार के होते हैं। एक वे जो सीधे घरों से आते हैं; दूसरे संस्थाओं से आते हैं। घरों से आने वाले रोगी अधिकतर मौलिक आचरणों में दीक्षित होते हैं। वे शारीरिक नित्य क्रियाओं में प्रशिक्षित किये जा चुके होते हैं। शौच जाना, भोजन करना, वस्त्र पहनना, अपनी आवश्यकताओं को प्रकट करना, इन सब की उनको माता-पिता द्वारा शिक्षा दी जा चुकी होती है। इस कारण उनकी देख-रेख अस्पताल के कर्मचारियों के लिए कठिन नहीं होती।

किन्तु ऐसे व्यक्ति जो शैशव काल ही से निवासस्थानों (hostels) या ऐसी छोटी-छोटी संस्थाओं में रखे गए हैं जहाँ उनके प्रशिक्षण का कोई प्रबन्ध नहीं है या जहाँ मौलिक आचरणों के प्रशिक्षण पर ध्यान नहीं दिया गया है वे वयस्क हो जाने पर भी अपनी शारीरिक दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में असमर्थ होते हैं। वे शौच की इच्छा तक प्रकट नहीं कर पाते। जहाँ-तहाँ निवासस्थान और अपने वस्त्रों को गन्दा कर देते हैं। वे शारीरिक आवश्यकता प्रकट करने में असमर्थ होते हैं। ऐसे व्यक्तियों का प्रशिक्षण वहीं से प्रारंभ करना होता है जहाँ शिशु अथवा अल्प वय के बालक का प्रशिक्षण

प्रारंभ. किया जाता है। उनको प्रथम नित्यक्रियाओं की पूर्ति में दीक्षित करना होता है। उसके पश्चात् वयस्क के लिये आवश्यक प्रशिक्षण की वारी आती है। उसके लिये मानसमन्द वयस्क को तैयार करना संस्था का कार्य है।

यहाँ मानसमन्दों को रखने वाली संस्थाओं के सम्वन्ध में कुछ सूचना असंगत न होगी। अमरीका और योरप में विशेषकर इंगलैंड में, व्यक्तियों ने मानसमन्दों तथा मनोविकारग्रस्त रोगियों को रखने के लिये ऐसी छोटी-छोटी संस्थायें जिनको निवासस्थान ही कहना चाहिये, खोलने का व्यवसाय कर लिया था। मानसमन्दों की देखरेख के लिये सरकार उनको रूपया देती थी। मानसविकार रोगियों से या उनके अभिभावकों से वे वड़ी-वड़ी फीस लेते थे। उनकी दृष्टि केवल आर्थिक लाभ की थी। रोगी को क्या होता है उसकी उनको अधिक चिन्ता नहीं थी। ऐसी दशा में मानसमन्दों के प्रशिक्षण पर ध्यान देना उनकी व्यावसायिक मनोवृत्ति के बाहर था। किन्तु दिखाने के लिये कुछ आडंवर रखना आवश्यक था। दीर्घकाल तक यह चलता रहा। अन्त में सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। अनेक अपराध सम्बन्धी मामलों में पुलिस द्वारा अन्वेषण किये गये और इस प्रकार की कितनी ही निजी संस्थाओं को वन्द किया गया और अनेक संस्थाओं के संचालकों पर केस चलाये गये तथा सरकार की ओर से अथवा नगरपालिकाओं द्वारा संचालित जो संस्थायें थीं, उनके प्रवन्ध में विशेषज्ञों द्वारा प्रस्तावित सुधार किये गये। सन् १९६२ में प्रेसीडेन्ट केनेडी ने मानसमन्दता के अन्वेषण और सुधार सम्वन्धी कमीशन बिठाया। उससे इस दिशा में विशेष उन्नति हुई। कमीशन के कार्य से न केवल अमरीका ही में मानसमन्दों की देखरेख, उनकी शिक्षा और प्रशिक्षण तथा दैनिक जीवन में प्रचुर सुधार हुआ, वरन् उससे संसार के सभी प्रगतिशील देशों ने लाभ उठाया।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका तात्पर्य यह है कि जव वालक के माता-पिता यह निर्णय कर लें कि वालक के हित के लिये उसको संस्था में रखना आवश्यक है तो उनको संस्था की भलीभाँति जाँच-पड़ताल करना आवश्यक है। वे कई वार संस्था में जाकर वहाँ के प्रवन्ध, भवन आदि का निरीक्षण करें, वहाँ पर रहनेवाले वालकों को ध्यानपूर्वक देख कर और उनके सम्वन्ध में पूछताछ करके स्वयं अनुमान करें कि कार्यकर्ताओं और परिचारिकाओं तथा परिचारकों का वालकों से कैसा व्यवहार है। गत वर्षों में वालकों में तथा वयस्कों में कैसी उन्नति हुई है। वहाँ से जो व्यक्ति मुक्त होकर जनसमुदाय में गये हैं उनके सम्वन्ध में कैसी रिपोर्ट है। इससे संस्था

के कार्य का कुछ अनुमान हो जायगा। फिर सामाजिक कार्यकर्ता तथा पारिवारिक चिकित्सक से भी बालक या वयस्क व्यक्ति के लिये उपयुक्त संस्था को चुनने में सहायता मिल सकती है।

विशेष प्रशिक्षण—अप्रशिक्षित वयस्क को मौलिक आचरणों में प्रशिक्षित करने के पश्चात् उनके विशेष प्रशिक्षण का प्रश्न उपस्थित होता है, उनको कौन-सा व्यवसाय सिखाया जाय जिससे वे अपना जीविकोपार्जन कर सकें और समाज पर भार न बनें। यह पाया गया है कि ५५ बुद्धि-लब्धि (I. Q.) वाले व्यक्ति कोई न कोई उपयोगी काम करने में सफल होते हैं, यदि उनके शरीर में कोई ऐसी विकलांगता न हो जो उनको कर्म करने में अशक्त कर दे। संवेगात्मक क्षोभ (emotional disturbance) भी व्यक्ति को व्यवसाय के अयोग्य बना देता है। इन दोषों से मुक्त होने पर उसके किसी व्यवसाय में लग जाने की पूर्ण संभावना रहती है।

अतएव प्रथम व्यक्ति का बुद्धि मापन (mental testing) आवश्यक है। उसके पश्चात् यह ज्ञान करना आवश्यक है कि किस व्यवसाय में उसको रुचि है, जिसको वह भलीभाँति सम्पूर्ण कर सकता है। उसकी सफलता कुछ सीमा तक समाज के सहयोग पर भी निर्भर करती है, फिर भी उसके अपने गुण और दोष सर्वोपरि हैं। समाज का सहयोग भी उसी के गुणों अथवा तीव्र दोषों से मुक्त होने पर निर्भर करता है। समाज साधारणतः व्यक्ति के अनुकूल होता है, वह अपने आपद्ग्रस्त सदस्य के साथ सहानुभूति पूर्वक व्यवहार करता है। किन्तु यदि व्यक्ति में अपराधी वृत्तियों के होने से (psychopath) समाज को उसके आचरण के कारण भय उपस्थित होता है, तो समाज उसको सहन नहीं कर पायगा। उसके दोषों को यथा-संभव मिटाना और उसको व्यवसाय के योग्य बनाना तथा समाज के अनुकूल आचरण सिखाना उस संस्था का काम है जिसमें वह प्रशिक्षण तथा सुधार के लिये भरती है।

व्यवसाय के प्रशिक्षण के लिये व्यक्ति की अभिरुचि के अतिरिक्त यह भी देखना आवश्यक कि जिस क्षेत्र में वह रहता है या संस्था से जाने के पश्चात् रहेगा वहाँ उसे कौन-सा काम मिल सकता है। उस क्षेत्र में जो उद्योग (industry) अधिक होता है उसी में उसको काम मिलने की अधिक संभावना है। वह किसी फैक्टरी में श्रमिक का काम कर सकता है, जिस प्रकार का भी काम मिल जाय—दफ्तरों में चपरासी का, चौकीदार का, पत्रवाहक का, माली का, होटलों में प्लेट स्वच्छ करने का, ग्राहकों को

प्लेटों में ले जाकर आहार परोसने का तथा ऐसे ही अन्य काम मिल सकते हैं। इनमें से उपयुक्त काम को व्यक्ति तथा मनोविज्ञानी और प्रशिक्षक की सलाह से चुन कर उसको सिखाना उपयोगी है। यदि एक से अधिक व्यवसाय सिखाये जा सकें तो अत्युत्तम है।

स्त्री व्यक्तियों को घरेलू काम मिलने की अधिक संभावना रहती है। आज कल फैक्टरियों में बहुत स्त्रियाँ काम करती हैं। भोजन बनाना, सीना तथा बुनना स्त्रियों के ही विशेष काम माने जाते हैं।

एक और भी ध्यान रखना उचित है। बालकाल में संस्था में भरती होकर वयस्क हुए, तब उनका व्यवसाय के लिये प्रशिक्षण हुआ, उसके पश्चात् वे संस्था से बाहर एक नये अपरिचित संसार में जाने को तैयार हुए। इस दीर्घ काल में पहले का, जब वे संस्था में आये थे, संसार ही बदल जाता है। बहुतों के माता-पिता संसार का त्याग कर जाते हैं अथवा इतने वृद्ध और अशक्त हो जाते हैं कि वे संस्था से लौटी हुई अपनी सन्तान के लिये कुछ भी कर सकने योग्य नहीं रहते। जो उनके भाई-बहिन थे उनको अब उनसे कोई स्नेह नहीं रह जाता। वे उनको अपने साथ रखना नहीं चाहते। बहुतों का कोई नहीं होता।

इस प्रकार संस्था छोड़ने पर उनको जाने के लिये कोई घर नहीं होता, कोई स्थान नहीं होता, जहाँ वे जा सकें। ऐसे समय पर संस्था के कार्यकर्ता का कर्तव्य है कि वह उस व्यक्ति के लिये ऐसा काम खोज निकाले जिसके साथ उसको रहने का स्थान और भोजन भी मिले। होटलों में, निवासस्थानों में, निजी घरों तथा संस्थाओं में ऐसी सेवायें मिल जाती हैं। किन्तु इस प्रकार की सेवाओं के लिये व्यक्ति को सब प्रकार से तैयार कर देना, उसको उन सामान्य कौशलों की शिक्षा दे देना जिनकी उसको इस प्रकार की सेवाओं में आवश्यकता होगी, संस्था का उत्तरदायित्व है।

उद्योग सम्बन्धी प्रशिक्षण (industrial training)

किसी समय यह माना जाता था कि मानसमन्द कुछ भी उपयोगी काम नहीं कर सकते; वे अपने शरीर की भी देखरेख नहीं कर सकते, उपयोगी कार्य की कौन कहे। उनको पशु से भी तुच्छ समझा जाता था जो समाज पर केवल भार थे। इस कारण उनसे उसी प्रकार का व्यवहार किया जाता था। उनके चारों ओर का वातावरण ही ऐसा होता था कि मानसिक उन्नति के स्थान में उनकी अवनति होती चली जाती थी। कुछ मनोविज्ञानियों का, जो अस्पतालों में रोगियों के साथ काम करते थे, इस

ओर ध्यान गया और उन्होंने मानसमन्दों की कार्यक्षमता सम्बन्धी अन्वेषण करना प्रारम्भ किया। सन् १९५२ से इस दिशा में विशेष अन्वेषण हुये जिनसे यह पता चला कि न केवल अल्पमानसमन्द किन्तु ३० बुद्धि लब्ध (I. Q.) वाले मानसमन्द भी बहुत से औद्योगिक धन्धों को उसी प्रकार कर सकते हैं जैसे सामान्य बुद्धि वाले करते हैं। तब से मानसमन्दों को भी औद्योगिक प्रशिक्षण दिया जाने लगा है। अब बहुत से मानसमन्द फैक्टरियों में काम करते हैं जिनका प्रशिक्षण अस्पतालों या संस्थाओं से संलग्न उद्योग शालाओं में (workshop) किया जाता है। प्रत्येक बड़ी संस्था के साथ ऐसी उद्योगशालायें बनाई जाती हैं जिनमें शिक्षित कर्मचारी नियुक्त होते हैं। जिनका कार्य मानसमन्दों को प्रशिक्षित करना होता है।

जिन उद्योगों में ऐसे व्यक्तियों को सहज में प्रशिक्षित किया जा सकता है ये हैं—भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं को बन्द करके बाजार में विक्रय के लिये या दूर के नगरों में भेजने के लिये कार्डबोर्ड के बक्स बनाना। इसको packaging कहा जाता है। चीनी की छोटी-छोटी वस्तुयें बनाना जो ceramics कहलाता है। मोमबत्ती बनाना।

कुछ को ऐसी कलायें भी सिखाई जा सकती हैं :—

बढ़ई का काम (carpentry)
खिलौने बनाना (toy making)
लोहे या टीन की वस्तुयें बनाना
सोना (sewing)
कृषि सम्बन्धी काम
बगीचे में काम करना, पुष्प उद्यान लगाना (gardening)
मशीनों पर काम करना (machinist)

अन्य ऐसे धन्धे जो दैनिक या औद्योगिक जीवन में उपयोगी हों आविष्कृत किये जा सकते हैं।

उद्योग संबन्धी प्रशिक्षण की योग्यता का निर्णय बहुत आवश्यक है। मानसमन्द इस योग्य भी है, उसमें ऐसे प्रशिक्षण को ग्रहण करने की योग्यता है या नहीं—इसका भलीभाँति निश्चय कर लेना उस व्यक्ति के हित के लिये तथा उद्योग, दोनों के लिये हितकर है। प्रायः अल्प मानसमन्दों ही को औद्योगिक प्रशिक्षण के योग्य पाया जाता है। फिर बहुत कुछ उद्योग पर भी निर्भर करता है। खिलौनों, जूतों, दवाओं, तेलों या मसालों की शिशियों को बन्द करने के लिये कार्डबोर्ड के बक्सों को बनाने का प्रशिक्षण मृदु या

मध्यम मानसमन्द को भी दिया जा सकता है। किन्तु मशीन चलाने का काम अल्पमानस मन्द के लिये भयप्रद होना संभव है।

उद्योग के अनुसार मानसमन्द का मूल्यांकन आवश्यक है।

मूल्यांकन उसी प्रकार किया जाता है जैसे मानसमन्दता का निर्णय होता है। प्रथम, व्यक्ति की **शारीरिक परीक्षा** की जाती है जिससे उसकी शारीरिक त्रुटियों का निश्चय होता है। यदि मानसमन्द विकलांग है तो उसकी उद्योग-प्रशिक्षण की योग्यता में विशेष सन्देह हो सकता है। विकलांग होने पर भी वह उद्योग प्रशिक्षण योग्य हो सकता है।

शारीरिक परीक्षा के पश्चात मानसिक (psychological) परीक्षा की जाती है जिससे उसकी प्रवृत्तियों का निश्चय होता है। उपलब्धि (achievement) और अभिरुचि (aptitude) परीक्षाओं द्वारा उसकी रुचि, काम करने की सामर्थ्य तथा निपुणता का बोध होता है और मानसिक परीक्षण द्वारा बुद्धिलब्धि का।

सामाजिक मूल्यांकन (social evaluation)—यद्यपि इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है, तथापि बहुत आवश्यक और उपयोगी पाया गया है। यह मूल्यांकन सारे परिवार से संबंधित होता है। परिवार के प्रत्येक व्यक्ति का इतिहास खोजा जाता है, पूर्वजों तक का। तब स्वयं मन्द व्यक्ति का परिवर्धन संबन्धी इतिहास, उसकी शिक्षा, उसका स्कूल का लेखा (record), सहपाठियों तथा उसके सम्पर्क में आने वाले अन्य व्यक्तियों, शिक्षक वर्ग तथा परिवार वालों से व्यवहार—इन सब बातों की सूचना की रिपोर्ट प्राप्त करनी होती है। व्यक्ति ने कहीं काम किया है या नहीं। यदि किया है तो कितने समय तक। उस काल की उसके अधिकारियों की तथा अध्यक्ष की उसकी निपुणता, योग्यता, रुचि, व्यवहार, अन्य साथ के काम करने वालों के साथ सहयोग आदि संबंधी रिपोर्ट प्राप्त करना आवश्यक है।

ये सब अन्वेषण सामाजिक कार्यकर्ता अथवा व्यवसाय पुनःस्थापन उपबोधक (vocational rehabilitation counsellor) द्वारा किये जाते हैं। कई बार कई अन्वेषक मिलकर अन्वेषण पूर्ण करते हैं।

कर्म मूल्यांकन (work evaluation)—इसका तात्पर्य व्यक्ति की क्रियाशैली (work habits) , उसकी निपुणता (skills), अपने निरीक्षकों अथवा अध्यक्षों के प्रति व्यवहार, जिनकी देखरेख में उसने काम किया है, अन्य काम करने वालों के साथ आचरण आदि का ज्ञान करना है। यह मूल्यांकन वास्तविक दशाओं में अर्थात् फैक्टरी ही में जहाँ वह काम करता है,

वहाँ पर कई परीक्षकों द्वारा किया जाता है जो वहाँ इसी मूल्यांकन के लिये नियुक्त होते हैं। यह क्रिया अल्प समय में या एक या दो परीक्षणों द्वारा पूरी नहीं हो सकती। पर्याप्त समय तक व्यक्ति का निरीक्षण करते रहने के पश्चात निरीक्षक अपनी-अपनी रिपोर्ट दे पाते हैं। यह भी आवश्यक नहीं है कि केवल एक ही फैक्टरी या वर्कशाप (workshop) में मूल्यांकन समाप्त हो जाय। व्यक्ति को कई वर्कशापों में निरीक्षण के लिये भेजा जाय। ऐसी दशा में सभी निरीक्षक कर्मचारियों से रिपोर्ट माँगी जाती है।

उपर्युक्त सब रिपोर्टें आ जाने पर समिति द्वारा उन पर विचार किया जाता है। समिति की बैठक में वे सभी मुख्य निरीक्षक कर्मचारी उपस्थित होते हैं जिन्होंने रिपोर्ट भेजी है। पूर्ण विचार के पश्चात यह निश्चय किया जाता है कि व्यक्ति उद्योग-प्रशिक्षण के योग्य है या नहीं। यदि योग्य है तो कौन-से उद्योग के लिये उसको प्रशिक्षण देना उपयोगी होगा, किस उद्योग में उसको ऐसी नियुक्ति या सेवा मिल सकती है जिससे उसको इतना वेतन मिल सके जो उसके स्वतन्त्र जीवन के लिये पर्याप्त हो।

व्यवसायिक परिशिक्षण (vocational training)—उद्योग और व्यवसाय शब्दों में बहुत कुछ समानता होने पर भी व्यवसाय शब्द अधिकतर व्यक्ति से सम्बन्धित है और उद्योग व्यक्तिनिर्मित समूह से। जो व्यक्ति जीवन निर्वाह के लिये छोटे-मोटे काम कर लेते हैं जैसे घरों में काम करना, बगीचों में माली का काम, कपड़े धोना (धोबी), हजामत बनाना (नाई), परिचारिका (nursing) का काम—ये व्यवसाय कहे जाते हैं। बहुत व्यक्ति मिल कर जो कारखाने बनाते हैं जहाँ किसी विशेष वस्तु का उत्पादन किया जाता है, वह उद्योग कहा जाता है।

व्यवसाय प्रशिक्षण से तात्पर्य है किसी कर्म करने की शैली का अभ्यस्त बनाना, कर्म में निपुणता उत्पन्न करना, कर्म की ओर अभिवृत्ति (attitude)। काम पर समय से जाना, काम में सुचारुता, स्वच्छता और व्यक्तिगत शारीरिक स्वच्छता; वस्तुओं को यथास्थान रखना, कर्म में क्रम का व्यवहार जिससे अस्तव्यस्तता न होने पाए। ये गुण न केवल सामान्य घर सम्बन्धी व्यवसायों ही में उपयोगी हैं किन्तु उद्योग के कर्मों में भी हितकर, वरन आवश्यक होते हैं।

इन गुणों का व्यक्ति में प्रादुर्भाव करना, उसमें इन गुणों का इस प्रकार समावेश कर देना कि वे उस व्यक्ति का स्वभाव ही बन जाँय, यही व्यवसायिक प्रशिक्षण का अभिप्राय होता है।

यह दो प्रकार से सम्पन्न किया जाता है। एक व्यवसायिक अनुदेशकों (vocational instructors) द्वारा, स्कूल में विद्यार्थियों की क्लासों के समान चुने हुए व्यक्तियों की श्रेणियाँ बनाकर उपदेश, प्रदर्शन आदि द्वारा और दूसरे व्यवसाय या उद्योग के प्रशिक्षणकेन्द्र में कर्म करने के समय, जहाँ स्वयं नियोजक (employer) नियोज्यों (employees) के प्रशिक्षण का निर्देशन करता है।

जिन्होंने मानसमन्द वयस्कों का प्रशिक्षण किया है उनका अनुभव यह है कि किसी भी उद्योग में मन्द वयस्कों को उद्योग निपुण बनाना इतना कठिन नहीं है जितना उनको व्यवसायिक गुण सिखाना। समय पर काम पर पहुँचना, शारीरिक और कर्म सम्बन्धी स्वच्छता, अन्य काम करने वालों के साथ सहयोग, सामाजिक व्यवहार में सज्जनता, सुचारुता आदि की शिक्षा देना अधिक कठिन है।

मानसमन्द वयस्कों की नियुक्ति (job placement)—प्रशिक्षण के पश्चात् मन्द वयस्कों की नियुक्ति का प्रश्न रह जाता है। उनको ऐसी नियुक्ति दिलाना जहाँ उनको समाज में अपने स्वतन्त्र जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त वेतन मिल जाय, यह काम व्यवसाय पुनः स्थापन उपबोधक का है जिसको अनेक संस्थाओं से इसी उद्देश्य से सम्पर्क स्थापित करना पड़ता है। उद्योगपतियों तथा अन्य संस्थाओं से, जिनमें श्रमिकों की प्रचुर संख्या काम करती है, सम्बन्ध स्थापित करना तथा उनको मानसमन्दों को नियोजित करने के लिए सहमत कर लेना कठिन कार्य है। उपबोधक का चातुर्य तथा उद्योगों और संस्थाओं की आवश्यकतानुसार मन्द वयस्कों को प्रशिक्षित कराना ही उसकी सफलता की कुञ्जी है। योरप के कई देशों में तथा अमरीका के कई प्रदेशों में इस कार्य के लिए सरकारी विभाग बना दिये गये हैं जो उद्योगों के सञ्चालकों से लिखा-पढ़ी करते रहते हैं और मन्दों को नियुक्त कराने में सफल होते हैं। उनके निरन्तर उद्योग से कुछ ऐसी संस्थाएँ बन गई हैं जिनमें कुछ सञ्चालकों के अतिरिक्त सब काम करने वाले मन्द वयस्क हैं।

मानसमन्दों की नियुक्ति में सदा कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। उद्योगों के सञ्चालकों को यह भय रहता है कि प्रशिक्षित मन्द व्यक्तियों को नियुक्त करने से उनकी उत्पादन शक्ति कम हो जायगी। मन्द व्यक्ति उतना उत्पादन नहीं कर पायेंगे, जितना सामान्य व्यक्ति कर सकते हैं। इसमें कुछ सत्य हो सकता है। किन्तु जातीय हानि की दृष्टि से मन्दों को कामों में लगाना, निरर्थक जनता को आंशिक सार्थक बनाना यह भी जाति या देश-

दृष्टि से बहुत बड़ा लाभ है। उसको भलीभाँति समझ लेने पर अनेक सञ्चालक ऐसे व्यक्तियों को अपने उद्योगों में छोटे-मोटे काम देते हैं। फिर जब से राष्ट्रपति केनेडी ने अमरीका में इस समस्या को हल करने पर ध्यान दिया तब से न केवल अमरीका में ही किन्तु अन्य देशों में भी मानसमन्दों की शिक्षा, प्रशिक्षण और उपयोगी धन्धों में उनकी नियुक्ति पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है। अमरीका के कई प्रदेशों में गवर्नरों द्वारा उनके नियोजन के लिये आदेश जारी कर दिये गये हैं। कैलिफोर्निया में सन् १९६६ में मानसमन्दों के लिये १५०० नियुक्तियों का विधान किया गया। और भी कितनी ही निजी संस्थायें इस दिशा में सफल हुई हैं।

योग्य मानसमन्दों के प्रशिक्षण तथा पुनःस्थापन में शिल्पशालाओं या वर्कशापों (workshops) का स्थान

वर्कशाप केवल मानसमन्दों के प्रशिक्षण के लिये काम करने के स्थान ही नहीं होते, वे वास्तव में कार्यक्रम होते हैं जहाँ कई विभाग या संस्थायें मिलकर मानसमन्दों के पुनःस्थापन का कार्य करती हैं। यद्यपि उनके कार्य भिन्न दिशाओं में होते हैं, किन्तु उनका सामूहिक तात्पर्य उनकी देखभाल करना, व्यवसायिक प्रशिक्षण देना, परामर्श देना, उपयुक्त नियुक्ति दिलानी, उसके पश्चात् उनको देखते रहना कि वे भली प्रकार काम कर रहे हैं, नियोजक या सहकर्मचारियों के साथ उनका कोई झगड़ा तो नहीं होता है, उनका जीवन सुचारु रूप से चल रहा है, उनको अपने नवीन जीवन में भी सब माँगों की सहायता पहुँचाना—यह सब वर्कशाप में किया जाता है। इससे सहज में समझा जा सकता है कि उनका कार्यक्षेत्र कितना विस्तृत है। ऐसी शिल्पशालाओं या वर्कशापों का उद्देश्य मूल्याङ्कन के पश्चात् चुने हुए अधिक योग्य मानसमन्दों का प्रशिक्षण करके उनको उपयुक्त नियुक्ति दिलवाकर सामान्य जन-जीवन प्रवाह में भेज देना है। अतएव मानसमन्द थोड़े ही काल में इस वर्कशाप से मुक्त होकर स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना आरम्भ करता है।

इस प्रकार के वर्कशाप लघुकल्पित (short term) अस्थिर अथवा परिवर्तनी (transitional) वर्कशाप, अथवा प्रशिक्षण केन्द्र (training centres) या व्यवसायिक केन्द्र (occupational centres) भी कहे जाते हैं।

दीर्घकालिक वर्कशाप (long term workshops)—इन वर्कशापों में ऐसे मानसमन्दों को जो व्यवसायिक प्रशिक्षण के अयोग्य होते हैं,

अर्थात् जिनका I. Q. कम होता है उनको दीर्घ काल तक रखा जाता है। व्यवसायिक या औद्योगिक जीवन में स्वतन्त्र जीवनोपार्जन के अयोग्य होने के कारण मानसमन्दों को ऐसे कामों में नियुक्त किया जाता है जहाँ उनको कुछ वेतन भी मिलता रहे। अनेक तीव्र अथवा मन्द मानसमन्दों को जीवन भर इस प्रकार के किसी काम में लगाना होता है जहाँ निर्वाह के लिए उनको कुछ मिलता रहे। इन्हें **आश्रित शिल्पशालायें** (sheltered workshops) कहा जाता है। इस संस्थाओं के सञ्चालकों को उद्योगों के साथ सम्पर्क स्थापित करके उनके लिए ऐसी आवश्यक वस्तुओं को बनाने के आर्डर या ठेके प्राप्त करने होते हैं जो वहाँ काम करने वाले मानसमन्द बना सकें। इन मानसमन्दों में भी कोई अधिक काम कर सकता है, कोई कम कर पाता है; कुछ का काम उत्तम होता है, कुछ का वैसा नहीं होता। उसी के अनुसार उनको वेतन भी कम या अधिक मिलता है।

संस्थायें या अस्पताल जहाँ मानसमन्दों को रखा जाता है उनको दोनों प्रकार के वर्कशाप बनाने होते हैं; एक **लघुकालिक** जहाँ अधिक योग्य वयस्क मानसमन्दों का प्रशिक्षण और उसके पश्चात् उनको औद्योगिक जीवन में प्रविष्ट करके अपने पाँवों पर खड़े होने योग्य बनाया जाता है और दूसरे **दीर्घकालिक वर्कशाप** जहाँ कम योग्य या गाढ़ मानसमन्दों के दीर्घ-काल तक या आजन्म जीवन निर्वाह के लिये कुछ आयोजन करने होते हैं जिनसे वे कुछ व्यवसाय भी सीखते रहें, उनका व्यवसाय तथा सामाजिक व्यवहार सम्बन्धी प्रशिक्षण भी होता रहे और उसका कुछ पारिश्रमिक भी मिलता रहे जिसको वे अपने श्रम द्वारा जीवनोपार्जन समझें। उनकी मानसिक योग्यता को उन्नत करने के लिये यह बहुत आवश्यक है कि उनमें ये भाव उत्पन्न हो जायें कि वे स्वयं जीवनोपार्जन के योग्य हैं।

ये वर्कशाप शिल्पशिक्षालय तथा फैक्टरी दोनों का काम करते हैं। शिक्षालयों के समान समयविभाग करके प्रशिक्षार्थियों की गणना करना, वस्तुओं को सम्भालना, अपने किये कर्म का ब्योरा रखना, औजार या जिनके द्वारा वे अपना काम करते हैं, उनकी स्वच्छता और क्रम से सजाना, दिया हुआ काम करना, यह सब कराया जाता है। बीच-बीच में उपहार के लिए अवकाश (intervals) भी होता रहता है। दोपहर के भोजन के पश्चात् फिर दो या तीन घण्टे का कार्यक्रम होता है। संध्या काल की छुट्टी के पश्चात् उनको खेलने तथा अन्य प्रकार के आमोद-प्रमोद के लिए उत्साहित करना भी संस्था के क्रमानुसार आवश्यक अंश है।

० बीच-बीच में छुट्टियों के दिनों में बालकों तथा वयस्कों के लिये सांस्कृतिक भावों को उत्पन्न करनेवाले आयोजनों की रचना करना बहुत आवश्यक माना गया है। अधिकतर मानसमन्द ऐसे परिवारों से आते हैं जहाँ उनको सामाजिक संसर्ग या सांस्कृतिक वातावरण का अनुभव नहीं प्राप्त हुआ है। उनको ऐसे अवसरों को जितना प्राप्त कराया जा सके उतना ही उनके सुधार के लिये हितकर है।

गाढ़ मानसमन्दों की उन्नति—यह भलीभाँति प्रमाणित हो चुका है कि यह मान लेना कि गाढ़ मानसमन्दों में प्रशिक्षण से उन्नति नहीं हो सकती भारी भूल है। यह भ्रम अनेक प्रयोगों द्वारा निर्मूल सिद्ध हो चुका है। यह अवश्य है कि जो तीव्र मानसमन्द हैं जिनमें बहुत कुछ विकलाङ्गता भी होती है वे कदाचित् स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने के योग्य कभी न हों, उनको निरीक्षकों और सहायकों की देखरेख की आजन्म आवश्यकता रहे। किन्तु उनके व्यवहार में बहुत कुछ उन्नति सम्भव है। अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति में उनको भी बहुत कुछ दीक्षित किया जा सकता है।

जो इतने प्रगाढ़ मानसमन्द नहीं हैं उनको कितनी ही बार उचित दीर्घकालिक प्रशिक्षण के पश्चात् योग्य मानसमन्दों की पंक्ति में सम्मिलित होते देखा गया है और उनको स्वतन्त्र जीवन निर्वाह के लिए उपयोगी नियुक्तियाँ प्राप्त हो गई हैं।

अति अयोग्य (प्रगाढ़) मानसमन्दों का समुदाय में स्थान

ये अतिमन्द वयस्क किसी प्रकार का उत्पादन सम्बन्धी कार्य नहीं कर सकते। उनको नित्य शारीरिक कृत्य भी सिखाना पड़ता है। शौच जाना, मुख शुद्धि, स्नान करना, वस्त्र पहनना, भोजन करना, अपने रहने के स्थान को स्वच्छ रखना, अपनी वस्तुओं को रखना, आपद् स्थानों या स्थितियों से दूर रहना, इन सब की उनको शिक्षा देनी होती है। कितनों को यह भी ज्ञान नहीं होता कि अग्नि से वे जल जाएँगे, दौड़ती हुई मोटर से वे कुचल जायेंगे। ऐसी आपदाओं से उनकी रक्षा करना दूसरों का काम है।

प्रत्येक मन्द की अपनी अलग विचित्रता होती है, जितने व्यक्ति होंगे, उतनी ही उनमें भिन्नताएँ होंगी। बहुत से अल्प वय ३,४ वर्ष के बालकों के खिलौनों अथवा शिशुओं के झुनझुनों ही से खेलते रहेंगे, उन्हीं के समान चेष्टायें करेंगे। कुछ तनिक-तनिक सी बातों पर, उनसे कोई खिलौना ले लेने से, उनको अपने स्थान से हटा देने से, रोने लगेंगे और घंटों

रोते रहेंगे। कुछ में सदा कुछ न कुछ निरर्थक क्रियायें करने की प्रवृत्ति होती है। हाथों को हिलाते रहेंगे, शिर को घुमाते रहना, इधर-उधर घूमते रहना, इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ। कुछ में तोड़ने-फोड़ने की प्रवृत्ति होती है, कुछ इतने शिथिल होते हैं कि वे घंटों एक ही स्थान में बैठे रहेंगे।

ये सब दोष एक ही मन्द वयस्क में नहीं पाए जाते, किसी में कोई दोष होता तो दूसरे में दूसरा, किन्तु बुद्धि की अल्पता का दोष सब ही में होता है जो भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट होता है।

किसी समय समझा जाता था कि ऐसे व्यक्तियों को रखने के लिये संस्थायें या अस्पताल ही उपयुक्त स्थान हैं। वहीं उनकी देखरेख और प्रशिक्षण भली प्रकार हो सकता है। किन्तु अब सभी विद्वान तथा मानसमन्दों के साथ काम करने वाले इस पर सहमत है कि यदि मानसमन्द के परिवार वाले उसकी देखरेख कर सकें तो उसके रहने के लिये उसका परिवार ही सर्वोपयोगी स्थान है। वहीं उसको सामुदायिक जीवन (living in community) मिल सकता है। परिवार वालों पर अवश्य ही बहुत भार बढ़ जाता है, किन्तु उनको सब प्रकार की सहायता दे कर उनका भार बहुत कुछ घटाया जा सकता है।

तो भी ऐसे मन्द व्यक्तियों की संख्या कम नहीं होती जिनका पारिवारिक वातावरण उनके लिये अनुकूल नहीं होता। माता-पिता बूढ़े होते हैं जो उसकी देखरेख नहीं कर सकते। या वे बीमार रहते हैं। निर्धनता बहुत बड़ा कारण हो सकता है। मानसमन्द के कई भाई-बहिन होने से माता-पिता उस मन्द पर अधिक ध्यान देने में असमर्थ हो सकते हैं। इन कारणों से उनके रहने के लिये संस्थायें, होस्टल, या अस्पताल बनाने आवश्यक होते हैं।

संस्थाओं में संचालन के लिये एक कार्यशैली बनानी पड़ती है जिसके अनुसार वहाँ रहने वालों को कार्य करना होता है। मानसमन्दों का प्रशिक्षण, उनकी देखरेख, भोजन, स्वच्छता, उनका स्वास्थ्य, मनोरंजन ये सब संस्था के उत्तरदायित्व होते हैं। इस कारण संस्था के कर्मचारियों को कड़ा नियंत्रण भी करना आवश्यक होता है। इससे वहाँ रहने वालों का जीवन नियंत्रित शासनानुकूलित हो जाता है। इस कारण व्यक्ति को स्वतन्त्र गति का अथवा स्वाधीन उत्तेजन (stimulus) ग्रहण करने का बहुत कम अवसर रह जाता है। इधर कई बार शासन द्वारा स्थापित संस्थाओं में रहने वालों का इस दृष्टि से अन्वेषण किया गया है जिससे यह पाया गया

है, कि इन संस्थाओं में रहने वालों में अधिकतर ऐसे थे जिनको सामुदायिक जीवन में प्रविष्ट किया जा सकता था। उनको उनके परिवार ही में, अथवा किसी संचालित नर्सिग होम में अथवा पारिवारिक आश्रम (जिनमें पारिवारिक व्यक्ति देखभाल करते हैं) में रखा जा सकता था। जिन परिवारों के मन्द व्यक्ति संस्थाओं में भरती थे उनसे पूछताछ करने पर भी अनेक दम्पतियों ने अपनी सन्तान को अपने घर पर रखने ही की इच्छा प्रकट की। जो नहीं रख सकते थे उन्होंने भी मन्द सन्तान को अपने घर के पास ही रखना पसन्द किया जिससे वे उनको अधिक बार देख सकें और निकट सम्बन्ध स्थापित कर सकें।

आज कल यही मत प्रचलित है और इसी के अनुसार कार्यवाही की जा रही है। मानसमन्दों को संस्थाओं में न रख कर, सामुदायिक जीवन ही में भेजा जा रहा है। यह मानसमन्द के लिये भी हितकर है और उसमें सरकार को भी कम व्यय करना होता है। प्रथम तो मन्दों को उनके परिवारों में ही रखा जाय और परिवार को सब प्रकार की सहायता दी जाय। आवश्यक होने पर उनको आर्थिक सहायता भी दी जाय तथा अन्य सेवाएँ भी उनको उपलब्ध हों। इस कार्यक्रम में आशातीत सफलता हुई है मानसमन्दों की एक बड़ी संख्या संस्थाओं से निकल कर सामुदायिक जीवन (community life) में जा चुकी है।

कुछ आवश्यक सेवायें

१. माता-पिता या परिवार को परामर्श देना (counselling)

मानसमन्द बालक के घर में होने से सारा पारिवारिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। पहली बार जब माता-पिता को मालूम होता है कि उनका शिशु मन्द है तो उनको घोर मानसिक धक्का लगता है। वे अपने को अपराधी मानने लगते हैं और इस भाव से सदा पीड़ित रहते हैं। शिशु के बालक हो जाने पर उस मानसिक व्याघात के साथ उसकी देखरेख में उनको अधिक समय लगाना पड़ता है। ज्यों-ज्यों बालक बढ़ता जाता है उनकी कठिनाइयाँ भी उतनी ही अधिक होती जाती हैं। वे नहीं जानते कि उनको कैसे संभालें। प्रत्येक समय वे उसी के साथ व्यस्त रहते हैं। वयस्क हो जाने पर उनको घर ही के भीतर रोक कर रखना, प्रत्येक समय आपदाओं से बचाना, खाने पीने, स्वच्छ रहना, वस्त्रादि को देखना, यह सब उनके लिये दुःसह हो जाता है। ऐसे बालकों या वयस्कों का नियंत्रण करने का उनको कोई अनुभव नहीं होता।

ऐसी दशा में उनको एक शिक्षित परामर्शदायक (counsellor) की सहायता बहुत लाभदायक होती है। ये परामर्शदाता मानसमन्दों के उपचार में विशेषकर दीक्षित होते हैं। इनकों बड़ी-बड़ी संस्थाओं में नियुक्त करके मानसमन्दों का स्वयं उपचार करने का अनुभव होता है। मन्दों के भिन्न प्रकार के व्यवहारों से वे परिचित हो जाते हैं और जानते हैं कि किस स्थिति को किस प्रकार संभाला जाय। फिर उनको इसी विषय की निरन्तर शिक्षा मिलती रहती है।

ऐसे व्यक्तियों के परामर्श, उनके सुझाव दुखित माता-पिता के लिये बहुत हितकर होते हैं। उनसे उनको बहुत सान्त्वना मिलती है और वास्तविकता मालूम हो जाने से उनके भावों में बहुत कुछ परिवर्तन हो जाता है। वे अपने को अपराधी मानना बन्द कर देते हैं। यह विश्वास कि उनकी कठिनाइयों को सुलझाने में कोई अनुभवी व्यक्ति उनका पथप्रदर्शन और सहायता करने वाला है, उनके धैर्य और साहस को बनाये रखने में विशेष सहायक होता है।

२. **जनस्वास्थ्य परिचारिका** को साधारणतया public health nurse कहा जाता है, उसके मानसमन्द के घर पर समय-समय पर जाने से माता-पिता को बहुत सहायता मिल सकती है। वह मानसमन्द को खिलाने-पिलाने, वस्त्र पहनाने, उसकी स्वच्छता, मनोरंजन, स्वतंत्रता से घूमने तथा खेलने आदि में विशेष सहायक हो सकती है। नैदानिक केन्द्रों (diagnostic centres), परामर्श केन्द्रों (counselling services), संस्थाओं तथा अन्य स्वास्थ्य सेवाओं (health services) से संबंधित होने के कारण वह मन्द व्यक्ति के लिये उन सेवाओं को प्राप्त करने में बहुत उपयोगी हो सकती हैं। कितनी ही बार माता-पिता मन्द सन्तान की इतनी चिन्ता तथा देखरेख करते हैं कि उसको स्वयं कुछ सीखने का अवसर ही नहीं मिलता। यह अतिसेवा भी मन्द के लिये हानिकारक होती है। एक शिक्षित उपचारक या उपचारिका यह भलीभाँति समझ सकती है कि मानसमन्द को अतिसुरक्षा (overprotection) से कितनी हानि पहुँच सकती है। उसका प्रत्येक काम कर देने की अपेक्षा उसको अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की स्वयं पूर्ति करना **सिखाना अधिक उपयोगी है**। माता-पिता की यह शिक्षा उनके और मानसमन्द दोनों के लिये हितकर है।

३. एक और सेवा जो homemakers service कहलाती है अनेक माता-पिता के लिये बड़ी उपयोगी होती है। हमारे देश में इस प्रकार की

सेवा प्रचलित नहीं है, किन्तु योरप, अमरीका, कनाडा आदि देशों में इसका बहुत प्रचार है। ये प्रायः शिक्षित स्त्रियाँ होती है जो आवश्यक होने पर घर पर आकर घर का सब काम कर देती हैं। भोजन बनाना, घर की स्वच्छता करना, अशक्त रोगी (invalid) या मानसमन्द की देखभाल करना, वस्त्रों को धोना, आदि कामों में वे सहायक होती हैं। अनेक माता-पिता को मन्द सन्तान की देखभाल के लिये समय नहीं मिलता। कुछ अशक्त या रोगग्रस्त होने के कारण घर के काम नहीं कर पाते। कुछ को मन्द सन्तान की देखभाल ही से समय नहीं मिलता। इन सबों को इस प्रकार की सेवा बड़ी उपयोगी होती है। जो समर्थ होते हैं उनको स्वयं उनका श्रमिक देना होता है। जो नहीं दे पाते हैं उनके लिए समाज कल्याण विभाग या स्वास्थ्य विभाग पूर्णतः या आंशिक व्यय देता है। अधिक योग्य मानसमन्दों में से बहुतों को इस व्यवसाय में प्रशिक्षित करना सम्भव है।

४. छोटे शिशुओं की भाँति अतिमानसमन्दों को भी babysitting की आवश्यकता है। हमारे देश में इसकी इतनी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि परिवार में स्त्री-पुरुष के अतिरिक्त और भी कोई न कोई सदस्य साथ रहता है। किन्तु योरप, अमरीका आदि पाश्चात्य देशों में परिवार केवल माता-पिता और सन्तान ही द्वारा निर्मित होता है। बूढ़े माता-पिता परिवार के सदस्य भी नहीं समझे जाते। ऐसी दशा में यदि दम्पत्ति को घर से बाहर जाना होता है तो उनकी अनुपस्थिति के समय शिशु की देखभाल के लिये किसी को बुलाना पड़ता है जो babysitter कहलाते हैं जिनको प्रति घंटे के हिसाब से श्रमिक देना पड़ता है। इसी प्रकार मानसमन्दों के लिये भी बेबीसिटिंग आवश्यक हो सकता है।

अतिमन्दों का घर से बाहर मनोरंजन

सामान्य व्यक्तियों की भाँति अतिमानसमन्द तथा सभी प्रकार के मानसमन्दों को विनोद (recreation) की आवश्यकता होती है। अन्य व्यक्ति तो स्वयं इस प्रकार का प्रबन्ध करने में समर्थ होते हैं। किन्तु अति मानसमन्दों के लिए इसका प्रबन्ध संस्थाओं और समाजकल्याण विभाग की ओर से किया जाता है। योरप के प्रायः सभी देशों, अमरीका, कनाडा आदि में जहाँ मानसमन्दों की देखभाल और प्रशिक्षण का विशेष प्रबन्ध किया गया है वहाँ अति मानसमन्दों की सुरक्षा, उपचार, मनोरञ्जन आदि के भी अनेक उपाय किये गये हैं। ये **दिवस सुरक्षा केन्द्र** या **कर्म केन्द्र** (day activity centres) कहे जाते हैं। कुछ प्रदेशों में इनको **विकलाङ्गों के**

विकास केन्द्र के नाम से पुकारा जाता है। सामान्यतया इनमें १४ वर्ष तक के अतिमन्द वयस्कों को भरती किया जाता है। इनमें से अनेक केन्द्र मानस-मन्द न होने पर भी शारीरिक विकलाङ्गता वालों (physically handicaps) को भी भरती कर लेते हैं जिनको लाभ पहुँचने की आशा होती है। इन केन्द्रों में शारीरिक उन्नति के साथ सांस्कृतिक विषयों पर विशेष ध्यान दिया जाता है जैसे नाटक खेलना, नृत्य, कलायें, तस्वीरें बनाना, घूमने के लिये पार्टियाँ बना कर जाना, पिकनिक (picnics) करना, दिन में कैम्प करना। इनका विशेष उद्देश्य व्यक्ति को स्वतन्त्रता से काम करने का अवसर प्राप्त कराना रहता है जिससे व्यक्ति में अपनी शारीरिक सुरक्षा, स्वच्छता और अवसर पर उपयुक्त क्रिया करने की योग्यता का विकास हो। सामाजिक प्रवृत्तियों को सीखने और उनमें निपुण होने के लिए उनको अन्य व्यक्तियों के साथ मिल कर काम करने को उत्साहित किया जाता है, जैसे पार्टियों में, नृत्य में, पिकनिक आदि में। उनको परिवारों में मिलने का भी अवसर दिया जाता है और किसी प्रकार की औद्योगिक कला या व्यवसायिक कौशल का अनुभव भी कराया जाता है। इन केन्द्रों की सफलता से उत्साहित होकर अब उनमें अधिक वय के वयस्कों को भी भरती किया जाने लगा है और आशा की जाती है कि कुछ समय में वय का विचार त्याग दिया जायगा और प्रत्येक वय के व्यक्तियों, प्रौढ़ों और वृद्धों, सभी को भरती किया जा सकेगा।

इस दिशा में दो बातों में विशेष उन्नति हुई है। एक, ऐसे केन्द्रों को सामान्य शिक्षाक्रम का भाग बनाया जाने लगा है। जैसे प्रान्तीय शिक्षा विभाग के अन्तर्गत ही सामान्य बालकों के डे-नर्सरी और दिवस-सुरक्षा-केन्द्र (day care centres, day nurseries) बनाये जाते हैं वैसे ही इन केन्द्रों को कई प्रदेशों या देशों में शिक्षाविभाग ने मान्यता प्रदान की है। इससे इन केन्द्रों की विशेष प्रगति का मार्ग खुल गया है। दूसरा जो क्रम स्वीकार किया गया है वह माता-पिताओं को केन्द्र के अन्तरंग में सम्मिलित करना है। वे केन्द्र में स्वयंसेवक (volunteers) के रूप में केन्द्र के सब ही कार्यक्रमों में भाग ले सकते हैं। इससे जनता को मानसमन्दों के साथ रहने और घनिष्ट सम्पर्क में आने का अवसर मिलता है। केन्द्र के कर्मचारियों की जो साप्ताहिक मीटिंग होती है उनमें वे विचार-विमर्श के लिये सम्मिलित होते हैं जिससे वे प्रत्येक मानसमन्द की समस्याओं से और उसके लिये वहाँ के कर्मचारी जो कुछ करते हैं उस सब से भलीभाँति परिचित हो जाते हैं। उनमें से कई के बालक केन्द्र के विद्यार्थी होते हैं।

इस कारण वे अपने को केन्द्र का एक अन्तरंग भाग समझने लगते हैं जो केन्द्र की उन्नति के लिये तथा वहाँ शिक्षा पाने वाले दोनों के लिये बहुत उपयोगी होता है।

ये केन्द्र प्रगाढ या अतिमानसमन्दों के पुनःस्थापन में विशेष माध्यम प्रमाणित हुये हैं। उनके द्वारा यह भलीभाँति प्रमाणित हो चुका है कि कोई कितना भी अधिक मानसमन्द हो उसमें कोई न कोई योग्यता अवश्य छिपी रहती है जिसको प्रकट करके उपयुक्त प्रशिक्षण उपायों द्वारा प्रस्फुटित किया जा सकता है और उनमें से कुछ उपयोगी जीवन व्यतीत कर सकते हैं। इन केन्द्रों के कितने ही शिक्षार्थी अन्त में दीर्घकालिक उद्योगशालाओं में उद्योग प्रशिक्षण के योग्य होकर उनमें प्रशिक्षण प्राप्त करने के पश्चात् व्यवसायों में नियुक्ति पा गये हैं और सार्थक जीवन व्यतीत करने में सफल हुये हैं।

मानसमन्दों के निवास के अन्य स्थान

मानसमन्दों के अस्पतालों या संस्थाओं से मुक्त होने के पश्चात् उनके रहने का बहुत बार प्रश्न उपस्थित होता है। सब मानसमन्दों के घर नहीं होते। बहुतों के माता-पिता इतने वृद्ध हो जाते हैं कि वे उनकी देख-भाल नहीं कर सकते। बहुतों के माता-पिता की मृत्यु हो चुकती है। जो भाई-बहिन होते हैं वे उसका भार उठाने को तैयार नहीं होते। परिवार होने पर भी मानसमन्द ने जब शिशु या बालक के रूप में घर छोड़ा था तब से इतना समय व्यतीत हो चुकता है कि वह परिवार वालों के लिये अपरिचित सा हो जाता है। ऐसे ही अनेक कारणों से उसके रहने के लिये विशेष प्रवन्ध करना होता है। निम्न लिखित प्रकार के निवास स्थान ऐसे मानसमन्दों के लिये निर्णीत किये गये हैं :—

१. **पारिवारिक रक्षा** (family care)—ये परिवार होते हैं जिनमें मानसमन्द या मनोरोग ग्रस्त को संस्था या अस्पताल से मुक्त होने पर आवश्यक समय तक रखा जाता है जो उसकी सब भाँति सुरक्षा करते हैं। व्यक्ति के व्यय के लिये परिवार को रूपया दिया जाता है जिसमें परिवार के श्रम के लिये भी पुरस्कार स्वरूप कुछ राशि सम्मिलित होती है।

२. **पोषक आश्रम** (foster home)—यह भी उपर्युक्त प्रकार ही की सेवा है और अनेक बार शब्दों को पर्यायवाची समझा जाता है। इन परिवारों या घरों में दम्पति मानसमन्दों या रोग से मुक्त होने पर अस्पताल से छूटने पर अशक्तों (convalescent) को रख कर उसकी देखभाल

करते हैं। उसके रहने का, भोजन का, स्वच्छता, वस्त्रादि, यदि उसको औषधि मिलती हो तो उसका तथा सभी प्रकार से व्यक्ति की सुश्रूषा का प्रवन्ध करते हैं। सरकार या प्रबंधक समिति, स्वास्थविभाग या जनकल्याण विभाग की ओर से दम्पत्ति को व्यक्ति की देखरेख के लिये तथा उसके व्यक्तिगत व्यय के लिये पर्याप्त राशि दी जाती है।

इस प्रकार के प्रवन्ध का व्यक्ति को यह लाभ होता है कि वह पारिवारिक जीवन से परिचित हो जाता है जिसका अभी तक उसको कोई अनुभव नहीं था। अब वह एक परिवार का सदस्य हो जाता है। दम्पत्ति पोषक माता-पिता (foster parents) कहे जाते हैं और वह उनका पोष्य पुत्र (foster or adopted son) कहा जाता है। इससे मन्द व्यक्ति को बहुत लाभ होता है। वह अनुभव करता है कि कोई व्यक्ति उसकी रक्षा करने वाला है। भविष्य में उसको जो जीवन व्यतीत करना है उसमें वह दीक्षित होना आरम्भ करता है। और कुछ समय तक रह कर वह भलीभाँति उससे परिचित हो जाता है।

इस प्रबन्ध की सफलता बहुत कुछ उन दम्पतियों पर निर्भर करती है जो मानसमन्द का उत्तरदायित्व लेते हैं। यदि वे सज्जन हैं, मन्द व्यक्ति की उन्नति के सचमुच इच्छुक हैं और उसकी शिक्षा में प्रयत्नशील हैं तो व्यक्ति वास्तव में भाग्यवान है। उसकी समुचित उन्नति अवश्यम्भावी है। किन्तु यदि वे उसको केवल रूपया पाने का ही साधन समझते हैं, उसके कल्याण में रुचि नहीं रखते तो यह प्रयोग असफल ही रहेगा। इस कारण जो भी मानसमन्द के रहने के लिये पोषक गृह को खोजे उसको बहुत सतर्क होकर खोज करना उचित है। प्रायः संस्था या अस्पताल से सम्बन्धित सामाजिक कार्यकर्ता ही यह खोज करते हैं। उनको परिवार के दम्पतियों से भलीभाँति परिचित होना चाहिये जिससे वह मन्द के भले के लिये उपयुक्त परिवार चुन सकें।

इसमें दूसरी त्रुटि है कि किसी समय भी दम्पति मन्द व्यक्ति की देखरेख से त्यागपत्र दे सकते हैं।

३. अर्ध मार्ग-गृह या आश्रम (half-way house)

जिस प्रकार कर्मचारियों का एक नगर से दूसरे नगर में स्थानान्तरण (transfer) होने पर वे कुछ दिन होटल में ठहर कर अपने लिये उचित निवासस्थान खोजते हैं, इन अर्ध मार्ग गृहों का ठीक होटलों के समान उपयोग है। संस्था या अस्पताल से मुक्त होने के पश्चात् इन गृहों में रखकर

यह निरीक्षण किया जाता है कि वह व्यक्ति सामुदायिक जीवन व्यतीत करने योग्य है या नहीं। इन गृहों में प्रायः रहने वालों की संख्या १२ से २५ तक होती है और सभी कर्मचारीगण संस्था द्वारा नियुक्त होते हैं जिनका काम गृह का संचालन तथा मुक्त मानसमन्द का निरीक्षण होता है। पर्याप्त समय तक निरीक्षण के पश्चात् वे ही व्यक्ति के सामुदायिक जीवन व्यतीत करने के योग्य या अयोग्य होने का निर्णय करते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि कर्मचारीगण पूर्णतया शिक्षित हों, मानसमन्दों की समस्याओं को समझने तथा उनको सुलझाने में पूर्णतया दीक्षित हों। साथ ही गृह को चिकित्सक, मनोविज्ञानी, मनोविकार विज्ञानी तथा सामाजिक कार्यकर्ता की सेवाएँ भी उपलब्ध होनी चाहिये। उनका निर्णय मानसमन्द के लिये बहुत महत्व का होता है जिसमें इन सेवाओं का परामर्श सर्वोपरि है। यदि वे इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि व्यक्ति समुदाय अथवा समाज में प्रविष्ट होने की योग्यता प्राप्त कर चुका और समाज के द्वन्द्वों का प्रतिशोधन कर सकता है तो गृह की परामर्श और समाज कल्याण सेवाओं की सहायता से वह जीवनोपार्जन योग्य नियुक्ति प्राप्त कर सकता है। किन्तु यदि उनका निर्णय इसके विरुद्ध होता है, वे व्यक्ति को सामुदायिक जीवन के अयोग्य समझते हैं तो उसको फिर अस्पताल या संस्था में लौटना पड़ता है।

ये अर्धमार्ग गृह वास्तव में मानसमन्द के संस्था से जनसमुदाय में पहुँचने के मार्ग में, जो उसका उद्देश्य है, अर्धमार्ग पर स्थित प्रतिबन्ध या प्रतिषेध स्थल (check stations) हैं जिनसे पार होकर ही वह अपने इच्छित केन्द्र पर पहुँच सकता है। उनका लाभ यह है कि वे व्यक्ति को सामुदायिक जीवन में रहने के लिये तैयार करते हैं। एक ही श्रेणी के इतने व्यक्ति एक साथ रह कर सहयोगी जीवन की कला का अनुभव प्राप्त कर लेते हैं। कुछ भोजन बनाने का काम सीखते हैं, कुछ परोसने का, कुछ गृह को स्वच्छ रखने का, दूसरों को सहायता करने आदि का अनुभव प्राप्त करते हैं। वे भोज्य सामग्री खरीदने का, उसको चुनने का, ठीक हिसाब रखने का तथा अधिकारी को हिसाब देने के कामों से परिचित हो जाते हैं। उनको जनता से सम्पर्क में आने का अवसर मिलता है। इन सब कामों में प्रारंभ में कर्मचारियों को उनका नियंत्रण करना चाहिये। धीरे-धीरे उनको अधिक स्वतन्त्र करते जाना उचित है। उनको जनता से मिलने का अधिक अवसर दिया जाय। अपने लिये उचित नियुक्ति प्राप्त करने के उद्योग में उनका उत्साह बढ़ाया जाय। इस प्रकार शनैः शनैः उनको स्वतन्त्र जीवन का अभ्यस्त बनाना आवश्यक है।

किन्तु यह तभी संभव है जब वहाँ के कर्मचारी अपने कर्म में पूर्णतया सुशिक्षित हों और मन्द व्यक्तियों को सामाजिक जीवन के योग्य बनाना उनका लक्ष्य हो। उनके उदासीन होने से सफलता की कम आशा रह जाती है।

साथ ही यह भी देखना आवश्यक है कि अर्धमार्ग गृह मानसमन्दों के स्थायी या दीर्घ निवास की संस्थायें न बन जायँ। उनका मुख्य लक्ष्य आये हुये प्रशिक्षित मानसमन्दों को यथासंभव शीघ्र ही समाज में भेजना बना रहे।

४. सामुदायिक जीवन गृह (community living)

यह केवल अति अल्पमानसमन्दों के लिये होते हैं। अर्धमार्ग गृहों की भाँति इन निवासस्थानों में २० या २५ तक अल्पमन्द व्यक्ति रहते हैं जो स्वयं ही वहाँ का सारा प्रबन्ध करते हैं, अर्धमार्ग गृहों से इनमें यही भेद होता है। इनमें मन्दों का नियन्त्रण नहीं के समान होता है। एक या दो व्यक्ति या एक दम्पति सामान्य प्रबन्धक की भाँति होते हैं जो व्यक्तियों को विशेष कठिनाई उपस्थित हो जाने पर उनको उचित परामर्श देकर उनकी सहायता करते हैं या कोई विशेष आपद् (emergency) के समय आवश्यक कार्यवाही करते हैं। साधारणतया वहाँ के निवासी ही आपस में मिलकर अपने सब काम करते हैं। बारी-बारी से एक समुदाय सबों के लिये भोजन पकाता है। कुछ लोग आश्रम की स्वच्छता तथा अन्य व्यवस्था करते हैं। भोजन सामग्री तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं को बाजार से खरीद कर लाने का काम एक अन्य समुदाय का होता है। हिसाब रखने के लिये एक या दो निवासी पृथक् होते हैं। कुछ आश्रमों में पोषक दम्पति या व्यक्ति (foster parents) होते हैं जिनको प्रति मानसमन्द के हिसाब से स्वास्थ्य विभाग या समाजकल्याण विभाग से सामाजिक कार्यकर्ता के द्वारा उनके व्यय के लिये धन दिया जाता है और वे निवासियों को आवश्यक रूपया देकर उन्हीं से वस्तुयें, भोज्य सामग्री आदि मँगवाते हैं।

इस प्रकार के प्रबन्ध से वहाँ के निवासियों को सामुदायिक जीवन की शिक्षा मिलती है। एक दूसरे के सहयोग करने का उनको अभ्यास होता है। अन्य निवासियों के साथ मिलकर रहना, उनके साथ बाजार से वस्तुएँ लाना, सबों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पहले से विचार करना और उसका प्रबन्ध करना, एक दूसरे के अनुकूल होना, दूसरों के हित का चिन्तन

करना, यही सामाजिक जीवन है। इसमें अनेक बार एक व्यक्ति को अपनी इच्छाओं का त्याग भी करना पड़ता है। इस प्रकार के प्रवन्ध से आश्रम के निवासियों में उनके भावी जीवन के लिए आवश्यक गुणों की दृढ़ नींव पड़ जाती है। यही मानसमन्दों की शिक्षा तथा प्रशिक्षण का अन्तिम लक्ष्य है।

मनश्चिकित्सा (psychotherapy)

किसी समय इस पर वहुत वादविवाद था कि मनश्चिकित्सा से मानसमन्दों को लाभ हो सकता है कि नहीं। वहुतेरे विद्वानों का यही मत था कि मानसमन्दों में बुद्धि शक्ति अल्प होने के कारण वे मनश्चिकित्सकों द्वारा किये गये प्रयोगों द्वारा प्रभावित नहीं हो सकते।

किन्तु अव स्थिति वदल गई है। अधिकतर विद्वान मनश्चिकित्सा को विशेष उपयोगी मानने लगे हैं। जो इस प्रकार की चिकित्सा को सानुकूल मानने वाले हैं उनका कहना है कि इस चिकित्सा-कला का सीधा मानस पर प्रभाव होता है। यह कला मानस के अन्तर्द्वन्द्वों को सरल करके उनको वहिर्द्वन्द्व वना देती हैं और तव वे लुप्त हो जाते हैं। रोगी द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है और इस प्रकार आरोग्य हो जाता है। और जव उसके द्वारा सामान्य रोगी आरोग्य लाभ करते हैं तो मानसमन्दों को उससे क्यों लाभ नहीं हो सकता है।

विशेषकर ऐसे रोगियों को जिनमें व्यवहार सम्वन्धी परिवर्तन उत्पन्न करना अभीष्ट होता है उनके लिए मनश्चिकित्सा ही सर्वोत्तम है, ऐसा अनेक विद्वानों का मत है। अव प्रायः सभी इससे सहमत हैं। एक विद्वान् की सम्मति है कि अस्पताल का प्रत्येक कर्मचारी जो मानसमन्द के सम्पर्क में आता है वह एक प्रकार से मनश्चिकित्सक है। वह अपने व्यवहार और मानसिक भावों द्वारा मानसमन्द को प्रभावित करता है। वह कौशलपूर्वक उसके साथ सद्व्यवहार करके उसकी चिन्ताओं, द्वन्द्वों को वहुत कुछ कम कर सकता है और दीर्घकाल के सम्पर्क से उनको मिटा सकता है।

मनश्चिकित्सक को मानसमन्द के साथ पर्याप्त समय लगाना पड़ता है। उसको वास्तव में लाभ पहुँचाने के लिये चिकित्सक को इस मन्द में इतना विश्वास उपार्जन कर लेना चाहिये कि वह अपनी सव आन्तरिक समस्याओं को मनश्चिकित्सक के सामने प्रकट कर सके।

औषधियों का प्रयोग

मानसमन्द भी उन सव रोगों के ग्रास बन सकते हैं जो साधारण व्यक्तियों को होते हैं। वास्तव में उनमें शारीरिक त्रुटियाँ जन्म ही से उपस्थित होने से

उनमें सामान्य स्वस्थ व्यक्ति के समान रोगों के कारणों का निवारण करने की शक्ति नहीं होती। और इस कारण उनका रोगों से ग्रस्त हो जाने का अधिक अवसर रहता है। अतएव उन रोगों की विशिष्ट औषधियों द्वारा चिकित्सा से मानसमन्दों को भी सामान्य व्यक्ति ही के समान लाभ होता है।

स्वयं मानसमन्दता अथवा बुद्धि की न्यूनता को दूर करने वाली किसी औषधि का आज तक आविष्कार नहीं हुआ है। कई ऐसी औषधियों के समाचारपत्रों में विज्ञापन छपते हैं। वे झूठे होते हैं। उनसे हानि हो सकती है, लाभ की आशा नहीं है।

कुछ मानसमन्दों में वस्तुओं को तोड़ने की, खिड़कियों के शीशों को, बोतलों को, चीनी के वर्त्तन आदि को फोड़ देने की प्रवृत्ति होती है। वे सदा उद्विग्न रहते हैं। लड़ते रहते हैं, दूसरों पर आक्रमण कर बैठते हैं। ऐसे मन्दों को शान्त रखने के लिए शामक औषधियों का प्रयोग किया जाता है। किन्तु ऐसे मन्दों को उन उद्योगों में जिनमें तोड़ना अधिक पड़ता है, लगाने से उनको अधिक लाभ होता है। कुछ अपस्मार (epilepsy) से ग्रस्त होते हैं। उनको दौरे होते रहते हैं। दौरों के नियन्त्रण के लिये उनको आक्षेपकहर (anticonvulsants) देना आवश्यक है।

इसी प्रकार आहारोपचार भी किया जाता है, जैसे फिनाइल कीटो-न्यूरिया में तथा अन्य चयापचय विकारों (metabolic disorders) में।



नवाँ परिच्छेद

मानसमन्दों की शिक्षा

प्रारंभ ही में यह बताया जा चुका है कि किसी समय मानसिक त्रुटि युक्त बालकों तथा प्रौढ़ व्यक्तियों को idiot, imbecile तथा feeble minded (जड़बुद्धि, हीनबुद्धि और दुर्बल बुद्धि) कहा जाता था। कुछ काल तक ये शब्द प्रचलित रहे, जब इन व्यक्तियों के साथ अपराधी के समान व्यवहार किया जाता था। उसके पश्चात् जब इस दिशा में कुछ जागृति हुई तो उनको **अवसामान्य** (subnormal) कहा जाने लगा और अब उनको केवल **असाधारण** (exceptional) कहा जाता है।

इन संज्ञाओं का परिवर्तन भी प्रगति का द्योतक है। पहले के शब्दों से घृणा और हीनता का जो भाव प्रकट होता था वह भाव पीछे के शब्द अवसामान्य से बहुत कुछ दूर हो जाता है। और अब का शब्द असाधारण किसी प्रकार की सामाजिक हीनता का भाववाचक नहीं है। इसका यह अर्थ है कि समाज की दृष्टि में उनके भी वे ही अधिकार हैं जो अन्य व्यक्तियों के हैं तथा उनकी असाधारणता को दूर करना समाज का उतना ही उत्तर-दायित्व है जितना उनको अन्य प्रकार की असाधारण स्थितियों का प्रतिकार करने का है। तो भी अवसामान्यता (subnormality) और मानसमन्दता शब्दों का विषय के विचार के लिये प्रयोग किया जाता है।

गत परिच्छेदों में मानसमन्दों के लक्षणों का सविस्तार वर्णन किया गया है। उन सब लक्षणों का परिणाम 'सामाजिक अपर्याप्तता' (social incompetence) होता है। अर्थात् मानसमन्द अपने को समाजानुकूल नहीं बना सकता; सामाजिक दशाओं और परिस्थितियों, जिनमें समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है, के अनुसार व्यवहार करने में वह असमर्थ होता है और इस कारण स्वतन्त्र जीवन यापन करने में सफल नहीं होता। इस कारण सामाजिक अयोग्यता ही मानसमन्दता का प्रधान अभिलक्षण माना जाता है।

इस सामाजिक अयोग्यता का एक विशेष कारण उनकी शिक्षा अथवा साक्षरता (learning) की कमी (lack of education) होती है। यह पाया गया है कि मानसमन्द शिक्षाग्रहण करने के पूर्णतया योग्य नहीं होते। इसका पता स्कूल में चलता है। अल्पमानसमन्दों में बहुधा बालक के

स्कूल जाने से पहले इसका सन्देह भी नहीं होता। स्कूल में जब वे अपने सहपाठियों के साथ नहीं चल पाते, बार-बार पिछड़े रहते हैं, परीक्षाओं में असफल होते हैं, तब उनकी शिक्षणीयता (educability) की अल्पता का बोध होता है। सामान्यतया एक कक्षा के बालकों की प्रगति समान रूप से होती रहती है। वे एक श्रेणी को पास करके दूसरी में जाते हैं, दूसरी से तीसरी में जाते हैं, तीसरी से चौथी में। अन्त तक यही क्रम चलता रहता है। किन्तु एक या दो बालक नहीं चल पाते। वे पिछड़ते रहते हैं। वास्तव में अध्यापकों को पहले से उनका पता चल जाता है। नित्यप्रति के पाठ में वे अन्य सहपाठियों से पीछे रह जाते हैं। सभी कामों में पिछड़े रहते हैं। ऐसे बालक या बालकों की मनोवैज्ञानिक परीक्षा की आवश्यकता होती है। और तब उनकी त्रुटियों का पूर्ण मूल्यांकन किया जाता है जिनसे उनकी शिक्षणीयता (educability) का निर्धारण किया जा सके।

इंग्लैंड और अमरीका दोनों में कई वार जनता में मानसमन्दों की संख्या जानने का प्रयत्न किया गया है। सन् १९०५ में डॉक्टर टैडगोल्ड द्वारा किये गये सर्वेक्षण से उनको भिन्न-भिन्न स्कूलों में ५% से २०% ऐसे बालक मिले जिनको मन्दता के कारण विशेष प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता थी। सन् १९४० में फिर से डॉक्टर बर्ट ने सर्वेक्षण किया और उनको ०·७% से २१·३% तक ऐसे बालक मिले। डॉक्टर गोडार्ड की रिपोर्ट के अनुसार २००० परीक्षित बालकों में ६८% सामान्य (normal) थे, ४% प्रतिभासम्पन्न (gifted) थे, १५% पिछड़े हुए (backward) थे और ३% मानसिक विकारयुक्त (मानसमन्द) थे। इन अंकों को इन देशों के प्रत्येक प्रान्त के लिये तथा जनता के भिन्न-भिन्न सामाजिक स्तरों (उत्तम, मध्यम, नीच, लघु—upper, middle and lower classes) के लिये मान्य नहीं माना जा सकता। किन्तु वे देश में मानसमन्दों की एक बड़ी संख्या के द्योतक अवश्य हैं और समाज तथा देश के प्रबन्धकों को उनकी ओर ध्यान देने को विवश करते हैं। साधारण स्कूलों के पाठ्यक्रम तथा पाठविधि इन बालकों के लिये उपयुक्त नहीं हैं। यह सर्वसम्मत मत होने से ऐसे बालकों के लिये विशेष स्कूलों की स्थापना की गई जो E. S. N. स्कूल कहे जाते हैं (educationally subnormal)। इंगलैंड में पहले जो स्कूल इस प्रयोजन के लिये बने थे वे M. D. (mentally defective) स्कूल या 'विशेष स्कूल' कहे जाते थे। किन्तु उनमें बहुत त्रुटियाँ थीं। बालकों को जो शिक्षा इन स्कूलों में दी जाती थी वह उनकी आवश्यकता के अनुसार उपयुक्त न थी। अध्यापकों को

अनुभव न था। वे मन्द बालकों की आवश्यकताओं को समझते न थे। जब सन् १९४४ में नया शिक्षा विधान (education act) बनाया गया तो उन स्कूलों के पाठ्यक्रम में अनेक परिवर्तन किये गये और E. S. N. स्कूलों की स्थापना की गई। इन स्कूलों में उन सब बालकों को, जो किसी भी प्रकार की त्रुटि के कारण सामान्य स्कूल प्रणाली से लाभ न उठा सकते थे, उपयुक्त शिक्षा देने का प्रबन्ध किया गया। सन् १९४६ में वहाँ के शिक्षा विभाग इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि १० प्रतिशत स्कूल के बालकों को विशेष शिक्षा की आवश्यकता थी, १% E. S. N. स्कूलों में भरती करने योग्य थे और ९% के लिये उन्हीं के स्कूल में विशेष शिक्षा का प्रबंध किया जा सकता था।

सन् १९६३ और ६५ में E. S. N. के विशेष स्कूलों में ४४८२६ बालक शिक्षा पा रहे थे और १९६५ के अन्त में १६१७८ प्रार्थी प्रवेश पाने की प्रतीक्षा कर रहे थे। इन अंकों से मानसमन्दता के विस्तार का अनुमान किया जा सकता है। सब देशों का यही हाल है।

मानसमन्दों की शिक्षा का प्रश्न बहुत काल से विचाराधीन रहा है और समय-समय पर अनेक प्रकार के उपाय और विधियों का उपयोग किया गया है। अमरीका में सबसे पहले मानसमन्दों तथा सामान्य बालकों को एक ही श्रेणी में रखा गया। सब बालकों को एक ही सी शिक्षा दी गई। सामान्य और मन्दों में कोई भेद नहीं किया गया। इसका परिणाम मन्द बालकों के लिये बहुत बुरा हुआ। वे अपने पाठ में, खेलकूद में तथा अन्य सभी निष्पादन क्रियाओं में अपने सामान्य सहपाठियों से पिछड़े रहते थे। व्यवहार में भी वे उनके साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने में असफल होते थे। अतएव सामान्य बालक उनको तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे और एक प्रकार से उनसे अछूत का सा व्यवहार करते थे। वे सारी कक्षा के त्याज्य जैसे थे।

इसका परिणाम मानसमन्दों के लिये घातक सा हुआ। उनमें आत्महीनता के भाव उदय होने लगे जिससे उनकी मन्दता और भी बढ़ी प्रतीत होने लगी। जहाँ उनमें आत्मसम्मान के भाव उत्पन्न करना शिक्षा का लक्ष्य था वहाँ आत्मग्लानि उत्पन्न होने लगी।

इस दशा को सुधारने के लिये अधिकारियों ने मानसमन्दों के लिये 'विशेष श्रेणियाँ' (special classes) बनाईं। मानसमन्दों को सामान्य बालकों से पृथक् करके उनकी एक विशेष कक्षा बना दी जिसमें केवल

मानसमन्द ही थे और प्रत्येक वालक में जो त्रुटि थी उसके प्रतिकार के लिये उपयुक्त शिक्षा का आयोजन किया। इस प्रकार उनकी श्रेणी में सब वालकों के समान होने से उनमें आत्मग्लानि उत्पन्न होने का कारण ही मिट गया। वालकों में सामाजिक सहयोग भी होने लगा।

इस प्रकार का शिक्षा-विधान वहुत सफल प्रमाणित हुआ। जहाँ प्रारंभ में ऐसी श्रेणियों में कुछ ही बालक थे, वहाँ कुछ ही वर्षों में विद्यार्थियों की संख्या इतनी वढ़ गई कि वहुतों को प्रवेश न मिल सका और प्रवन्धकों को इस प्रकार के नवीन स्कूल खोलने पड़े। उनकी विशेषतायें दो थीं—प्रथम, एक ही प्रकार के बालकों का साथ रहना, और द्वितीय, प्रत्येक वालक की आवश्यकता के अनुसार उसका शिक्षण तथा प्रशिक्षण। अव अमेरिका के प्रत्येक प्रदेश में इस प्रकार की संस्थायें खोल दी गई हैं जिनमें मन्द वालकों को 'विशेष शिक्षा' दी जाती है।

किन्तु ऐसी 'विशेष शिक्षा' की संस्थाओं में भी एक दोष पाया गया। हाल ही में जो अनुसन्धान किये गये हैं उनसे यह दोष स्पष्ट हो गया है। वह यह है कि यद्यपि ऐसी संस्थाओं में वालक प्रसन्न रहते हैं और उनमें वे दोष नहीं आने पाते जो सामान्य स्कूलों से, जिनमें मन्द और सामान्य वालक साथ पढ़ते हैं, उत्पन्न हो जाते हैं, किन्तु वहाँ के वालकों की उपलब्धि (achievement) अथवा निष्पादन (performance) इतने उत्तम नहीं होते जितना सामान्य स्कूलों के होते हैं। न इन संस्थाओं के बालक सामान्य स्कूलों के बालकों के समान व्यवहार कला में इतने निपुण होते हैं। वे उनके साथ सामाजिक संबंध भी नहीं स्थापित कर पाते। इन बालकों को युवावस्था या प्रौढ़ होने पर समाज या समुदाय (community) के सामान्य व्यक्तियों के साथ ही रहना होगा जो सामान्य स्कूलों से शिक्षित होकर आयेंगे। इस कारण ये वालक सामान्य सामुदायिक जीवन के लिये उपयुक्त या अनुकूल न वन पायेंगे।

शिक्षा विधायकों द्वारा इस त्रुटि को दूर करने के उपाय विचाराधीन हैं। बहुत कुछ विचार-विमर्श चल रहा है। प्रत्येक देश की सामाजिक दशाओं में परिवर्तन हो रहा है। वह औद्योगिक समाज (industrial society) बनता जा रहा है। योरुप के प्रायः सभी देशों में और अमरीका, कनाडा आदि में समाज औद्योगिकता की चरम सीमा पर पहुँच गया है। हमारे देश में भी समाज उसी ओर शीघ्रता से प्रगति कर रहा है। अतएव इन बालकों को उसी समाज में जीवन बिताना होगा और उसी के अनुकूल उनको बनाना शिक्षा का का लक्ष्य होना चाहिये।

मानसमन्दों की शिक्षा का प्रयोजन

मानसमन्दों की शिक्षा का वही प्रयोजन है जो सामान्य बालकों या व्यक्तियों की शिक्षा का होता है—अर्थात् **आत्मविकास**। साथ ही मानसमन्दों में जो त्रुटियाँ होती हैं उनको भी यथासम्भव दूर करना अथवा, जितना हो सके कम करना, मिटाना, शिक्षा का दूसरा प्रयोजन है जिससे व्यक्ति समाज में अपना अस्तित्व बनाये रख सके। अतएव उनकी शिक्षा के जो लक्ष्य हैं उनका विचार हम चार शीर्षकों में कर सकते हैं।

(१) आत्मविकास

शिक्षा का सामान्य प्रयोजन आत्मविकास होता है। प्रत्येक व्यक्ति की विचारशक्ति और कर्मशक्ति अन्य व्यक्तियों की शक्तियों से भिन्न होती है। इन शक्तियों का चरम सीमा तक विकास करना ही शिक्षा का प्रयोजन होता है जिससे व्यक्ति अपने भरसक शारीरिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँच सके और समाज को अपनी सामर्थ्यानुसार अधिक से अधिक लाभ पहुँचा सके। जहाँ साधारण व्यक्तियों के लिये यह मार्ग सीधा होता है वहाँ मानसमन्दों में इस मार्ग में कितनी ही रुकावटें उपस्थित होती हैं। सामान्य व्यक्ति समझ लेता है कि उसको अमुक लक्ष्य पर पहुँचना है। किन्तु मानसमन्द इस समझने की शक्ति से वंचित होता है। उसके जन्मजात शारीरिक विकार या अपूर्णता के कारण, अथवा पारिवारिक संस्कृतिहीन वातावरण के फलस्वरूप अथवा अन्य हीन दशाओं के प्रभाव से उसका मानसिक परिवर्धन अवरुद्ध हो जाता है और उसमें विचार करने की शक्ति का विकास नहीं होता।

मानसमन्दों में जो **शिक्षणीय**[1] (educable) होते हैं उनकी त्रुटियों को यथासंभव दूर करके जितना भी हो सके, व्यक्ति की क्रियात्मक या उपलब्धि (achievement) और निष्पादन (performance) शक्तियों का अधिकतम प्राकट्य करना ही शिक्षा का ध्येय है। **प्रशिक्षणीय**[2] व्यक्तियों के संबंध में यही समझना चाहिये। बुद्धिलब्धि में इतना न्यून होने के कारण दोनों समान हैं। कुछ में बुद्धि विकास बहुत ही कम होता है, कुछ में उनसे अधिक होता है। यह अवस्था केवल आपेक्षिक है, केवल सीमा का

---

१. जिनकी बुद्धिलब्धि (I. Q.) ५०–७५ तक होती है वे शिक्षणीय (educable) कहलाते हैं।

२. २५ से ५० तक की बुद्धिलब्धि (I. Q.) वाले प्रशिक्षणीय (trainable) कहे जाते हैं।

भेद है, किन्तु कारण दोनों में समान हैं जिनका गत परिच्छेदों में विस्तार-पूर्वक विचार किया गया है।

किन्तु यह कई स्थानों में बताया जा चुका है कि प्रत्येक मानसमन्द में कुछ न कुछ कर्मशक्ति या योग्यता छिपी होती है। तीव्र मानसमन्दों में भी कुछ योग्यता होती है। उनका धनात्मक पक्ष (positive aspect) भी होता है, केवल ऋणात्मक ही नहीं होता। अतएव शिक्षा और प्रशिक्षा के लिये उसी धनात्मक पक्ष को खोज लेना शिक्षा का प्रारंभिक चरण है: अर्थात् बालक या व्यक्ति की पूर्ण परीक्षा करके उसका मूल्यांकन (assessment) किया जाय। इसकी विधियों का वर्णन गत परिच्छेदों में किया जा चुका है। उन विविध परीक्षाओं द्वारा व्यक्तिसंबंधी प्रत्येक बात को जानना आवश्यक है। उसकी शारीरिक दशा, संवेगात्मक निर्गमन (emotional withdrawls) विशेषकर तथा जो भी बालक या व्यक्ति के संबंध में विशेषता का अनुभव किया गया हो उन सब का पूर्ण विचार उचित है। बालक की बुद्धिहीनता जानना कठिन नहीं है। जब तक वह स्कूल जाने योग्य होता है तब तक उसकी त्रुटियों का बहुत कुछ पता चल जाता है। फिर स्कूल में भरती के समय जो उसकी परीक्षायें होती हैं उनसे उसकी त्रुटि स्पष्ट हो जाती है। फिर कुछ महीनों में, स्कूल के अध्यापकों द्वारा बालक के निरन्तर निरीक्षण तथा सम्पर्क से उसके व्यवहार द्वारा उसकी त्रुटि का पूर्ण निश्चय हो जाता है।

किन्तु उसकी योग्यता, उसकी कर्म या कर्तृत्व शक्ति का ज्ञान इतना सहज नहीं होता। उसकी शिक्षा के आयोजन के लिये इस शक्ति या योग्यता को जानना उसकी त्रुटियों को जानने से भी अधिक आवश्यक है। क्योंकि इसी के द्वारा बालक की त्रुटि के कवच का भेदन करना होगा। उसके उस गुण का परिवर्धन करके ही उसको इस योग्य बनाया जा सकता है कि उसके सहपाठी उसको अपनी श्रेणी में प्रविष्ट होने दें, अपने समान ही उसको कक्षा का सदस्य मानें तथा उसके अध्यापक भी उसको मान्यता प्रदान करें।

इस कारण परीक्षकों को ऐसे बालकों का निरन्तर निरीक्षण आवश्यक है जिसमें उनको अध्यापकों से बहुत सहायता मिल सकती है। इन बालकों और व्यक्तियों की विशेष आवश्यकताएँ हैं और उन्हीं के अनुसार उनको सहायता भी मिलनी चाहिये।

(२) सामाजिक निपुणता (social competence)

शिक्षा का दूसरा प्रयोजन समाज में अपना अस्तित्व बनाये रखना है जिसके लिये सामाजिक अनुकूलता आवश्यक है—अर्थात् समाज में हिलमिल

कर रहना, समाज द्वारा निर्मित विधानों का पालन करना जिससे समाज का हित हो और व्यक्ति का भी लाभ हो। यही सामाजिक जीवन कहा जाता है। इसके लिये व्यक्ति को आन्तर-व्यक्ति सम्बन्ध रचना (interpersonal relationship formation), जिसको पारस्परिक समायोजन (mutual adjustment) भी कह सकते हैं तथा आभ्यन्तर समायोजन (intermaladjustment) दोनों आवश्यक हैं। वह बाह्य सुखी हो और अन्तः सुखी भी हो, बाह्य द्वन्द्वों से मुक्त हो और अन्तर्द्वन्दों से भी रहित हो। वह समाज के अन्य सदस्यों से भी हिल-मिल कर रहे और उसके भीतर मन में भी ऐसी समस्यायें न उठने पावें जिनसे वह उद्विग्न हो कर अशांत हो जाय। वास्तव में ये दोनों दशायें परस्पर सम्बन्धित हैं, एक दूसरे पर निर्भर करती हैं। साधारणतया बाह्य समायोजन पर आभ्यन्तर समायोजन निर्भर करता है। जिसके बाह्य सम्बन्ध अनुकूल होते हैं, जिसका बाह्य वातावरण अनुकूल होने से बाह्य कारणों से क्लेश नहीं उत्पन्न होते उसका अन्तः भी सदा सन्तुष्ट रहता है, यद्यपि कभी-कभी इसके विपरीत भी संभव है, विशेषकर मानसमन्दों में शिक्षा का प्रयोजन इन दोनों प्रकार के द्वन्द्वों को मिटाना है। अतएव स्कूलों में अथवा मानसमन्दों के लिये जो 'विशेष शिक्षा' (E. S. N) कक्षायें होती हैं उनमें सामाजिक निपुणता के साथ आभ्यन्तर निपुणता या समायोजन की शिक्षा का भी प्रबन्ध होना चाहिये। मानसमन्दों की समस्यायें भिन्न प्रकार की होती हैं। वे अपने ही जगत में रहते हैं। उनमें से कितनी ही समस्यायें समाज के दुर्व्यवहार के कारण उत्पन्न हुई हैं जिसने उनको त्याज्य मान लिया था। उनके कारण भी उसमें समाज से असहयोग की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। प्रबन्धकों का अथवा स्कूलों का कर्तव्य है कि वे इस प्रकार की शिक्षा का आयोजन करें, ऐसी व्यवस्था बनायें जिससे उनके मन से समाजविरोधी भाव नष्ट हों और सामाजिक सहयोग की प्रेरणा मिले।

एक विद्वान ने प्रस्ताव किया है कि शिक्षणीय और प्रशिक्षणीय व्यक्तियों में इतना अन्तर होता है कि उनके लिये 'विशेष शिक्षा' भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होनी चाहिये। उनका कहना है कि प्रशिक्षणीय कभी भी पूर्ण स्वतन्त्र जीवन व्यतीत न कर सकेंगे। उनको आजन्म किसी आश्रित उद्योगालय (sheltered workshop) का आश्रय लेना पड़ेगा। उनको सदा किसी संचालक या आश्रय दाता की आवश्यकता होगी जो उनका निर्देशन करता रहे, जिसके दिग्दर्शन के अनुसार वे जीवन निर्वाह कर सकें। इसके विरुद्ध

शिक्षणीय व्यक्तियों को किसी के दिग्दर्शन की आवश्यकता न होगी। वे समाज में स्वतन्त्र जीवन व्यतीत कर सकेंगे।

किन्तु वास्तव में वात ऐसी नहीं है। अनेक प्रशिक्षणीय व्यक्ति सामाजिक जीवन बिताने में पूर्णतया सफल हुये हैं और समाजानुकूल जीवन व्यतीत कर रहे हैं। वे कितने ही साधारण व्यक्तियों के साथ कारखानों में काम कर रहे हैं और उनके कर्मकौशल से कारखानों के संचालक पूर्ण सन्तुष्ट हैं। उनकी सफलता ने अन्य प्रशिक्षणीय मानसमन्दों के लिये जीवनोपार्जन का मार्ग खोल दिया है।

हाँ, यह आवश्यक है कि स्कूलों में शिक्षणीय और प्रशिक्षणीय वालकों की नित्य जीवन की व्यवहार सम्बन्धी कुशलताओं की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाय, जैसे शरीर की स्वच्छता, वस्त्र पहनना, वालों में कंघा करना, बुरुश और पेस्ट द्वारा मुख शुद्धि, भोजन करने के समय व्यवहार कुशलता आदि। इनमें कुशल होने से उनके सहपाठी अथवा सहयोगी भी उनके साथ सद-व्यवहार करते हैं। फिर स्वयं मानसमन्दों ही में अन्तर होता है। जो उच्च घरों के वालक होते हैं वे बहुत कुछ दैनिक व्यवहार कुशलता सीखे हुये होते हैं। हीन परिवारों के वालकों में इस प्रकार की शिक्षा का अभाव होता है। कुछ वालक जल्दी सीख लेते हैं, कुछ सीखने में अधिक समय लेते हैं। इन कारणों से प्रत्येक वालक पर उसकी त्रुटि के अनुसार उसको कम या अधिक ध्यान देना आवश्यक होता है। स्कूल का यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक वालक को उसकी त्रुटि के अनुसार उसकी शिक्षा का प्रवन्ध करे जिसका अन्तिम ध्येय वालक को सामाजिक जीवन के योग्य बनाना है।

(३) सामान्य तथा विशेष कुशलताओं का विकास

यह शिक्षा का तीसरा प्रयोजन कहा जा सकता है। ये कुशलतायें ही सामाजिक निपुणता की नींव हैं तथा आर्थिक निपुणता या स्वतन्त्रता की विशिष्ट सहायक हैं।

सामान्य कुशलताओं का कुछ उल्लेख ऊपर भी किया जा चुका है। दैनिक जीवन के लिये आवश्यक कुशलताओं को सामान्य या आधारी (basic) कुशलतायें कहा जाता है। शारीरिक स्वच्छता, अपनी वस्तुओं को यथा स्थान ठीक प्रकार से रखना, वस्त्रों को पहनना, अन्य वालकों के साथ खेलना आदि की इन्हीं में गिनती है। अपने को दूसरों पर व्यक्त करना, अर्थात् अपने भावों को दूसरों पर प्रकट करना, जिसे संज्ञापन

(communication) कहा जाता है, यद्यपि वह सामान्य कुशलता है, किन्तु जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक है। अपने मन्तव्य को दूसरे को प्रकट करना, अपने भावों को अन्य को समझा सकना, इसी पर सफलता निर्भर करती है।

पढ़ना, लिखना, साधारण गणित तथा कलायें (arts and crafts) और अन्य सिखाये जाने वाले विषय विशेष कुशलताएँ हैं। बहुत से मानसमन्द इन कुशलताओं को सहज में सीख लेते हैं। कुछ सीमा तक पुस्तकें पढ़ना, सामान्य गणित, भूगोल की मोटी-मोटी बातें तथा खेल आदि में वे निपुण हो जाते हैं। किन्तु कुछ बालकों को यह सब सीखना कठिन होता है। उनको सिखाने के लिये अधिक परिश्रम करना होता है। कुछ को व्यक्तिगत शिक्षा आवश्यक हो सकती है। प्रशिक्षणीय बालक तथा वयस्क व्यक्तियों का भी यही हाल है। कुछ शीघ्र ही सहज में सीख लेते हैं, कुछ बहुत परिश्रम के पश्चात् अतीव बिलम्ब से सीखते हैं। तो भी सब ही को शिक्षित करना आवश्यक है।

उनको कुछ ऐसी भी कुशलतायें अथवा कौशल सिखाने होंगे जो सामान्य बालकों में स्वतः ही होते हैं, जैसे भय के उपस्थित होने पर सुरक्षा, आग लग जाने पर वहाँ से भाग जाना, आती हुई मोटर के सामने से हट जाना, अपने काम पर समय से पहुँचना, अपने काम में सतत प्रयत्नशील होना, शिष्टता से व्यवहार करना आदि।

यह सब सिखाना और साधारण व्यवहार में शिष्ट बनाना तथा समय और आवश्यकतानुसार काम करने योग्य बनाना अध्यापक के चातुर्य और कौशल पर निर्भर करता है। इस 'विशेष शिक्षा' के लिये अध्यापकों को विशेषतया शिक्षित किया जाता है, और उनके मार्गदर्शन के लिये अनेक पुस्तिकायें तथा विधि पत्र (instructions) तैयार किये गये हैं। फिर भी उनके स्वतः अनुभव और उनकी व्युत्पन्नमति विशेष उपयोगी होती है।

(४) व्यावसायिक और आर्थिक निपुणता

यह शिक्षा का चौथा और अन्तिम मुख्य और विशेष महत्त्व का उद्देश्य है। वास्तव में चारों उद्देश्य परस्पर सम्बन्धित हैं। एक के साथ दूसरे का विकास होना स्वाभाविक है। किन्तु कुशलता पूर्वक आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेना जीवन का अत्यन्त महत्व का ध्येय है। यद्यपि मानसमन्दों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे साधारण व्यक्तियों के समान आर्थिक स्वतन्त्रता और उन्नति प्राप्त करने में सफल होंगे तो भी उनको जीवननिर्वाह

के योग्य बनना शिक्षा का अथवा प्रशिक्षण का सब से महत्व का प्रयोजन है।

शिक्षायोग्य बालकों और व्यक्तियों में कुछ भी प्रगति सहज में हो जायगी। वे थोड़े ही समय में पढ़ने और लिखने योग्य हो जायेंगे। गणित का साधारण ज्ञान प्राप्त कर लेंगे और अन्य कौशलों (skills) को सीख लेने में सफल होंगे। अधिक मन्द बालकों को सीखने में अधिक समय लगेगा। उनको अधिक परिश्रम करना होगा। संभव है अधिक परिश्रम करने पर भी उनकी अधिक प्रगति न हो। वे आगे न बढ़ सकें। तीसरे श्रेणी के बालक या व्यक्ति अक्षरों के अथवा कुछ लिख लेने के अतिरिक्त पढ़ने-लिखने में प्रगति न कर पायेंगे। इनको प्रशिक्षण कक्षाओं ही में भरती करना होगा।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न मन्दता के स्तरों के अनुसार ही मन्द बालकों की प्रगति होगी। जो जितना अधिक मन्द होगा उसकी उतनी ही मन्द प्रगति होगी और उस पर उतना ही अधिक ध्यान देना पड़ेगा। उसकी त्रुटियों का पूर्ण निर्धारण करने के पश्चात उसकी आवश्यकता के अनुसार उसकी शिक्षा तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण का प्रवन्ध करना पड़ेगा। अतएव भिन्न-भिन्न मन्दों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रवन्ध करने आवश्यक हो सकते हैं। ये स्कूल या शिक्षा संस्थायें इस योग्य होनी चाहिये कि शिक्षार्थियों को वे व्यक्तिगत ध्यान दे सकें, प्रत्येक बालक की त्रुटि के अनुसार उसको शारीरिक तथा सामाजिक कौशलों (personal and social skills) में शिक्षित कर सकें। इसके लिये संस्था को विशेष शिक्षित अध्यापकों की तथा साधनों की आवश्यकता होगी।

व्यावसायिक (vocational) शिक्षा प्रत्येक मानसमन्द, बालक तथा प्रौढ़ के लिये आवश्यक है, चाहे वे शिक्षणीय हों, अथवा प्रशिक्षणीय हों। व्यावसायिक शिक्षा या प्रशिक्षा से केवल उस व्यापारिक कौशल को न समझना चाहिये जिसके द्वारा वह जीवनोपार्जन करेगा, यद्यपि उसको पूरा करना अथवा उसके सम्पादन में क्रम (order), स्वच्छता, समय पर पूरा करना, ऊपर के अधिकारी के आज्ञानुसार काम करना—ये सब व्यावसायिक योग्यता ही के भाग हैं। कितने ही सामाजिक कौशल (social skills) जैसे समयनिष्ठा या सामयिकता (punctuality), सौजन्यता अथवा व्यवहार शिष्टता (courtesy), विश्वासनीयता (reliability), आज्ञानुपालन (obedience ये सब गुण व्यावसायिक कौशल हैं, यद्यपि वे सामाजिक निपुणता के प्रधान अंश हैं और आर्थिक स्वतंत्रता के प्रदाता हैं। कई बार इनके सम्बन्ध में अनुसंधान किये गये हैं जिनके अनुसार ये गुण जीवनोपार्जन के लिये अनिवार्य पाये गये हैं।

अन्वेषणों के फलानुसार मानसमन्दों को ये गुण सिखाये जा सकते हैं। जो 'विशेष शिक्षा' की कक्षाओं में शिक्षित थे, उनमें से ২০ प्रतिशत व्यक्ति, अमरीका के एक राज्य में किये अन्वेषण के अनुसार, भिन्न-भिन्न व्यापारों में लगे हुए थे और एक दीर्घ काल से नियुक्त थे। उनमें से कई की उत्तम आर्थिक स्थिति थी। सभी अन्वेषणों में चाहे इतनी सन्तोषजनक स्थिति न पाई गई हो, फिर भी सब ही रिपोर्टों का यही निष्कर्ष था कि प्रशिक्षित मन्द व्यक्ति नियुक्ति पाने और उसको सफलतापूर्वक बनाये रखने में योग्य होते हैं। वे नैतिक जीवन व्यतीत करते हैं और उनमें अपराध करनेवालों की संख्या अति न्यून होती है। ऐसी रिपोर्टों से शिक्षा अधिकारियों को बहुत उत्साह मिला है और शिक्षा तथा अशिक्षा विधियों में उन्नति होने पर मानसमन्दों की प्रगति की दृढ़ आशा की जाती है।

गत पृष्ठों में मानसमन्दों की शिक्षा के जो प्रयोजन बताये गये हैं वे पारस्परिक सम्बन्धित होने के अतिरिक्त उन सबका अन्तिम लक्ष्य मन्द बालक या व्यक्ति को सामाजिक जीवन के योग्य बनाना है जिससे वह आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करके जीवन निर्वाह कर सके। प्रशिक्षणीयों के प्रशिक्षण का भी यही लक्ष्य है। इसी की पूर्ति के लिये सब प्रकार के उपाय सोचे गये हैं और समय-समय पर विद्वानों ने अपने प्रस्ताव शिक्षा प्रणाली के अधिकारियों तथा जनता के सामने उपस्थित किये हैं तथा करते रहते हैं। कुछ का यहाँ संक्षेप से उल्लेख किया जाता है।

(१) स्कूल-पूर्व शिक्षा (preschool training)

साधारणतया ५ या ६ वर्ष की वय हो जाने पर बालक को स्कूल में भरती किया जाता है। अमरीका और कनाडा में छठे वर्ष स्कूल में बालकों का प्रवेश मान्य है। योरप के देशों में भी ५ वर्ष सम्पूर्ण होने पर ही प्रवेश दिया जाता है। किन्तु मानसमन्द बालकों की प्रगति मन्द होती है। वे किसी भी कौशल को सीखने में अधिक समय लेते हैं। बुद्धिमन्दता जितनी अधिक होती है उतनी ही इनके सीखने में अधिक समय लगता है।

इस कारण प्रायः इस विषय के सब विद्वानों की सम्मति है कि मानसमन्दों की शिक्षा अथवा प्रशिक्षण शीघ्र ही प्रारम्भ किया जाय। एक विद्वान ने इस सम्बन्ध में अन्वेषण किया। उन्होंने स्कूलपूर्व प्रशिक्षित बालकों के समुदाय की ऐसे प्रशिक्षण अप्राप्त बालकों के समुदाय से तुलना करते हुए अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि ये प्रशिक्षित बालक दूसरे बालकों की अपेक्षा, जिनका पूर्व प्रशिक्षण नहीं हुआ था, कहीं अधिक उन्नतिशील पाये गये और स्कूलों में प्रविष्ट होने पर भी उनकी प्रगति सन्तोषजनक रही।

इन बालकों को प्रथम जीवन के प्राथमिक कौशल सिखाने होंगे। शौच का ढङ्ग, मुखशोधन करना, बुरुश और टूथ-पेस्ट का प्रयोग करना, वस्त्र पहनना तथा उतारना, उनको ठीक प्रकार से उचित स्थान पर रखना, शारीरिक स्वच्छता, बातचीत करना, अन्य बालकों से संभाषण, अपनी आवश्यकता को व्यक्त करना (communication) गत्यात्मक क्रियायें (motor skills), चलना, भागना, दौड़ना, हाथों की और नेत्रों की गतियों का समायोजन (coordination of hand and eye movements), भोजन करने का ढङ्ग और भोजन के पश्चात् मुख शुद्धि, ये सब कौशल उनको सिखाने होंगे। पारस्परिक व्यवहार की शिक्षा बहुत आवश्यक है, जो बालक हीन वातावरण में पले हैं उनको यह प्रशिक्षण और भी आवश्यक है। जीवन के इन मौलिक प्रशिक्षणों के पश्चात् जो कुछ किंडरगार्टन कक्षा में सिखाया जाता है वह सब या आंशिक सिखाना उपयोगी होगा। यह अनुमान किया जाता है कि इस प्रशिक्षण के प्रक्रम में दो वर्ष का समय लग जायगा। उसके पश्चात् ये बालक स्कूल में सामान्य बालकों के साथ चलने योग्य होंगे। इस प्रशिक्षण के लिये विशेष साधनों की आवश्यकता हो सकती है जिनको प्राप्त करना स्कूल का काम है। ये तत्परता कौशल (readiness skills) भी कहे जाते हैं; अर्थात्, बालक अब स्कूल की शिक्षा प्राप्त करने को तत्पर है। इन कौशलों को सिखाना बहुत आवश्यक तथा उपयोगी है। कुछ समय पूर्व यह भी सन्देह उपस्थित किया गया था कि मानसमन्द इन गुणों अथवा कौशलों को सीख भी सकते हैं या नहीं। यह वाद-विवाद चलता रहा। किन्तु अन्वेषणों ने यह प्रम णित कर दिया कि मानसमन्द समान मानसिक आयु बालकों ही के समान सीख सकते हैं और उनको स्मरण भी रख सकते हैं, यदि उनको मौलिक (आधारी, basic) कौशलों, जिनका ऊपर वर्णन किया गया है, में भलीभाँति दीक्षित कर दिया गया है और वह विषय उनकी अभिवृत्ति के विरुद्ध नहीं है।

जहाँ इन कौशलों को सिखाना आवश्यक है वहाँ यह भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि वे इस प्रकार सिखाये जायँ कि बालक उनको सीखने में प्रसन्नता अनुभव करें, वे आनन्दित हों, उनको आमोद-प्रमोद का साधन समझें जिससे सीखने में उनकी रुचि बढ़े और वे सफलता प्राप्त करें। यह पाया गया है कि इस प्रकार के अनुभव से बालकों में आत्म-विश्वास उत्पन्न होता है तथा अवधान (attention) और एकाग्रता (concentration) के गुण उत्पन्न होते हैं। इन दोनों गुणों की न्यूनता ही मानसमन्दों के विद्योपार्जन की

असमर्थता का विशेष कारण मानी जाती है। जिन भिन्न-भिन्न शिक्षा विधियों का उपयोग किया जा रहा है उनमें प्रथम प्रयत्न यही किया जाता है कि पाठ्य या शिक्षा के विषय पर, जो अध्यापक बता रहा है या सिखाना चाहता है उस पर बालक ध्यान दें, उनका ध्यान उस पर आकर्षित हो और उस पर बना रहे। यही अवधान (attention) कहा जाता है। इन दोनों गुणों का बालक में विकास शिक्षा-क्रम की बहुत बड़ी सफलता है।

(२) तत्परता कौशलों को सिखाना (teaching readiness skills)—आधारी या मौलिक (basic) तत्परता कौशलों को सिखाने के लिए एक वर्ष का समय रखा गया है। किन्तु इसके पश्चात् का वर्ष भी उसके लिए आवश्यक हो सकता है; अर्थात् उसमें दो वर्ष लग सकते हैं। इस समय की शिक्षा का प्रयोजन शिक्षणीय मानसमन्दों में उनको पढ़ने-लिखने तथा साधारण स्कूलों के शिक्षाक्रम के लिए, यथासम्भव तैयार करना है। साथ ही उनको उस व्यावसायिक शिक्षा या प्रशिक्षा के लिए योग्य बनाना है जो उनको आगे चलकर दी जायगी। जो केवल प्रशिक्षणीय हैं, जिनका I. Q. ५० से कम है, उनको भी जितना हो सके आत्म-निर्भरता (self-reliance) सिखाना अभीष्ट है। दोनों का अर्थ एक ही है, प्रयोजन समान है। केवल यह मान लिया गया है कि प्रथम वर्ग में मन्दता कम होने से वे अधिक प्रगति करेंगे। दूसरे वर्ग की मन्दता अधिक होने से, प्रगति कम होगी। वे पढ़ना-लिखना अधिक न सीख सकेंगे।

इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का जो मत है वह बताया जा चुका है। साथ में, अनेक प्रशिक्षणीयों को जो कर्मक्षेत्र में सफलता मिली है उसका भी उल्लेख किया जा चुका है। इस कारण अब प्रायः सभी विद्वान सहमत हैं कि बुद्धि-माप या बुद्धिलब्धि (I. Q.) को योग्यता का एकमात्र मापदण्ड नहीं माना जा सकता। उनका कहना है कि साधारण बालक जिसको अल्प समय में सीख लेते है उसको सीखने में मानसमन्दों को अधिक समय लगता है। इसका कारण यह है कि प्रेरक या गत्यात्मक (motor) और प्रत्यक्ष या गोचर (perceptual) क्रियाओं के परिवर्धन (development) के काल में मन्दता के कारण मानसमन्द उन अनुभवों को ग्रहण न कर सके जो उस काल में उनको हुए थे, जब साधारण बालकों ने उनको ग्रहण कर लिया। इसी कारण उनकी अपने को व्यक्त करने, स्मरण करने, ध्यान देने, शारीरिक क्रियाओं को करने, विचार करने आदि सभी प्रकार की शक्तियाँ अविकसित रह गईं। अतएव उन तत्परता कौशलों को जो साधारण

बालकों में स्वयं ही उत्पन्न हो जाती हैं, मानसमन्द को सिखाना स्कूल का कर्तव्य है।

इन तत्परता कौशलों में प्रथम **शारीरिक स्थिति के नियन्त्रण** का कौशल है, जैसे चलने या भागने-दौड़ने, कूद-फाँद करने में शरीर के भिन्न-भिन्न भागों का समायोजन (coordination) करना होता है। इसी प्रकार नेत्र की गतियों और हाथ की क्रियाओं का समायोजन अत्यन्त आवश्यक कौशल है। शरीर का सन्तुलन (balancing) जो प्रत्येक प्रकार की गति का आधार है, वह भी इसी श्रेणी का कौशल है। सामान्य बालक इन कौशलों को स्वतः सीख लेते हैं। शैशव काल से ज्यों-ज्यों अवस्था बढ़ती जाती है, बालक बैठना, खड़े होना, चलना, दौड़ना आदि गतियों को स्वयं ही सीखता जाता है। बैठने का उद्योग करने के समय से शारीरिक सन्तुलन (balancing) क्रिया का स्वयं अभ्यास होने लगता है। हाथों और नेत्रों की गतियों का समायोजन उसी समय से प्रारंभ हो जाता है जब बालक खिलौने को हाथ में पकड़ने का प्रयत्न करना प्रारंभ करता है।

किन्तु मानसमन्दों को इन सब क्रियाओं में प्रशिक्षित करना पड़ता है। अन्वेषण से यह पाया गया है कि अल्पमानसमन्द इन क्रियाओं को लगभग १ वर्ष की देरी से सीखते हैं; अर्थात् जो क्रिया सामान्य शिशु छह मास की वय पर सीख लेते हैं वे मानसमन्द १८ से २४ मास तक की वय में सीख पाते हैं। फिर जितनी मन्दता अधिक होती है उतना ही उनके सीखने में अधिक विलम्ब होता है। संभव है छह मास पर की क्रिया को वह तीन वर्ष तक भी न सीख पाए। किन्तु वह अन्त में सीख जाता है।

मानसमन्दों को इन शारीरिक कौशलों की पूर्ण और भरसक प्रशिक्षा देनी आवश्यक है। स्कूल का कर्तव्य है कि इस प्रकार की शिक्षा या प्रशिक्षा का प्रबन्ध करे। विशेष प्रशिक्षकों को इस हेतु नियुक्त करे। शिक्षक कई रंग के खिलौनों या लकड़ी के रंगे हुए ब्लाकों को बालक के सामसे रखकर उनमें से एक को उठा लेने को उत्साहित करे, इससे हाथ और नेत्र की गतियों का समन्वय विकसित होगा। शिक्षक इसी प्रकार के खेलों, वस्तुओं आदि का उपयोग करके बालक को अन्य मौलिक कौशलों को सिखा सकता है। ये कौशल एक बार विकसित हो जाने पर फिर लुप्त नहीं होते; बालक उनको भूल नहीं सकता। त्रुटि युक्त बालकों को इन कौशलों में जितना भी निपुण किया जा सके, कम है।

इसके पश्चात उनको **भाषा** संबंधी आधारी या **प्राथमिक** (basic or primary) कौशल सिखाने होंगे; छोटे-छोटे नित्य व्यवहार के शब्द, उनका

उच्चारण, अति सरल लघु वाक्य (small sentence); आरंभिक रूप के प्रश्न और उत्तर। इसी प्रकार अंकों (numbers) का भी बोध कराना होगा; उनको जोड़ने और घटाने का आभास मात्र बालक को कराना उचित है। इसके पश्चात् **सामाजिक कौशल** (social skill) की बारी आती है जिसका आदि रूप बालकों के आपस में खेल हैं। यहीं से सामाजिक व्यवहार की शिक्षा आरम्भ होती है। दूसरे की बात सुनना, अपना मन्तव्य बताना, इच्छा प्रकट करना, सहयोग करना, आदान-प्रदान, ये क्रियायें चाहे कितनी ही आदि रूप की हैं, वे भावी विकास की आशाजनक हैं। इनसे बालक में स्वतन्त्रता और आत्म निर्भरता के गुणों के विकास की आशा की जा सकती है।

अनेक विशेषज्ञों का मत है कि इसी समय से बालकों को ऐसे खेलों में प्रवृत्त किया जाय जो मिल कर खेले जाते हैं। ऐसे खेलों से बालकों में सभी प्रकार के कौशलों का विकास होता है। बालकों में उत्तरदायित्व की भावना जागृत होती है। सहयोग, उचित और अनुचित का ज्ञान (चाहे आभास मात्र ही हो), एक दूसरे के भावों को समझना, दूसरों के प्रति आदर और प्रेम, स्पर्धा, इन सब गुणों की भावनाओं की नींव पड़ती है जो मानस-मन्दों के शिक्षा क्रम में बहुत बड़ी सफलता है जिस पर स्कूल और शिक्षक दोनों ही गर्व कर सकते हैं, क्योंकि ये आत्म विश्वास तथा आत्म निर्भरता के आरम्भिक चरण हैं। इनसे आशा बँधती है कि बालक आगे चल कर सामाजिक निपुणता प्राप्त करने में सफल होगा।

(३) स्कूलपूर्व शिक्षा की उपयोगिता और तत्परता कौशलों के पश्चात् प्रारंभिक शिक्षा सम्बन्धी कौशलों और सामुदायिक खेलों द्वारा गुणों के विकास का उल्लेख गत पृष्ठों में किया गया है। अब एक बार फिर से यह विचार करना उचित है कि इस समस्त शिक्षा-क्रम का उद्देश्य क्या है और स्कूल के प्रबन्धकों का मुख्य दृष्टिकोण क्या होना चाहिये।

शिक्षा के चार प्रयोजनों के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्कूल के समस्त शिक्षा-क्रम का उद्देश्य, मानसमन्दों के शिक्षणीय तथा अशिक्षणीय दोनों समुदायों के शिक्षण तथा प्रशिक्षण का उद्देश्य, उनको समाज का उपयोगी अङ्ग बनाना है। यदि वे स्वतन्त्र आर्थिक जीवन निर्वाह के योग्य हो जाते हैं, समाज को उनका भार नहीं उठाना पड़ता तो भी एक प्रकार से उनको उपयोगी ही समझना चाहिये। अतएव स्कूल के शिक्षाक्रम की व्यवस्था करने वालों तथा उसके प्रबन्ध करने वालों को यह समझ लेना चाहिये कि

जो भी वे शिक्षा-क्रम बनावें तथा उसकी पूर्ति के लिये जो प्रवन्ध करें, नियुक्तियाँ करें, वे दो लक्ष्यों को सामने रखकर करें :—(१) स्कूल के शिक्षा या प्रशिक्षण क्रम को समाप्त करने पर व्यक्ति आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सके और (२) वह सामाजिक जीवन व्यतीत करे, उसमें कोई समाज विरोधी प्रवृत्ति न उत्पन्न होने पावे।

कई वार कहा जा चुका है कि अन्वेषणों से स्पष्ट हो चुका है कि अधिकांश मानसमन्द शिक्षणीय होने के कारण, पूर्णतया आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने योग्य हो जाते हैं। शेष में से वहुतों को प्रशिक्षण के पश्चात् प्रारम्भ में कुछ वर्षों तक आर्थिक सहायता और मार्गदर्शन (guidance) की आवश्यकता होती है। उस समय में वे उपयुक्त नियुक्ति या काम पाने और स्थिर रूप से उसमें लग जाने में सफल हो जाते हैं। जो थोड़े से वच जाते हैं वे भी किसी न किसी प्रकार का काम पा ही जाते हैं। ऐसी संख्या बहुत कम होती है जिनका जीवन भर भार समाज को उठाना पड़ता है।

अतएव इस लक्ष्य को सामने रख कर स्कूल का समस्त कार्यक्रम तैयार करना उचित है। यह कार्यक्रम ५ वर्ष के वय से प्रारम्भ होकर १८ वर्ष की आयु पहुँचने पर समाप्त होता है। १३ वर्ष तक निरन्तर जारी रहता है। इसके पश्चात् भी जिनको आवश्यकता हो उनको शिक्षा प्राप्ति की सुविधायें सुलभ हों। इस प्रकार इस सम्पूर्ण कार्यक्रम के अन्तर्गत स्कूलपूर्व शिक्षण, तत्परता कौशलों का प्रशिक्षण, उच्चशिक्षा (अध्ययन) सम्बन्धी कौशलों की प्राप्ति, व्यवसायपूर्व प्रशिक्षण (prevocational training), व्यावसायिक प्रशिक्षण (vocational training) तथा उपवोधन (परामर्श, counselling) अर्थात्, इन सब विषयों में उनको दीक्षित करना-समझना चाहिये।

(४) अब इस सम्बन्ध में एक और विचारणीय विषय रहा—बालक का परिवार (family)।

जिस समय बालक स्कूल में उपर्युक्त शिक्षा या प्रशिक्षण प्राप्त कर रहा है उसी समय उसको अपने पारिवारिक अनुभव भी प्रभावित कर रहे हैं, क्योंकि वह अपने परिवार—माता-पिता, भाई-बहिन के साथ रह रहा है जहाँ वह न केवल अपने भाई-वहिन या माता-पिता के सम्पर्क में आता है, किन्तु पड़ोसी लोग, उनके बालक तथा परिवार के मित्रगण अपने पुत्र-पुत्रियों सहित भी आते रहते हैं और उनसे भी उसका सम्पर्क होता है। यह कहना कठिन है कि इन पारिवारिक तथा सामाजिक सम्पर्कों से जो

उसको अनुभव प्राप्त होते हैं वे सदा उसके लिए हितकर होते हैं। संभावना इसके विरुद्ध है। इस प्रकार प्राप्त अनुभव उसके स्कूल के अनुभवों के विरोधी होने से उसको हानि हो सकती है। स्कूल के अनुभवों से उसकी जो प्रगति होती है वह इन अनुभवों से नष्ट हो सकती है। बालक के स्वयं भाई-बहिन उससे तिरस्कार या घृणा का व्यवहार कर सकते हैं क्योंकि वह उनके समान बुद्धिमान नहीं है। माता-पिता का भी उसकी ओर से उदासीन होना संभव है। ऐसे अनुभव बालक की प्रगति के लिये घातक हैं।

अतएव माता-पिता का सहयोग बालक की शिक्षा की सफलता के लिये आवश्यक है। वे सदा बालक के प्रत्येक शिक्षा-क्रम से पूर्णतया परिचित रहें। वे भी समझें कि बालक को जो शिक्षा क्रम दिया जा रहा है उसका क्या प्रयोजन है, उससे किस भाँति बालक की प्रगति होगी और जो कुछ उसके विरुद्ध होगा उससे उसको हानि पहुँचेगी। उनको यह भी बताना आवश्यक है कि किस प्रकार वे शिक्षा-क्रम में सहायता देकर बालक का हित कर सकते हैं। इस कारण समय-समय पर, जब उचित हो, बालक के सम्बन्ध में विचार करते समय उनको आमन्त्रित कर लेना लाभदायक होगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि उनको प्रत्येक बार विचार करते समय बुलाया जाय। किन्तु केवल जब प्रबंधक उनको बुलाना उचित और उपयोगी समझें तब बुलावे। इस प्रयोजन के लिये अध्यापक तथा समाजसेवक (social worker) अति उपयोगी हो सकते हैं। पब्लिक नर्स भी इस काम को उत्तम प्रकार से कर सकती है। उसको परिवार का विश्वास प्राप्त करना अति सुगम होगा।

समाज का मानसमन्दों के प्रति व्यवहार

यह बहुत पुराना इतिहास है जिसका आभास इस पुस्तक के पाठकों को प्रारम्भ ही से जहाँ-तहाँ मिलता रहा है। यहाँ उस इतिहास के विशद् वर्णन का मन्तव्य नहीं है। किन्तु इतना संकेत करना उचित और आवश्यक है कि साधारण अनभिज्ञ जनता के समान यदि स्कूल के अध्यापक वर्ग अथवा अन्य कर्मचारियों में कोई भी इन जन्मजात त्रुटि युक्त बालकों को तिरस्कार और हीनता की दृष्टि से देखने वाला होगा तो स्कूल को अपने उद्देश में सफलता न मिलेगी। सामान्य जनता में मानसमन्दों को अछूत के समान समझने वालों की अब भी कमी नहीं है और उन्नत देशों में भी स्कूलों के कर्मचारियों में ऐसे व्यक्ति निकल आते हैं जो ऐसे बालकों की प्रगति में विश्वास नहीं करते। स्कूल के प्रबन्धकों को नियुक्तियाँ करते समय इस

ओर विशेष सावधान रहना आवश्यक है कि जो भी व्यक्ति स्कूल में नियुक्त किये जाँय वे स्कूल के उद्देश्य में पूर्ण विश्वास रखते हों, जो मानसमन्द बालकों अथवा प्रौढ व्यक्तियों की सहायता करना और उनकी उन्नति के लिये स्कूल द्वारा निर्णीत आयोजनों में सहयोग देना अपना मुख्य ध्येय बना सकें। प्रेम पूर्वक और उत्साह वर्धक व्यवहार से मानसमन्दों को विशेष लाभ होता है।

साथ ही बालक के परिवारवालों को भी भलीभाँति अवगत कर देना उचित है कि वे अपने व्यवहार द्वारा बालक का हित और अहित दोनों कर सकते हैं। प्रेम और आदर का व्यवहार बालक के लिये औषधि के समान काम करता है; उसकी मानसिक दशा के सुधार में सहायक होता है। किन्तु इसके विरुद्ध व्यवहार से उसकी अवनति होती है।

सामान्य स्कूलों में भी यही दोष है। त्रुटि युक्ति बालक को अन्य सामान्य बालक के साथ रखने से वे इस बालक को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं और उससे दुर्व्यवहार करते हैं। इसीलिये 'विशेष कक्षाऐं और स्कूल' बनाये गये हैं।

मानसमन्दों के स्कूल में यदि ऐसा वातावरण उत्पन्न हो जाय तो उसको समूल नष्ट करना आवश्यक है, प्रबन्धकों को इस ओर सतर्क रहना चाहिये।

मानसमन्दों के दोष जो उनके शिक्षाग्रहण करने में बाधक होते हैं

मन्द बालको में प्रायः निम्नलिखित त्रुटियाँ पाई जाती हैं जिनके कारण वे सीखने या शिक्षा ग्रहण करने में सामान्य समान वय वाले बालकों के समान प्रगति नहीं कर पाते।

१. उनकी सीखने की क्रिया मन्द होती है। उसकी मन्द गति होने के कारण उनको सीखने में सामान्य बालकों की अपेक्षा अधिक समय लगता है। इस कारण वे slow learners अर्थात् मन्थर या दीर्घसूत्री विद्यार्थी कहे जाते हैं।

२. समान मानसिक वय (mental age) के (अर्थात् कम वार्षिक वय के) सामान्य बालकों से तुलना करने पर उनकी अपेक्षा वे सदा मन्थर या मन्द नहीं पाये जाते। वे किसी एक विशेष क्रिया अथवा कौशल को सीखने में उनसे तीव्र हो सकते हैं। दूसरी दिशा में अथवा अन्य क्रिया को सीखने में अधिक समय लगा सकते हैं, और कुछ को वे सामान्य बालकों ही के समान सीख सकते हैं।

३. सामान्य बालकों की अपेक्षा मन्द बालकों में किसी बात पर ध्यान केन्द्रित करने (attention), विवेचन करने (discrimination), स्मरण या याद करने (memorise), विचार करके निष्कर्ष पर पहुँचने तथा प्रत्यक्षीकरण (conceptualisation) की सामर्थ्य कम होती है। मानसिक वय के समान होने पर भी ये शक्तियाँ सामान्य बालकों के समान प्रबल नहीं होतीं।

४. मन्द बालकों की सीखने की शक्तियों में बहुत भिन्नता पाई जाती है। सामान्य बालक और व्यक्तियों में यह भिन्नता होती है। और उन्हीं की भाँति मन्द बालक भी एक दूसरे से भिन्न होते हैं। किसी बात को या विषय को एक बालक शीघ्र ग्रहण कर लेता हैं, अन्य को नहीं सीख पाता, दूसरे कौशल को सीख लेता है। इस कारण प्रत्येक बालक की शक्तियों और त्रुटियों का पृथक-पृथक बोध करना आवश्यक है।

५. मानसमन्दों के साथ एक और कठिनाई होती है। वे अपने स्वभाव में अथवा आदतों में बड़े ही दृढ़, अपरिवर्तनीय या अनमनशील (inflexible rigid) होते हैं। किसी काम को करने का, या सीखने का जो ढंग एक बार अपना लेते हैं, किसी प्रकार सीख जाते हैं उसको सहज में नहीं छोड़ते। उसमें परिवर्तन करना, उनको दूसरा ढंग सिखाना कठिन होता है। इसके प्रतिकार का उपाय बार-बार सिखाना, पुनरावृत्ति करना है। वह भी इस प्रकार सिखाना कि वे उसको खेल समझें, उसमें प्रसन्नता का अनुभव करें। इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है। इस कारण धैर्य आवश्यक है।

कुछ विद्वानों की सम्मति है कि ऊपर जो त्रुटियाँ बताई गई उनका विशेष कारण मन्द बालकों में **अभिप्रेरण** (motive, motivation) की कमी होती है। सामान्य बालकों में जैसे किसी लक्ष्य की प्राप्ति की भीतर से लगन होती है उसकी मन्द बालकों में त्रुटि होती है। यही अभिप्रेरण कहा जाता है।

इसका क्रियात्मक अर्थ यह है कि बालक में अभिप्रेरण उत्पन्न करना— उसके अभाव को मिटाना, शिक्षाक्रम का एक अंग बनाना होगा और शिक्षक को अभिप्रेरणा उत्पन्न करने वाले उपायों का प्रयोग करना होगा। अभिप्रेरणा या लगन के बिना शिक्षा अथवा प्रशिक्षण द्वारा किसी भी कौशल में निपुणता प्राप्त करना संभव नहीं होता। प्रयोगों से पाया गया है कि शिक्षा की नवीन विधियों द्वारा शिक्षक मन्द बालक में इस गुण का समावेश करने में बहुत कुछ सफल हो सकता है। और बालक का यह अवगुण, यदि पूर्णतया नहीं तो उसका अधिकांश अवश्य मिटाया जा सकता है।

मन्द वालकों में स्मृति (memory) शक्ति भी अल्प होती है। विशेषकर हाल की घटनाएँ उनको शीघ्र ही भूल जाती हैं। कुछ विद्वान मानते हैं कि इस स्मृति की अस्थिरता का कारण जो पूर्व का उनका शिक्षा क्रम था, अथवा जो शिक्षा उनको दी गई उसी का दोष था। वह शिक्षा ही अनुचित प्रकार से दी गई थी। एक विद्वान (Dr. Ellis) का विचार है कि इस अवगुण का कारण वालक के मध्यस्थ तंत्रिका तन्त्र (central nervous system) की, या उसके किसी भाग का दुष्कार्य (dysfunction) है, उस भाग का कार्य करना ही विकार युक्त है।

जो कुछ भी हो, उसका प्रतिकार करना ही होगा। प्रयोगों से पाया गया है कि वार-वार याद करना, अत्यधिक सीखना (overlearning) ही इस दोष के प्रतिकार का उपाय है।

मन्द वालकों का ध्यान भी शीघ्र ही उतर जाता है, इसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। वे कुछ समय निरंतर अपना ध्यान किसी विषय पर केन्द्रित नहीं कर पाते। इसका कारण भी पूर्व शिक्षा का अनुचित अनुभव होता है। और उसका प्रतिकार भी ध्यान को वार-वार आकर्षित करना है। एक ही वात को वार-वार दुहराना, वस्तु को वार-वार दिखाना—दोष को दूर करने का यही उपाय है।

अध्यापक या शिक्षक का कार्य

अध्यापक का कार्य बहुत महत्त्व का है। मानसमन्दों की जो त्रुटियाँ तथा आवश्यकतायें वताई गई हैं तथा शिक्षा का जो लक्ष्य है उन सब की पूर्ति का एक प्रकार से अध्यापक ही आधार है, यह कहना अत्युक्ति न होगा। अल्प आयु के वालकों के घर से आने पर अध्यापिका माता का स्थान ले लेती है (वालकों के अध्यापक प्रायः स्त्रियाँ होती हैं)। वालक, विशेषतया छोटी वय के, उससे वही प्रेम, आश्रय, सुरक्षा, सहानुभूति की आशा करते हैं जो घर में अपनी माता से करते हैं। वह उस पर उसी भाँति कुपित भी हो जाते हैं जैसे माता पर होते हैं और आशा करते हैं कि वह माता ही के समान उसको मनायेगी।

वालक की वय के अनुसार उसके भाव अध्यापक की ओर वदलते रहते हैं। वड़े होने पर वे उसको विशेष विज्ञान और कौशलों का भंडार समझते हैं और उससे ज्ञान प्राप्ति और निर्देशन (guidance) की प्रतीक्षा करते हैं। अध्यापक के वालक का विश्वास प्राप्त कर लेने पर वे उसको अपना शुभेच्छ और सहायक मानकर उसको अपना रक्षक मान लेते हैं और उसको

अपनी कठिनाइयों को बताने और उनको सुलझाने में मार्गदर्शक समझते हैं। ऐसा अध्यापक अथवा अध्यापिका जो बालक का पूर्ण विश्वास उपार्जन कर सके वह वास्तव में बालक के जीवन को सुधारने में सफल होता है। यह पाया गया है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ विशेष कर थोड़ी वय के बालकों के अध्यापन में अधिक सफल होती हैं। यहाँ हम विषय-विचार के लिये मान लेते हैं कि एक अध्यापिका ही को बालकों को शिक्षित करना है। उसमें क्या गुण होने चाहिये, इसी का विचार उपादेय है।

सामान्य बालकों से भी अधिक मन्द बालकों पर अध्यापिका के व्यक्तित्व का विशेष प्रभाव होता है। यह प्रभाव बालक के भविष्य को उज्ज्वल कर सकता है अथवा उसके अन्धकारमय होने का कारण बन सकता है। बालक को समझना, उसके आन्तरिक भावों को प्रत्यक्षतः स्वयं अनुभव करना जैसे एक विज्ञ माता अपने बालक के भावों को समझ लेती है उसी प्रकार अध्यापिका की सफलता का आधार है।

जहाँ एक माता को केवल अपने एक ही बालक को समझना होता है वहाँ अध्यापिका को कितने ही बालकों को समझना पड़ता है। प्रत्येक बालक की मनोवृत्तियाँ भिन्न होती हैं। इस कारण बालकों के भाव भी अध्यापिका की ओर भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं। कोई उसको माता की दृष्टि से देखे, दूसरा उसको ज्ञान का भंडार समझ सकता है, तीसरा उसको अपना मित्र और सहायक समझे अथवा उसकी ओर से उदासीन ही रहे। अध्यापिका को उन सबों के भिन्न भावों को समझना है। और उनके ही तदनुरूप अपने भावों और व्यवहार को इस प्रकार ढालना है कि प्रत्येक बालक उसको अपनी माता ही के समान अपना हितू समझे। न केवल यही, किन्तु माता से भी अधिक अपना विश्वास पात्र माने, वह अध्यापिका से अपना सब सुख-दुःख, अपनी गोपनीय से गोपनीय बात भी कह सके।

अध्यापिका का कार्य बहुत कठिन है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। उसको न केवल सामान्य बालकों की शिक्षा की विधियों से परिचित होना आवश्यक है, वरन उसको उन सब आयोजनों में भी निपुण होना चाहिये जो मानसमन्द बालकों की शिक्षा या प्रशिक्षण के लिये उपयोगी पाये गये हैं। सब से ऊपर वह एक क्रियात्मक मनोविज्ञानी भी हो जिससे वह बालकों का पूर्ण विश्वास प्राप्त कर सके तथा उनको अपने व्यवहार द्वारा सन्तुष्ट और प्रभावित भी कर सके।

अध्यापक या अध्यापिका में क्या-क्या गुण होने चाहिये इस के सम्बन्ध में बहुत लेख लिखे गये हैं तथा प्रस्ताव उपस्थित किये गये हैं। इसी विषय

पर बहुत सा साहित्य उपस्थित हो गया है। प्रस्तावों का सार निम्नलिखित है।

अध्यापक के गुण

१. सबसे प्रथम, उसको मानसमन्दों के शिक्षा तथा प्रशिक्षण द्वारा, सुधार तथा उन्नति के सिद्धान्त में विश्वास होना चाहिये। बहुत से व्यक्ति मानसमन्दों की दशा का सुधार असम्भव समझते हैं। ऐसा व्यक्ति यदि आर्थिक लाभ के लिये इन बालकों का अध्यापक बन भी जाता है तो उसको अपने काम में कोई उत्साह नहीं हो सकता। इस काम में वही सफल हो सकता है जो उसको अपने जीवन का ध्येय बना ले।

२. सामान्यतः उसको बालकों से सहानुभूति और प्रेम हो और अपने को बालकों के ही जीवन में ढाल सके। उनके साथ बालकों ही का सा व्यवहार कर सके। उनके साथ उन्हीं के समान खेल सके, खेल कूद कर उनका मनोरंजन कर सके। संक्षेपतः जो बालकों के आन्तरिक भावों को समझ सके। ऐसा व्यक्ति बालकों को आकर्षित करने में शीघ्र ही सफल होता है और उनका विश्वास पात्र बन जाता है।

३. उसका मानसिक सन्तुलन दृढ़ हो, अर्थात् शीघ्र ही क्षुब्ध न हो, विरोध तथा विपरीत स्थितियों में स्थिर रहे, प्रत्येक स्थिति के लाभ और हानि का विचार करके उचित निर्णय करने में समर्थ हो।

४. अंतिम गुण, वह सज्जन, सच्चरित्र और लगन वाला हो तथा अपने व्यक्तित्व द्वारा बालकों को प्रभावित कर सके तथा अपने सहयोगी कार्यकर्ताओं का भी सहयोग प्राप्त कर सके।

ऐसे व्यक्ति को मानसमन्दों की शिक्षा पद्धति में प्रशिक्षित (training) करने के लिये चुनना चाहिये। उपर्युक्त सारे गुण किसी एक व्यक्ति में सम्पूर्णतः उपस्थित होना कठिन है। किन्तु वे मौलिक रूप से सच्चरित्र और कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति में अवश्य उपस्थित होते हैं। और प्रशिक्षण काल में उनका विकास करना यह प्रशिक्षण करने वाली संस्था के प्रशिक्षकों का काम है।

५. अतएव प्रशिक्षित व्यक्ति सामान्य बालकों की आधुनिक शिक्षा प्रणाली की विधियों से पूर्णतया परिचित हो। इसके अतिरिक्त उसको मानसमन्दता के विषय का सम्पूर्ण ज्ञान हो, मानसमन्दों की आवश्यकताओं को भलीभाँति समझ सके और उनकी त्रुटियों को दूर करने के नवीन उपायों को भी कुशलता पूर्वक व्यवहार में ला सके।

६. प्रत्येक मानसमन्द में अपनी ही विशेषता होती है जो दूसरे मानसमन्दों से पृथक् होती है। इस कारण अध्यापक या अध्यापिका में यह योग्यता होनी उचित है कि वह प्रत्येक मानसमन्द की आवश्यकता को समझ ले और उसकी पूर्ति के लिये उपयुक्त उपायों का विचार कर सके। आवश्यक हो तो वह नये उपायों या आयोजनों का आविष्कार करे और उनको स्कूल की प्रवंधक समिति के विचार के लिये उपस्थित करे। तथा उनके स्वीकृत कर लेने पर उनका उपयोग करे। इस प्रकार नये-नये अविष्कार होते रहेंगे और तत्सम्वन्धी ज्ञान का विस्तार होगा।

ऐसे अध्यापक व अध्यापिका को उपयुक्त शिक्षा द्वारा तैयार करना सरकारी शिक्षा विभाग का कर्तव्य है।

अध्यापकों का प्रशिक्षण (training)

मानसमन्दों के अध्यापक अथवा अध्यापिकाओं को प्रथम सामान्य बालकों के शिक्षा सिद्धान्तों को सीखना आवश्यक है। तत्पश्चात उनको मानसमन्दों की शिक्षा का पूर्ण अध्ययन उचित है। मानसमन्दता के कारण, भिन्न-भिन्न संलक्षण तथा अन्य दशायें जिनसे त्रुटि उत्पन्न हो सकती है उन सव का पूर्ण ज्ञान तथा उनके प्रतिषेध (prevention) के उपायों से वे भलीभाँति विज्ञ हों। क्रियात्मक रूप से उनको वालक अथवा प्रौढ़ व्यक्ति की त्रुटि को पहचान लेने और बालक या व्यक्ति का पूर्ण मूल्यांकन (evaluation) करने में उनको निपुण होना अनिवार्य है। बालक का मूल्यांकन केवल उसके स्कूल में भरती होने के समय ही करने से समाप्त नहीं हो जाता। वह एक संतत प्रक्रिया (continuous process) है जो जब तक बालक स्कूल में रहता है जारी रहती है। उसी से अध्यापक विद्यार्थी की प्रगति का अनुमान कर सकता है। विद्यार्थी की भरती के समय चाहे मूल्यांकन निर्णायक समिति द्वारा हो, किन्तु उसका विशेष भार तो अध्यापक पर ही है जिसको अन्त तक विद्यार्थी का मूल्यांकन करते रहना होगा। अतएव अध्यापक को मूल्यांकन विधियों में निपुण बनाना प्रशिक्षक संस्था का काम है।

इसके पश्चात् मानसमन्दों की शिक्षा की भिन्न-भिन्न विधियों का अध्यापन उचित है। यह अध्यापन केवल सैद्धान्तिक रूप में न परिमित रह जाय। किन्तु क्रियात्मक शिक्षा देना उचित है। अध्यापकों को मानसमन्दों की संस्थाओं में भेज कर वहाँ उनसे उनको शिक्षित करवाया जाय। यह उनका क्रियात्मक कार्य होगा। वे मानसमन्द बालकों को शिक्षित करने का काम

क्रियात्मक रूप से सीखेंगे। जो कार्य उनको आगे चलकर करना है उसी की वे शिक्षा प्राप्त करेंगे। वे उसमें जितने निपुण होंगे उतना ही अधिक वे बालकों को लाभ पहुँचा सकेंगे और जिस संस्था में वे काम करेंगे उसकी उतनी ही कार्यक्षमता (efficiency) और उपयोगिता बढ़ा सकेंगे। अतएव क्रियात्मक कार्य पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

कुछ समय पूर्व तक अध्यापक को ऐसी कक्षा को पढ़ाना या सिखाना होता था जिसमें सभी बालक मानसमन्द होते थे। किन्तु अब यह प्रवृत्ति बदल रही है। मानसमन्दों को सामान्य बालकों की कक्षाओं में दीक्षित करने का फिर से प्रयत्न किया जा रहा है। इस कारण मन्द विद्यार्थियों को सामान्य विद्यार्थियों के स्तर तक पहुँचा देना आवश्यक है जिससे वे उनके साथ चल सकें।

साथ ही इसका भी ध्यान रखना होगा कि समाज में वेग से परिवर्तन होता जा रहा है। वह औद्योगिक (industrial) समाज बनता जा रहा है। पाश्चात्य देशों के समान हमारे देश में भी उद्योग का महत्व बढ़ता जा रहा है। जातीय आर्थिक उन्नति का वही आधार है। इस कारण उद्योगों में काम करने वालों और उससे अपना जीवनोपार्जन करने वालों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। शिक्षा और प्रशिक्षा के पश्चात् मानसमन्दों को भी इसी प्रकार जीवनोपार्जन करना होगा। अतएव उनको इसी जीवन के लिये तैयार करना सुधारकों का उद्देश्य होना चाहिये।

इन सामाजिक परिवर्तनों के अनुकूल शिक्षा-क्रम और प्रशिक्षण-विधियों में परिवर्तन करके नयी-नयी विधियों का आविष्कार करने की योग्यता अध्यापक के लिये बहुत आवश्यक है। अध्यापकों के शिक्षा-क्रम में इस दिशा में उचित ध्यान देना वांछनीय है।

अध्यापकों को मानसमन्द विद्यार्थियों के माता-पिता तथा परिवार की सहायता, उनका सहयोग प्राप्त करने को शिक्षा देना भी आवश्यक है। इस पर पहले भी प्रकाश डाला जा चुका है। बालकों की शिक्षा के लिये जो भी निर्णय किया जाय उसमें उनके माता-पिता का सहयोग बहुत आवश्यक है। न केवल निर्णय में, किन्तु बालक के लिये दैनिक कार्यवाही से भी वे पूर्णतया अवगत रहें, उनको यह विश्वास रहे कि बालक की उन्नति के लिये सर्वोत्तम उपायों का उपयोग किया जा रहा है, संस्था के अधिकारी बालक की प्रगति के लिये माता-पिता ही के समान चिन्तित हैं, इस काम के लिये अध्यापक ही उपयुक्त व्यक्ति है। उसके समय-समय पर बालक के माता-

पिता से मिलकर बालक के सम्बन्ध में बात-चीत करते रहने से वे संस्था तथा अध्यापक के समर्थक बन जाते हैं। और बालक के सम्बन्ध में अध्यापक या स्कूल की ओर से जो प्रस्ताव किये जाते हैं उनकी पूर्ति में वे सहायक होते हैं। इस प्रकार न केवल बालक को लाभ होता है, किन्तु अध्यापक को भी बालकों के माता-पिता वर्ग के भावों का अध्ययन करने का अवसर मिलता है।

यह माता-पिता-शिक्षक वर्ग सम्बन्ध (parents-teacher relationship) कहलाता है। इस सम्बन्ध को यथाशक्ति उन्नत करने की शिक्षा अध्यापक वर्ग को बहुत आवश्यक है।

(४) एक और गुण अध्यापक के लिये आवश्यक है—संस्था के अन्य कर्मचारियों का सहयोग और सम्मान प्राप्त करना। एक उत्तम सज्जन कर्तव्यरत अध्यापक को इसमें विशेष कठिनाई नहीं होती, विशेष कर ऐसी संस्थाओं में जहाँ सारे विद्यार्थी मानसमन्द ही होते हैं। किन्तु जहाँ मानसमन्द और सामान्य बालकों की कक्षायें साथ-साथ होती हैं वहाँ सामान्य-बालकों के अध्यापकों में मानसमन्द बालकों के अध्यापकों से दुर्व्यवहार करने, उनको तिरस्कार की दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति होती है। ऐसे अज्ञानी व्यक्तियों को मानसमन्दता की दशा समझाना ही अनेक बार पर्याप्त होता है। उनको यह भी बता दिया जाय कि उनके कार्य की अपेक्षा मानसमन्दों के अध्यापकों का काम कहीं अधिक कठिन है। इससे भी अधिक सफल मानसमन्दों को दैनिक व्यवहार कुशल बनाना है। यदि वे अन्य सामान्य बालकों और अन्य व्यक्तियों से शिष्ट व्यवहार करेंगे तो वे तिरस्कार करने वाले व्यक्ति स्वयं ही उनके व्यवहार से लज्जित होकर दुर्व्यवहार करना छोड़ देंगे।

शिक्षा-क्रम में इस ओर ध्यान आकर्षित करने की व्यवस्था करना लाभदायक होगा।

पाठ्यचर्या (curriculum)

पाठ्यचर्या का अर्थ है, जो शिक्षा विद्यार्थी को उसके समस्त स्कूल काल में देनी है, उसका कार्य-क्रम। जितने समय तक वह स्कूल में रहेगा, मान लिया जाय, ५ वर्ष से १८ वर्ष की वय तक, अर्थात् १३ वर्ष में जो कुछ बालक को सिखाना है, उसका एक कार्यक्रम बना लिया जाता है। यह पाठ्यचर्या कही जाती है। इसके अन्तर्गत विषयों का उल्लेख रहता है; कौन विषय विद्यार्थी को पढ़ाये जायेंगे; किस विषय को किस वर्ष में पढ़ाया

जायगा। कई विषय कई वर्ष में पढ़ाये जाते हैं। तब यह निश्चय किया जाता है किस विषय का कितना अंश किस वर्ष में पढ़ाया जायगा। इस प्रकार बालक के संस्था में प्रवेश के समय से उसके स्कूल को छोड़ने तक के सम्पूर्ण काल में उसको जो कुछ पढ़ाना या सिखाना है उस सब का कार्यक्रम प्रारम्भ ही में निश्चय करना होता है। यही पाठ्यचर्या है। इसमें समय-समय पर नई आविष्कृत विधियों तथा आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन अवश्य किये जा सकते हैं। किन्तु स्थूल रूप से रूपरेखा पहले ही तैयार कर ली जाती है।

मूल्यांकन (evaluation)—इसकी चर्चा पहले भी की गयी है। पाठ्यचर्या निर्धारित करने का यह प्रथम चरण है। उसके द्वारा ही बालक की त्रुटियों तथा योग्यता का पता चल सकता है जिनके ऊपर उसकी भविष्य की शिक्षा या प्रशिक्षण निर्भर करता है। अतएव मूल्यांकन सम्पूर्ण होना चाहिये। उसके द्वारा बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का गम्भीर बोध प्राप्त होना है। उसी से बालक की मानसमन्दता तीव्र या अल्प होने का पता चलता है और उसके कारणों को जान लेने की भी सम्भावना होती है। एक उच्चकोटि के मान्य विद्वान (Sir Cyrl Burt) ने लिखा है कि 'बालक को मानसमन्द जान लेना उपयोगी है, मानसमन्दता की प्रगाढ़ता को पहचानना अधिक उपयोगी है, किन्तु कब और किन कारणों से बालक में मानसमन्दता उत्पन्न हुई इसका पता लगा लेना अत्यन्त महत्व का और क्रियात्मक रूप से लाभदायक है'।

बालक के संस्था में प्रवेश के समय मूल्यांकन की विधि का विचार किया जा चुका है। किन्तु वह वहाँ ही समाप्त नहीं हो जाता। यह सदा ही होते रहने वाली क्रिया है। अध्यापक प्रतिदिन बालक के व्यवहार से, कक्षा में उसकी उपलब्धि अथवा निष्पादन (achievement, performance) से उसका मूल्यांकन करता रहता है कि वह प्रगति कर रहा है अथवा नहीं कर रहा है। यदि कर रहा है तो उसकी कैसी गति है, सन्तोषजनक है या नाममात्र ही है।

बालक के लिये उपयुक्त पाठ्यचर्या बनाने के लिये उसके प्रत्येक पक्ष का अन्वेषण आवश्यक है। शारीरिक (medical) विकार सम्बन्धी, मानसिक (psychological) तथा शैक्षिक स्तर इन सबों का ज्ञान आवश्यक है।

शारीरिक विकार—शरीर के किसी अंग का दोष बालक की त्रुटि को और भी बढ़ाकर बालक की कार्यक्षमता का बाधक होता है। दृष्टि दोष,

(errors of vision), श्रवण शक्ति का ह्रास, गत्यात्मक असमर्थता (motor disabilities) जैसे हाथ और नेत्र की गतियों का असमायोजन (incoordination), शारीरिक सन्तुलन (balancing) के विकार आदि दशायें बालक की प्रगति अथवा विकास में विशेष बाधक होती हैं। अतएव ऐसे विकारों की पूर्ण जानकारी के पश्चात् ही उनका प्रतिकार करने के उपायों को प्रस्तावित किया जा सकता है।

मानसिक (psychological)—बालक की बुद्धि का अनुमान करना मुख्य प्रयोजन है। उसी की अल्पता का सुधार समस्त पाठ्यचर्या का मुख्य उद्देश्य है। बुद्धि माप के सम्बन्ध में, जिसको सामान्यतः I. Q. कहा जाता है गत पृष्ठों में बहुत कुछ कहा जा चुका है। अब तक यही मानसमन्दता का मुख्य मापदंड माना जाता रहा है। किन्तु अब उसका महत्व कम हो गया है। उस पर अधिक विश्वास करना भूल है, यह प्रमाणित हो चुका है। उसका उचित विचार आवश्यक है। किन्तु उसी को मानसमन्द की त्रुटियों और आवश्यकताओं तथा उसकी भविष्य की शिक्षा का आधार मान लेना ठीक नहीं है। I. Q. मानसमन्द की प्रत्येक प्रकार की त्रुटि का सूचक नहीं है। ५० I. Q. वाला ६० या ७० I. Q. वाले से प्रत्येक क्रिया में मन्द हो, ऐसा नहीं है। कम I. Q. वाला अधिक I. Q. वाले से यदि कुछ दिशाओं में मन्द होता है तो वह अन्य दिशा या क्रिया में तीव्र हो सकता है। यह प्रति दिन का अनुभव है। यदि एक बालक पढ़ने में मन्द है तो वह अपने से अधिक I. Q. वाले से सामाजिक कौशल से कहीं अधिक निपुण हो सकता है। अन्वेषण से ऐसा ही पाया जाता है।

इस कारण मानसिक परीक्षा या मूल्यांकन में I. Q. के अतिरिक्त बालक की गत्यात्मक क्रियाओं—प्रेरक संवेदनिक निष्पादन (motor-sensory performance), भाषा उपलब्धि (language achievement) अर्थात् अपने को व्यक्त करने की योग्यता तथा संज्ञापन (communication) योग्यता—आदि को जान लेना भी आवश्यक है जिससे बालक का सम्पूर्ण व्यक्तित्व (personality) अवगत हो सके।

शैक्षिक—यहाँ शैक्षिक से पढ़ने-लिखने या साहित्य शिक्षा से प्रयोजन नहीं है। वरन् इस अल्पायु में बालक में मौलिक या आधारी कौशलों (basic skills) का कितना विकास हुआ है, यह जानना मन्तव्य है। बालक का उठने-बैठने, चलने-फिरने का ढंग, शौचत्याग की आदतें, वस्त्रों को पहनना, उतारना, रखना, बालक की रुचि, शारीरिक स्वच्छता आदि गुणों

का उसमें कितना उदय हुआ है, यही उसकी इस वय तक की शिक्षा का अर्थ है। इन गुणों का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही यह निश्चित किया जा सकता है कि भविष्य में उसको किन कौशलों की शिक्षा देनी होगी।

बालक के स्कूल में भरती हो जाने के पश्चात उसकी स्कूल में प्रगति उसके मूल्यांकन का विशेष आधार होगी। यह शैक्षिक उपलब्धि (educational achievement) कहलाती है। जो कुछ बालक को सिखाया गया है, पाठ पढ़ाया गया है अथवा अंकगणित सिखाया गया है वह कितना सीख पाया है। अपनी कक्षा के समवयस्क वालकों ही के समान वह विषयों को ग्रहण कर पाया है या नहीं। यदि नहीं, तो वह उनसे कितना पीछे रहा है, तथा किस विषय में, किस कौशल में उनके समान है। शिक्षक को इसका ब्योरा रखना आवश्यक है जिससे उसकी स्वाभाविक योग्यता का अनुमान हो जाय, योग्यता की आधारी रेखा वन जावे; बालक में कितनी योग्यता उपस्थित है, उसके आगे प्रगति करानी है। कितने समय में वालक ने कितनी प्रगति की इसका भी उसके द्वारा बोध हो सकेगा। शिक्षक को उचित है कि वह प्रत्येक बालक के सम्वन्ध में एक डायरी या फाइल बना ले जिसमें वह बालक के सम्वन्ध में नित्य प्रति अथवा समय-समय पर तिथि अनुसार जो भी विशेषता देखे उसे नोट करता रहे। दो या तीन मास में उसको पूर्ण ज्ञान हो जायगा कि बालक ने कितनी प्रगति की है, या नहीं की है, उसमें कौन-कौन त्रुटि है अथवा कौन योग्यताएँ हैं। यही बालक की प्रगति रिपोर्ट (progress report) होगी। इसी के अनुसार पाठ्यचर्या (curriculum) में परिवर्तन करना होगा। शिक्षक को इस रिपोर्ट में, बालक की प्रगति के लिये अथवा यदि उसने उसमें कोई विशेष त्रुटि अनुभव की है तो उसके सुधार के लिये अपना प्रस्ताव भी नोट करना उचित है। शिक्षक को अपनी रिपोर्ट में बालक के सभी भिन्न-भिन्न क्षेत्रों पर विचार प्रकट करना चाहिये, विशेषकर, संवेगात्मक पक्ष (emotional aspect) पर; बालक का अन्य व्यक्तियों के साथ व्यवहार, नये व्यक्तियों से सम्पर्क में आने पर उसका आचरण, अपने सहपाठियों से सहयोग, दैनिक कार्यक्रम में कक्षा में तथा खेलकूद के क्षेत्र में आचरण; ये सब वातें पाठ्यचर्या की योजना में सहायक हैं।

बालक के माता-पिता के सहयोग की चर्चा गत पृष्ठों में की गई है। मूल्यांकन में भी उनका सहयोग वांछित है। वास्तव में सब से पहले उन्होंने ही बालक के सम्बन्ध में अपने विचार निर्णीत किये थे। यह अवश्य पाया गया है कि वे अपनी सन्तान के सम्बन्ध में अप्रिय सम्मति को ग्रहण करने में

अत्यन्त विरक्त होते हैं, वे यह स्वीकार करने को तैयार नहीं होते कि उनकी सन्तान में कोई मानसिक दोष हो सकता है। किन्तु समय बीतने पर और सहानुभूति सहित समझाने पर कि जो कुछ किया जा रहा है वह सब उनकी सन्तान के जीवन के लिये ही है, वे शिक्षक वर्ग तथा संस्था के सहायक हो जाते हैं। संस्था के प्रबंधकों और शिक्षक वर्ग का उनको अपना समर्थक बनाना ही उद्देश्य है जिसकी प्राप्ति शिक्षक और समाजसेवी के चातुर्य और धैर्य पर निर्भर करती है। बालक के हित की दृष्टि से भी यह अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि घर और स्कूल दोनों ही बालक की शिक्षा के माध्यम हैं, दोनों का बालक के सुधार या पुनःस्थापन में समान भाग है।

एक शिक्षक की अपेक्षा कई व्यक्तियों द्वारा किया गया मूल्यांकन अधिक उपयोगी होता है।

पाठ्यचर्या की योजना (planning a curriculum)

पाठ्यचर्या का तात्पर्य वही है जो शिक्षा का प्रयोजन बताया जा चुका है, अर्थात्, **आत्मविकास** जिससे बालक में अपनी परिस्थिति को समझने और तदनुसार अपने को परिवार और समाज के अनुकूल व्यवहार करने की योग्यता का विकास होता जाय और प्रौढावस्था प्राप्त होने पर वह सामाजिक जीवन में अपने अधिकारों और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व से पूर्णतया अवगत हो सके तथा आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सके। इस तात्पर्य को प्राप्त करने के लिये जिन-जिन उपायों और साधनों का उपयोग किया जाता है उनका उल्लेख पाठ्यचर्या कहलाता है।

आधारी कौशल—सामान्य बालकों की अपेक्षा मानसमन्दों के इस योग्यता या निपुणता को प्राप्त करने के लिये कुछ विशेष योजनाओं और साधनाओं का आश्रय लेना पड़ता है। उनमें भी शिक्षणीय मन्दों (educable retardates) और प्रशिक्षणीय (trainable) मन्दों की शिक्षा के लिये पाठ्यचर्या में कुछ भिन्नता करनी पड़ती है। दोनों वर्गों को आधारी कौशलों (basic skills) को समान प्रकार से सिखाना आवश्यक है। शौच का ढंग, शारीरिक स्वच्छता, बालों में कंघा करना, वस्त्र पहनना, वस्त्रों तथा अन्य वस्तुओं को ठीक प्रकार से रखना, सामान्यतया कहे अनुसार करना—सभी को सिखाना उचित है। सामाजिक कौशलों—विनम्रता, सद्व्यवहार, सहयोग, नियमानुकूलता, सच बोलना—इन गुणों का प्रादुर्भाव दोनों वर्गों के लिये समानरूप से वांछित है।

किन्तु प्रशिक्षणीयों से उच्च उपलब्धि की आशा नहीं की जा सकती है। साहित्य, अंकगणित आदि में विशेष प्रगति की उनसे बहुत संभावना नहीं है। अतएव उनकी पाठ्यचर्या में ऐसे कौशलों को रखा जाता है जिसे वह हाथों से सहज में कर सकें, शारीरिक परिश्रम द्वारा सरलता से सीख सकें। उससे आर्थिक उपलब्धि को भी ध्यान में रखते हुए उनको ऐसे कौशल सिखाने का प्रस्ताव किया जाता है जो घरेलू कामों में उपयोगी हों अथवा फैक्टरियों या कारखानों में काम करने में प्रयुक्त हों, जैसे साधारण औजार (tools)। यह समझा जाता है कि प्रशिक्षणीय को यदि सदा नहीं, तो भी दीर्घकाल तक किसी आश्रित (sheltered) वर्कशाप में काम करेगा, अतएव उनको औजारों के उपयोग का अभ्यास लाभदायक होगा। उनको अंकगणित का कुछ ज्ञान भी आवश्यक है जो उनकी आय या वेतन का हिसाब रखने के लिये आवश्यक है। उनको रुपये-पैसे गिनना भी सीखाना आवश्यक है जिससे वे दैनिक प्रयोग की वस्तुओं के क्रय-विक्रय में भूल न करें। कुछ ऐसे भी अल्पबुद्धि होते हैं जो ऐसे कर्मों को भी नहीं कर सकते। वे केवल भाग-दौड़, संदेश वाहक (messenger), घर की स्वच्छता, होटलों या जलपानगृहों (restaurant) में रकाबियों और प्यालों (dishes, cup-saucers) आदि की स्वच्छता जैसे कामों ही को कर सकते हैं। अतएव ऐसे व्यक्तियों को ऐसे ही कौशलों को सिखाने की पाठ्यचर्या और क्रमानुसार शिक्षा का प्रस्ताव किया जाता है।

शिक्षणीयों की पाठ्यचर्या में आजकल 'एकक प्रणाली' (unit system) पर अधिक ध्यान दिया जाता है। इस प्रणाली में प्रत्येक विषय को अथवा विषय के अंश को जिसे विद्यार्थी को एक वर्ष में पूर्ण करना है, एककों (unit) में बाँट दिया जाता है। विद्यार्थी एककों की एक निर्धारित संख्या, ४ या ५ या ६, पूर्ण करने के पश्चात् अगली कक्षा में जा सकता है। उसको वार्षिक परीक्षा नहीं पास करनी होती, जैसा पहले होता था। केवल एककों को सम्पूर्ण करना होता है। यदि विद्यार्थी एक एकक पूरा नहीं कर सकता तो भी उसको अगली उच्च कक्षा में चढ़ा दिया जाता है, उस असमाप्त एकक को वह दूसरे वर्ष पूरा कर सकता है। मन्दों की शिक्षा में भी यही प्रणाली व्यवहार की जाती है।

इसमें सन्देह है कि शिक्षणीय मानसमन्द साहित्यिक क्षेत्र में कितनी प्रगति कर सकते हैं। वे सामान्य शिक्षाक्रम के विद्यार्थियों के समान साहित्यिक विषयों में निपुणता प्राप्त करने योग्य हो जायँ, यह बहुत विवादास्पद है। परन्तु यह भलीभाँति प्रमाणित हो चुका है कि वे अपने

को समाज के अनुकूल ढालने में सामान्य विद्यार्थियों की अपेक्षा अधिक सफल होते हैं (social adjustment)। पाठचर्या के अनुसार इन मन्दों को पढ़ने, लिखने और अंकगणित में क्रियात्मक निपुणता प्राप्त कराना अभीष्ट है जिससे वे सामान्य दैनिक जीवन में संभाषण करने, अपने को व्यक्त करने, अर्थात् अपना मन्तव्य समझाने में निपुण हो जायँ और पत्रोत्तर या वार्तालाप आदि में भाषा की त्रुटि के कारण उनको हानि न उठानी पड़े। पाठचर्या का उद्देश्य उन सब योग्यताओं का विकास करना है जो बालक की व्यावसायिक, आर्थिक तथा सामाजिक निपुणता के लिये आवश्यक मानी जाती है : स्वास्थ्यवर्धक शारीरिक क्रियायें, उद्योग सम्बन्धी योग्यता, संगीत, कलाएँ आदि का परिचय प्राप्त कराना भी पाठचर्या के अन्तर्गत है। पारस्परिक सम्बन्ध रचना (interpersonal relationship) की योग्यता मानसमन्दों के लिये बहुत आवश्यक है। जीवनोपार्जन के लिये उनकी जिस काम के लिये नियुक्ति हो जाती है उसमें सफलता के लिये यह कला अनिवार्य है। अपने साथ काम करने वालों के साथ सहयोग, उनसे सद्व्यवहार, अर्थात् लोकप्रिय होना, जीवन की सफलता की कुंजी माना जाता है। इस कला का विकास सभी के लिये लाभदायक होता है, विशेषकर मानसमन्द के लिये। पाठचर्या में इसका विशेष स्थान होना चाहिये।

संज्ञापन कौशल (communicative skills)—इस कौशल द्वारा बालक अपने भावों को व्यक्त करता है, दूसरों को अपना मन्तव्य समझाता है। यह जीवन का अत्यन्त आवश्यक कौशल है। प्रथम और मुख्य कौशल है—**भाषा** (language) जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा प्रकट करता है। मानसमन्दों में इसी कुशलता का सब से अधिक ह्रास होता है। वे स्वयं अपने भावों को न समझ, अपने ही जगत में रहते हैं। उनका भाषा का ज्ञान इतना सीमित होता है कि वे उपयुक्त शब्दों को ढूंढ़ नहीं पाते जिनके द्वारा अपने भावों को प्रकट कर सकें। इस त्रुटि को दूर करना शिक्षा का अत्यन्त महत्व का उद्देश्य है। पाठचर्या में इसका मुख्य स्थान होता है।

भाषा कौशल (language skills) के वास्तव में तीन भाग हैं—प्रथम, **ग्राहक भाग** (receptive skills) जिसका सम्बन्ध भाषण को समझने से है। दूसरा, **सह सम्बन्धी** भाग (associative), अर्थात् जो कुछ सुना उससे तत्सम्बन्धी विषय, पदार्थ अथवा घटनाओं का मन में विचार उत्पन्न होना। और तीसरा उस विचार को प्रकट करने वाला

भाग (expressive skills) जिसमें भाषण या लेख सम्मिलित है। मूक (गूंगे) और बधिर (deaf) चेष्टाओं (gestures) और संकेतों (signs) द्वारा अपने विचारों को प्रकट करते हैं। इसे भी इसी भाग के अन्तर्गत समझना चाहिये।

शिक्षक को भाषा या भाषण के ह्रास के कारण को अथवा किस भाग का ह्रास है यह जानना आवश्यक है। इसके लिये कितने ही परीक्षणों की रचना की गई है जिनके द्वारा शिक्षक त्रुटि का कारण जान सकता है और तदनुसार भाषा और भाषण को उन्नत करने के लिये आवश्यक योजनाएँ बना सकता है।

भाषण और बुद्धि (intellect) का अभिन्न सम्बन्ध है। जितनी बुद्धि की अल्पता होती है, विचारशक्ति का ह्रास होता है, उतना ही भाषणशक्ति का भी ह्रास होता है। इसी से मानसमन्द अत्यल्पभाषी होते हैं। कितने ही विद्वानों का मत है कि परिवर्धन सम्बन्धी कारणों (developmental causes) के सिवाय कुछ वाह्य कारण भी भाषा अल्पज्ञता की उत्पत्ति के हेतु हो सकते हैं जिनमें परिस्थिति अथवा वातावरण (environment) मुख्य हैं। परिवार की संस्कृतिहीनता (cultural deprivation), परिवार में पारस्परिक संभाषण की न्यूनता के कारण अभिप्रेरणा की अनुपस्थिति (lack of motivation) तथा मानसिक उत्तेजना, जो पारस्परिक विचार-विनिमय या प्रामोद-प्रमोद से प्राप्त होती हैं, की कमी भाषाह्लास का कारण हो सकती है।

इस मुख्य त्रुटि को दूर करने के लिये मानसमन्दों के स्कूलों तथा संस्थाओं में भाषा और भाषण दोनों की उन्नति के लिये विशेष प्रयत्न किये जाने चाहिये। विशेष योजनाओं द्वारा बालकों को आपस में तथा शिक्षक और परिचारकगणों के साथ संभाषण के लिये प्रोत्साहित किया जाय। शिक्षकों तथा संस्था के प्रत्येक कर्मचारी को प्रबंधकों की ओर से यह आदेश होना चाहिये कि वे बालकों से प्रत्येक अवसर पर, कक्षाओं में, खेलकूद में, मनोरंजन के अवसरों पर बातचीत करें।

भाषा सिखानें की कुछ बिधियाँ

सुन कर ही बालक बोलना सीखता है। ज्यों-ज्यों शिशु बड़ा होता है त्यों-त्यों परिवार के जनों को आपस में बात-चीत करते सुन कर वह बोलना सीख जाता है।

बोलना तीन क्रियाओं का फल होता है—सुनना, विचारना, तब बोलना।

सुनना (श्रवण) का अर्थ है **ध्यान देकर सुनना (listening)**। इसके लिये बालक का ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है तथा जब तक कहने वाले की बात समाप्त न हो जाय तब तक बालक को विचलित न होने देना। इसके लिये शिक्षक खेलकूद या खिलौनों अथवा किसी प्रकार के मनोरंजन का उपयोग कर सकता है जो बालक को रुचि कर हो और जिससे उसका मनोरंजन हो।

विचारना—जितनी बालक की अल्पायु होती है उतनी यह क्रिया क्षणिक होती है। खिलौने को देखकर उसमें उसे हाथों में थामने का विचार आता है। खाने के रुचिकर पदार्थ को दिखाने पर उसको मुँह में रखने तथा उसके स्वाद का विचार आता है। बड़ा होने पर देखी हुई वस्तु या सुने हुए शब्द से सम्बन्धित अन्य घटनाओं का या उसके उपयोग का स्मरण हो आता है।

किन्तु इस क्रिया को शिक्षक बहुत बढ़ा सकता है। उनसे बातचीत करके स्मृति जागृत कर सकता है खिलौने से खिला कर आदेश-पालन के व्यवहार (behaviour) की शिक्षा दे सकता है। इसी प्रकार नाना प्रकार की योजनाओं का आविष्कार करके बालक की संभाषण शक्ति बढा सकता है।

बोलना, भाषण, स्व-अभिव्यंजन (self-expression)—इसके लिये अभिप्रेरणा (motivation) की आवश्यकता होती है। शिक्षक अनेक प्रकार से अभिप्रेरण प्रस्तुत कर सकता है। पुरस्कार विधि (reinforcement) का गतपृष्ठों में वर्णन किया गया है। मनोरंजन भी एक प्रकार का पुरस्कार है। जो पदार्थ बालक को रुचिकर हो उसे बालक के सामने प्रस्तुत करके उसको सम्भाषण में प्रोत्साहित किया जा सकता है।

स्व-अभिव्यंजन या स्व-प्रकटीकरण अत्यन्त महत्व का कौशल है और शिक्षक का कर्तव्य है कि उसको प्रोत्साहित करने का पूर्ण प्रयत्न करे। वे जितना ही बालक को बातचीत में लगा सकेंगे उतना ही बालक के जीवन का सुधार होगा।

पुनरावृत्ति (repetition)—बार-बार एक बात को दोहराना यह भी भाषा सिखाने का एक उपाय है।

पाठ-पढ़ना, बाँचना (reading)

मन्द वालक को कव पढ़ाना प्रारंभ करना चाहिये, इस सम्बन्ध में वहुत मतभेद है तथा पढ़ाने की विधियों के सम्बन्ध में भी अनेक मत हैं। तो भी इस पर सव सहमत हैं कि वास्तविक पाठ प्रारंभ करने से पहले वालक को भलीभाँति पढ़ने के लिये तैयार कर लेना चाहिये। एक विद्वान ने इस प्रयोजन के लिये निम्न प्रस्ताव किये हैं। (१) वालक अपने संबंध में तत्काल हुए अनुभवों (अर्थात भोजन, खेल, परिवार वालों के साथ की कुछ घटना, अपनी रुचि संवंधी वातों) को भली भाँति कहने लगे, (२) आदेशों का पालन करने के योग्य हो, (३) तस्वीरों को पहचानने और वताने के योग्य हो जाय तथा उन पर अपना मत प्रकट करने के योग्य हो। आगे चलकर कहानियों में रुचि लेने लगे तथा पुस्तकों के पन्नों को उलट-पलट कर उसमें छपे चित्रों को देख कर उनको जानने की जिज्ञासा प्रकट करे, सुनी हुई कहानी को, या उसके अंश को फिर से सुना दे। (४) पिकनिकों (picnics) की पार्टियों में ले जाने से वालक का जो मनोरंजन हो उसके सम्वन्ध में विचार-विनिमय की योग्यता का कुछ आभास मिलने लगे। (५) खेलों, समस्याओं, प्रश्नों आदि द्वारा वालक में जिज्ञासा का संस्कार उत्पन्न करके उसमें 'जानने' (knowing) की उत्सुकता का लक्षण दिखाई दे।

इन प्रयत्नों की प्रतिक्रिया से वालक में जो नवीन जागृतियाँ उत्पन्न होती हैं उनसे अनुमान किया जा सकता है कि वालक पढ़ने के लिये उपयुक्त अवस्था प्राप्त हो गया है या नहीं।

पुस्तक का पाठ तभी प्रारंभ करना उचित है जव वालक का शाब्दिक भंडार उपयुक्त हो जाय, वह साधारण वातचीत के शव्दों को सीख ले और उसकी दृष्टि और शारीरिक क्रियाओं का समायोजन भली भाँति स्थापित हो जाय जिसको दृष्टिप्रेरक कौशल (visuo-motor skill) कहा जाता है। प्रायः मानसमन्द ८ वर्ष की वर्षक्रमानुसार (chronological) और ५ वर्ष की मानसिक क्रमानुसार (mental age) वय से पूर्व पढ़ने के योग्य नहीं होते।

अनेक विद्वानों ने अपनी-अपनी पढ़ाने की विधि प्रतिपादित की है। किन्तु उनमें से कोई एक विधि सर्वमान्य नहीं हुई है। इस कारण विधियों के संबंध में मतभेद होने पर भी इस पर सव विद्वान सहमत हैं कि मानसमन्दों की शिक्षा में पुनरावृत्ति (repetition) आवश्यक होती है, वार-वार

दुहराना पड़ता है तथा विशेष निर्देशन या मार्गदर्शन (guidance) की आवश्यकता होती है। कुछ बालकों के साथ विशेष सुधारार्थ अनुदेशों या उपायों (remedial measures or instructions) का उपयोग करना होता है।

एक और समस्या उत्पन्न होती है। बहुधा मानसमन्द बालकों को अपने से कम वर्ष क्रमानुसार वय के बालकों के साथ पढ़ना पड़ता है। जब तक कि मानसमन्दों ही की स्वतन्त्र कक्षा न हो। उन अल्पायु वाले बालकों की रुचि भिन्न होती है। मानसमन्द अपने तत्काल वातावरण से सम्बन्धित बातों में अधिक रुचि लेते हैं। इस कारण उनको पढ़ाने के लिये भिन्न ही सामग्री तैयार करनी होती है। यह शिक्षक ही को करना होता है। विद्वानों द्वारा भी ऐसी पुस्तकें या साहित्य तैयार किया गया है जो बालक के सुधार के लिये उपयोगी प्रमाणित हुआ है। शिक्षक या शिक्षिका का भी उसके द्वारा मार्गदर्शन होता है। तो भी मन्द शिष्यों की त्रुटियों, आवश्यकताओं, रुचिओं आदि से पूर्णतया अवगत होने के कारण शिक्षिका के द्वारा तैयार किया गया पाठ या साहित्य अधिक लाभदायक होता है। प्रस्तुत तत्सम्बन्धी साहित्य से शिक्षकगण सहायता ले सकते हैं।

मन्द बालक के लिये पढ़ना एक महत्व का अनुभव होता है। अपना नाम बढ़ने पर उसमें एक गर्व की अनुभूति होती है जिससे उसका नैतिक स्तर ऊँचा होता है, और उसकी पढ़ने की प्रवृत्ति जागृत होती है। अपने परिवार वालों के नाम पढ़ना उसके लिये एक सुखद अनुभव होता है। इसी प्रकार अपने मित्रों, शिक्षकों, परिचितों आदि के नाम पढ़ लेने से उसको प्रसन्नता होती है। उसकी वस्तुओं आदि पर उसके नाम का लेबिल लगा देने से वह अपने व्यक्तित्व का अनुभव करने लगता है जिससे उसकी मानसिक उन्नति होती है।

यह पाया गया है कि प्रत्येक बालक का शब्दबोध (vocubulary) अलग-अलग होता है। उसके शब्द भण्डार को बढ़ाना शिक्षक का काम है। उन शब्दों की सहायता से जिनको बालक जानता है उसकी सम्भाषण की शक्ति बढ़ायी जा सकती है तथा नये-नये शब्द भी सिखाये जा सकते हैं। बालक की जो अभी तक की उपलब्धि है (achievement) है वह आगे के लिए अभिप्रेरण (motivation) का काम करेगी। तस्वीरों द्वारा भाषा की शिक्षा एक उत्तम विधि है। चित्रों के संबंध में छोटे-छोटे वाक्यों को बनाना सिखाया जा सकता है। इसके पश्चात् उन्हीं से कई वाक्यों को मिला कर एक छोटी सी कहानी बालक से बनवाना उपादेय होगा। इस

प्रकार क्रमशः उसकी शब्दबोध, वाक्य निर्माण, वाक्यसंग्रह कर कहानी के रूप में विस्तार की शिक्षा, पढ़ने की रुचि का रूप ले सकती है।

लेख (writing)

शिक्षणीय मन्दों को लिखने की शिक्षा देना उनके लिए उपयोगी है और सम्भव है। लेख का अभ्यास तो वह ९ वर्ष के वय से पूर्व नहीं प्रारम्भ करेगा। किन्तु लेख की प्रवृत्ति उत्पन्न करने के लिए अक्षर लिखने की शिक्षा देना उचित है। कुछ विद्वान छापने (printing) के समान अक्षरों को लिखवाने से प्रारम्भ करने के पक्ष में है और कुछ लिखने के समान (cursive) अक्षरों को सिखाने को उत्तम मानते हैं। अँग्रेजी में लिखने और छापने के अक्षरों में भेद होता है। हिन्दी में तो दोनों में कोई भेद नहीं है। तो भी प्रारम्भ में अक्षरों को दूर-दूर लिखना सिखाना उत्तम है। प्रथम वालक को उसका नाम लिखना सिखाया जाय। और उसके लिखे नाम के लेविल उसकी वस्तुओं पर लगा दिये जाँय। इससे वह अपने नाम के लेविल लिखने में प्रोत्साहित होगा। आगे चलकर इस उत्साह को अन्य या सामान्य लेख में वदला जा सकता है। धीरे-धीरे उसको अपने भावों को लेख रूप में व्यक्त करने का अभ्यास कराया जा सकता है।

लिखने के समय बालक की शारीरिक स्थिति, डेस्क पर बैठकर लिखने के ढङ्ग पर भी ध्यान देना उचित है। प्रारम्भ में खड़े होकर कक्षा के कमरे में रखे बोर्ड पर लिखवाना उत्तम है। उसमें बालक को खड़े होकर लिखना होता है जिससे शरीर की स्थिति ठीक रहती है और शरीर की बड़ी पेशियों (muscles) को काम करना पड़ता है। अक्षर भी बड़े होते हैं और दूर-दूर लिखे जाते हैं।

अल्पायु के वालक पेन्सिल से कागज पर उलटे सीधे आकार में लाइनें खींचने में बहुत रुचि रखते हैं जिसको sribbing कहते हैं। मन्द वालक को भी इसी प्रकार की लाइनों को खींचने से प्रारम्भ करके अक्षरों को लिखने की शिक्षा का ढङ्ग भी अपनाया जा सकता है। उल्टी-सीधी लाइनों से उनको एक क्रम से बनाने से अक्षरों का रूप दिया जा सकता है और तब उनको गोल आकार में खींचना सिखाना भी कठिन न होगा। कुछ समय पश्चात् बालक अक्षरों को जोड़ कर शब्द और उनको मिलाकर वाक्य भी लिख सकता है।

वाक्य लिखने से वालक के भाव प्रकट होते हैं। प्रशिक्षणीयों (trainables) को भी लिखना सीखना आवश्यक है। जीवन में लिखना

पद-पद पर आवश्यक होता है। उनको स्वयं अपनी आय का हिसाब रखना होगा। जहाँ वे नियुक्त होंगे वहाँ भी कुछ न कुछ लेखबद्ध करना ही पड़ेगा। अपने परिवार वालों से पत्र व्यवहार करने के लिए भी वे उत्सुक होंगे। इस कारण उनमें भी कम से कम अपने भावों को स्थूल रूप से प्रकट करने की योग्यता होनी आवश्यक है।

उनको लेखन कला सम्पन्न करने की वही विधियाँ हैं जो शिक्षणीयों की हैं। सम्भव है उनके साथ अधिक परिश्रम करना पड़े, वे सीखने में अवश्य अधिक समय लेंगे। किन्तु उनको भी सिखाना अनिवार्य है।

पढ़ाने और लिखना सिखाने दोनों में शिक्षक को यह ध्यान रखना चाहिये कि शिक्षणीयों तथा प्रशिक्षणीयों को उनकी दैनिक जीवन की घटनाओं में अधिक रुचि होती है। अतएव पाठ और लेख दोनों के विषय यदि उनके दैनिक जीवन से सम्बन्धित हों, तो वे उनको अधिक रुचिकर होंगे।

अङ्कों या संख्या की शिक्षा

लिखने के पश्चात् अङ्कों को गिनने अथवा अङ्कगणित के मौलिक सिद्धान्तों के परिचय की बारी आती है। मन्द बालकों को इनकी शिक्षा क्रियात्मक अनुभवों द्वारा देनी चाहिये। रुपये-पैसे को गिनने, उनको देने और लेने, घड़ी देखकर समय को गिनने—कितने घण्टे स्कूल हुआ, कितने बजे प्रारम्भ हुआ, कितने बजे समाप्त हुआ; गोपाल के पास कितने वस्त्र हैं; कितने कुरते हैं, कितने पाजामें हैं, ऐसी ही क्रियात्मक योजनाओं से उनको अङ्कों को गिनाना सरल होगा। खेलों द्वारा अङ्कों का परिचय प्राप्त करना बालकों को पसन्द होगा। खाद्य वस्तुओं का उपयोग भी बालकों के प्रमोद का कारण हो सकता है। थाली में रखे लड्डुओं को गिनो, राम ने ४ लड्डू लिये, भगत को २ मिले, नागेश्वर ३ लेता है, अब थाली में कितने लड्डू रहे।

इस प्रकार से बालकों को अङ्कों का परिचय प्राप्त कराने के पश्चात् उनको अङ्क लिखकर बताये जायँ और उनसे लिखवाये जायँ। लिखना सीखने में उनको कठिनाई होगी। उसका उपाय पुनरावृत्ति (repetition) है। बालकों को अंक लिखकर दे दिये जायँ और उनसे उन अंकों की नकल या कापी करने को कहा जाय। बार-बार ऐसा करने से उनको लिखना भी आ जायगा।

बालक को इकाई का अभ्यास कराने के पश्चात् दहाई (tens) का इसी प्रकार अभ्यास कराया जा सकता है। इससे अधिक तीन के अंक अर्थात् सैकड़े पर कम ही पहुँच पाते हैं। फिर भी प्रयत्न करना आवश्यक है। सफलता की आशा सदा रखना उचित है।

आगे चलकर जोड़ना-घटाना सिखाने के लिये भी पूर्व की भाँति पदार्थों का ही प्रयोग किया जाय। फल, मिठाई, गेंद, खिलौने बालकों की शिक्षा के लिये उपयुक्त पदार्थ हैं।

प्राकृतिक विज्ञान और प्राकृतिक घटनायें
(natural sciences and phenomenon)

प्रकृति का अध्ययन प्रत्येक शिक्षा क्रम का मुख्य भाग होता है। वृक्ष, फूल, पत्ती, जल, वायु, अन्न-उत्पादन, वर्षा, दिन-रात का चक्र आदि का अध्ययन प्राकृतिक विज्ञान कहा जाता है और इनके सम्बन्ध की घटनाएँ प्राकृतिक घटनाएँ कही जाती हैं। सामान्य बालकों के समान अथवा उनसे भी अधिक वे मन्द बालकों के लिए उपयोगी हैं। आजकल इस अध्ययन पर बहुत भार दिया जाता है।

मन्द बालकों की रुचि जागृत करने के लिये उनको यह सब प्रत्यक्ष दिखाना उचित है। वृक्षों, पुष्पों, अन्नों के पौधों का ज्ञान कराने के लिये उनको उद्यानों में ले जाकर पुष्प, पत्तों आदि का ज्ञान कराना उचित है। पुष्पों के बीच में विचरण करने से नाना प्रकार के रङ्गों के फूल देखकर उनका मनोरञ्जन भी होगा और सीखेंगे भी। इसी प्रकार अन्नों के खेतों में ले जाकर उनको अन्नों के पौधे, बीज, उनकी बालें आदि दिखाई जाँय।

प्राकृतिक घटनाओं को समझाने में भी प्रत्यक्ष पर सदा ध्यान देना उचित है।

प्राकृतिक सौन्दर्य से सुख अनुभव करने की मन्द बालकों में भी प्रवृत्ति होती है। सुन्दर रंगीन चित्रों से वे आकर्षित होते हैं। उद्यान में पुष्पों को देखकर वे प्रसन्न होते हैं। संस्था के भवन से बाहर निकल वन-विहार करना उनको आनन्ददायक होता है।

इसी प्रकार संगीत भी उनके प्रमोद का कारण होता है। ये सब गुण उनसे अन्तर्निहित आध्यात्मिक गुणों के विकास के कारण हो सकते हैं, यदि उनका उचित प्रकार से उपयोग किया जा सके। पाठ्यचर्या में सब प्रकार की शिक्षा के आयोजनों का स्थान होना चाहिये।

सामाजिक उपलब्धियाँ

इन बालकों की शिक्षा या सुधार के लिये जो कुछ भी किया जाता है उसका एक ही उद्देश्य है—उनको सामाजिक जीवन के उपयुक्त बनाना। अतएव शिक्षकों तथा संस्था के पदाधिकारियों को समय-समय पर दृष्टिपात करना चाहिये कि जो कुछ बालकों को सिखाया गया है उसमें से कितना भाग उनके स्वयं के हित के लिये है और कितना समाज के हित के लिये है। यों तो दोनों इतने अन्तर्मिश्रित हैं कि दोनों को पृथक् करना संभव नहीं है, तो भी व्यक्ति के कृत्यों का समाज पर प्रभाव पड़ता है। स्वच्छता एक ऐसा ही विषय है। शारीरिक स्वच्छता बालक को प्रारम्भ ही में सिखाई जाती है, उसी प्रकार उसको सामाजिक स्वच्छता भी सिखानी आवश्यक है, जिसको 'जन-स्वास्थ्य' (public hygiene) कहा जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के सहयोग ही से नगर स्वच्छ रखा जा सकता है। उद्यानों, पार्कों, सड़कों, मुहल्लों आदि को नगर निवासियों के सहयोग से ही स्वच्छ रखा जा सकता है। उनका सहयोग तभी प्राप्त होगा जब उनको नगर को स्वच्छ रखने की शिक्षा दी जायगी। अतएव नगर को स्वच्छ रखने की शिक्षा पाठ्यचर्या (curriculum) का एक भाग होना चाहिये।

वास्तव में नागरिकता (civics) की मोटी-मोटी बातें उनको अवगत करानी चाहिये। उनमें भी सुरक्षा (safety) के उपाय—आग लग जाने पर अपनी सुरक्षा तथा दूसरों की सहायता, दौड़ती मोटरकार के मार्ग से हट जाना, बिना तैरना जाने हुये नदी या झील में न जाना, विधान के नियमों का पालन, इन सब की शिक्षा का प्रबंध आवश्यक है। यात्रा की विधियाँ, यात्रा के नियमों का पालन—इन सब की शिक्षा से आत्मनिर्भरता का भाव उदय होता है और मन्दों के लिये विशेषतया उपयोगी है।

बालक के बड़े होने पर उसको व्यावसायिक शिक्षा देने का विधान पाठ्यचर्या में होना चाहिये। समस्त प्रयत्नों का उद्देश बालक को नागरिक जीवन के अनुकूल बनाना है जिनका विचार पुस्तक का विषय है। अतएव उन सभी उपायों, विधियों तथा योजनाओं का जिनके द्वारा उद्देश्य की पूर्ति हो सके उनका पाठ्यचर्या में समावेश होना उचित है। आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये व्यावसायिक अथवा औद्योगिक प्रशिक्षण अनिवार्य है। इस प्रकार की शिक्षा के लिये जो-जो व्यावहारिक गुण आवश्यक हैं, जिनका विचार पहिले किया जा चुका है, उनका प्रारम्भ ही से बालक में विकास करने का प्रयत्न करना चाहिये।

पाठ्यचर्या बनाते समय एक और भी वात विशेष ध्यान रखने योग्य है। मन्द वालकों की त्रुटियाँ, उनके दोष एक ही प्रकार के नहीं होते, उनमें अनेक पक्ष मिश्रित होते हैं। इस पर सभी विद्वान सहमत हैं कि मानसमन्दता एक रोग नहीं है। वह कई प्रकार के विकारों के मिश्रण से उत्पन्न हुई एक जटिल अवस्था है जिसका प्रतिकार विविध प्रकार के वेत्ताओं या विद्वानों के सहयोग से संभव है। एक विशेष विज्ञान वेत्ता द्वारा यह दोष नहीं मिटाया जा सकता। उसके लिये विविध प्रकार के साधनों के उपयोग द्वारा ही लक्ष्यप्राप्ति का उद्योग करना होगा। यह 'वहुविध शिक्षा' (multidisciplinary team method) विधि कहलाती है, अर्थात् बहुत से विद्वानों द्वारा शिक्षा जैसे हाकी या फुटवाल खेल कितने ही खिलाड़ियों द्वारा मिलकर खेले जाते हैं, उसी प्रकार कई विद्वानों के सहयोग से यह शिक्षा संभव हो सकती है। जैसे एक विद्वान ने कहा है कि 'इस जन्म से लेकर मृत्यु तक विस्तृत अवस्था का प्रतिकार करने के लिये सभी के सहयोग की आवश्यकता है, चाहे वह कोई भी हो'।

अतएव सभी प्रकार के विद्वानों और कार्यकर्त्ताओं की सहायता वांछनीय है। पूर्व में इस वहुविध समुदाय में शिक्षक, चिकित्सक, मनोविज्ञानी और समाजसेवी अथवा सामाजिक कार्यकर्त्ता ही होते थे। किन्तु अनुभव से पाया गया है कि इस टीम का विस्तार आवश्यक है। इस टीम में शिक्षक और बालक के माता-पिता तो वहुत ही आवश्यक हैं। वरन् भिन्न-भिन्न चिकित्सा सम्वन्धी विशेषज्ञ, जैसे मनोविकार विज्ञानी (psychiatrist), तन्त्रिकाविज्ञानी (neurologist), भौतिक चिकित्सक (physiotherapist), व्यवसायिक चिकित्सक (occupational therapist), वाक्-चिकित्सक (speech therapist), नेत्र, श्रवण, नासा विशेषज्ञ (eye, ear, nose, throat specialists), व्यावसायिक मार्गदर्शन कार्यकर्त्ता (vocational guidance workers), आहारविज्ञानी (dieteticians) चिकित्साविज्ञान विशेषज्ञ तथा ऐसे ही विद्वान, सभी इस समुदाय के सदस्य होने चाहिये। प्रत्येक मन्द वालक को इन सब की सहायता की आवश्यकता न होगी। तो भी कितनों को हो सकती है।

इस सामुदायिक योजना से न केवल वालकों को लाभ होता है, किन्तु जनता पर भी उसका उत्तम प्रभाव होता है और समुदाय के सदस्य भी अपनी प्रमुखता के भाव से गर्वान्वित होते हैं।

स्वैरचिन्तन (autism)

स्वैरचिन्तन के लक्षणों का पहले वर्णन किया जा चुका है। यहाँ स्वैरचिन्तनग्रस्त बालक की शिक्षा पद्धति का विचार करना है। शिक्षा तथा प्रशिक्षा द्वारा उसके दोषों को जितना भी दूर किया जा सके और उसके जीवन को जितना भी उपयोगी बनाया जा सके वही करना समाज का कर्तव्य है। उसी का विचार यहाँ हमारे सामने उपस्थित है।

स्वैर चिन्तित या स्वलीन (autistic) बालक की शिक्षा बहुत काल से शिक्षा विशेषज्ञों तथा मनोविज्ञानियों के लिये समस्या रही है। अनेक विधियों का समय-समय पर प्रयोग किया जाता रहा है। किन्तु कोई भी विधि सन्तोषजनक नहीं प्रमाणित हुई है। इधर फिर से पारितोषिक देने की विधि ही अधिक प्रचलित हो गई है। कुछ अन्वेषकों ने इसके उत्तम परिणामों की रिपोर्ट की है।

इस पारतोषिक देने की विधि का मानसमन्दों की शिक्षा के सम्बन्ध में विचार किया जा चुका है। इसको प्रबलन या पुनर्बलन (reinforcement) विधि भी कहा जाता है। स्वलीन बालकों में इसके प्रयोग की विधि का यहाँ संक्षेप से वर्णन किया गया है।

स्वलीन बालकों के व्यवहार के मुख्य दोष ये हैं :—

१. भाषण की त्रुटि—वे बहुत कम बोलते हैं।

२. ध्यान देने की त्रुटि—बोलने वाले व्यक्ति की ओर वे देखेंगे ही नहीं। उसके पुकारने पर वे सामने नेत्र नहीं उठाते।

३. आदेशों को वे सुनते ही नहीं।

४. कौन बोल रहा है, अथवा उससे उनका क्या संबंध है, इसकी ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। अथवा किस कारण से क्या घटना हुई, यह उनके विचार के बाहर की बात है।

५. उनके मुख पर कोई भाव नहीं आता।

इस प्रकार के व्यवहार से यह समझा जाता है कि बालक में किसी प्रकार की अभिप्रेरणा (motivation) नहीं है। उनमें कोई ऐसी स्वतः अभिलाषा नहीं होती कि उनको अमुक कार्य करना योग्य है। अतएव इस अभिलाषा को उत्पन्न करने के लिये **प्रबलन** या पारितोषिक विधि के अनुसरण का प्रस्ताव किया गया है। पारितोषिक कोई ऐसी वस्तु हो सकती है जिसको बालक पसन्द करता है। छोटे बालकों को प्रायः खाने के पदार्थ प्रिय होते हैं जैसे कैंडी (candies), किशमिश, रेवड़ी, मूंगफली, छोटे-छोटे

बिस्कुट आदि। साथ ही शिक्षक को बालक के साथ एकता का भाव उत्पन्न करना आवश्यक है। जिसको सामरस्य (rapport) कहा जाता है। बालकों में शिक्षक के प्रति ऐसा भाव उत्पन्न हो जाय कि वह शिक्षक में विश्वास करने लगे। स्नेह ही का यह रूप है। यह शिक्षक ही पर निर्भर करता है। वास्तव में स्नेह स्वयं एक प्रबलन शक्ति है जिसको बालक न समझने पर भी अनुभव करता है।

क्रियात्मक उपयोग

स्वलीन (autistic) बालक में जो पाँचों दोष ऊपर बताये गये हैं वे सब एक दूसरे से संबंधित हैं। इस कारण जो विधि एक के लिये हितकर होगी उससे अन्य दोष भी दूर होंगे।

इस विधि में पारितोषिक देकर अभिप्रेरण उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाता है। प्रत्येक बार आदेश माने और स्वलीनता के दोषों से रहित आचरण करे तब ही उसको पारितोषिक दिया जाय। यदि पारितोषिक देते समय स्नेह का भी प्रदर्शन किया जाय तो पारितोषिक का प्रभाव बहुत बढ़ जाता है। बालक का शिक्षक का आदेश मानने का अर्थ है कि वह शिक्षक के साथ सामरस्य अनुभव करता है। यह प्रगति का बड़े महत्व का लक्षण है जिससे शिक्षक को विशेषतया सन्तुष्ट होना चाहिये।

व्यवहारात्मक रूप में प्रथम चरण (first step) यह होना चाहिये कि शिक्षक बालक के साथ सामरस्य प्राप्त करके उसको आदेश पालन (obey instructions) की शिक्षा दे। वह उसको आदेश देकर कुरसी पर बैठना सिखावे और उससे अपने मुख की ओर देखने को कहे। यदि बालक उसके कहे अनुसार उसके नेत्रों पर अपनी दृष्टि डालता है और कुर्सी पर बैठ जाता है तो तत्काल उसको सस्नेह पारितोषिक देना चाहिये। बार-बार ऐसा कराने से बालक कुछ समय में स्वतः ऐसा करने लगेगा और उसकी अन्य व्यर्थ की चेष्टायें, हाथ हिलाना, मुँह बिचकाना, सब जाती रहेंगी।

दूसरा चरण जब बालक शिक्षक के कहे अनुसार कुछ समय तक कुरसी पर बैठने का अभ्यस्त हो जाय तब प्रारंभ करना उचित है। तब शिक्षक बालक को रंगीन चित्रों के कार्ड दिखावे, और उनको छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा समझावे तथा बालक से उन्हीं शब्दों को दोहराने को कहे। यदि बालक शिक्षक के मुख की ओर देखता रहता है और उसके कुछ शब्दों को दोहराने का प्रयत्न करता है तो वह पारितोषिक पाने का अधिकारी है। धीरे-धीरे ऐसा करते रहने से बालक कुछ समय पश्चात शब्दों को भलीभाँति दोहराने

लगेगा और तब उसको पारितोषिक देना उचित होगा। कुछ समय पश्चात बालक स्वयं तस्वीरों के कार्डों को उठा कर और तब शिक्षक के आदेशानुसार चुनकर शिक्षक के पास लावे और उसके पश्चात पारितोषिक पावे। यह बालक की बोध शक्ति (comprehension) की वृद्धि का द्योतक है। इसका अर्थ है बालक की प्रगति अतिसंतोषजनक है और बालक शिक्षक के अधिकार में है, अर्थात बालक का उसके साथ सामरस्य है, उसके आदेशों को मानने की उसमें प्रवृत्ति जागृत हो गई है। यह अत्युत्तम लक्षण है जिससे बालक के सुधार की बहुत कुछ आशा होती है।

तीसरा चरण—इस चरण में आचरणों की गूढ़ता बढ़ा दी जाती है। अर्थात् बालक को कई प्रकार की क्रियायें या आचरण करने से किसी प्रकार के परिणाम पर पहुँचना होगा। बालक से शिक्षक के कहे शब्दों को केवल दोहराने के स्थान पर अब उससे कहा जाय 'चित्रों के कार्डों में से अमुक कार्ड को लाओ। इसमें बालक को विचारना होगा, हाथों की क्रियाओं और विचारों का सामंजस्य (coordination) करना होगा, शिक्षक के मुख पर दृष्टि जमानी होगी तब वह कार्ड को लेकर शिक्षक के पास आयगा, अर्थात् शिक्षक से सम्बन्ध स्थापन करना (relationship contact) सीखेगा। यही अन्य व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापन का आधार हो सकता है। इसी क्रिया से उसकी भाषण शक्ति की प्रगति का भी समावेश करना उचित है। उसका शब्द भंडार अधिक हो। उसको ६ शब्दों से बढ़ कर आठ शब्दों के बोलने पर उसको पारितोषिक दिया जाय। तब शब्दों से वाक्य बनवाये जाँय। अति सामान्य वाक्यों से प्रारम्भ करके वाक्यों की जटिलता धीरे-धीरे बढ़ाई जाय।

अब बालक में सामाजिक योग्यता का बीज डालना उचित है। पहले उसको भाषण द्वारा अपने भाव प्रकट करने में प्रवृत्त किया जाय। "तुम्हारा क्या नाम है, कहाँ रहते हो, आज तुमने क्या खाया था, तुम्हें कौन-सी खाद्य वस्तु पसन्द है, क्या खेलोगे" आदि प्रश्नों से उसको अपने भावों को व्यक्त करने में उत्साहित किया जाय। तब अन्य बालकों से उसका सम्पर्क कराया जाय और उनसे मिलकर खेलने के लिये उसको प्रेरित किया जाय। एक बार अन्य बालकों के संग की प्रवृत्ति उत्पन्न होने पर उसकी प्रगति अतिशीघ्रता से होगी। बालक को उसकी प्रत्येक प्रगतिशील क्रिया करने पर पारितोषिक देना न भूलना चाहिये। यही उसकी प्रगति की कुञ्जी है। इसी के द्वारा उसको अन्य बालकों की सङ्गत से दूर भागना, अपने ही में लीनता, ये सब

दोष दूर होते चले जायेंगे और उसके एक सामान्य व्यक्ति बनकर सामाजिक जीवन की योग्यता की आशा बढ़ती जायगी।

अन्वेषणकर्ताओं ने इस प्रबलन (reinforcement) विधि को लाभदायक पाया है। उन्होंने यह भी प्रस्ताव किया है कि शिक्षक अपने कुछ सहायक भी बना ले। कुछ व्यक्तियों को, जो उससे कुछ अधिक आयु के विद्यार्थी ही हों उनको इस कार्य में प्रशिक्षित कर ले जो अवैतनिक स्वयंसेवकों की भाँति काम करके उसकी इस काम में सहायता कर सकें। यह कार्य दुस्तर है। उसमें धैर्य और लगन, सतत् प्रयत्नशील होना बहुत आवश्यक है। बालक के साथ एक ही बात को बार-बार दोहराना, प्रतिदिन उसी को कहते रहना अनेक बार शिक्षक को हतोत्साह कर देता है। किन्तु सफलता का आधार अनथक बारम्बार प्रयत्न ही है। दोहराते रहना जबतक सफलता न मिल जाय, विशेषतया स्वलीन (autistic) बालकों की शिक्षा की यही कुञ्जी है। किन्तु सफलता मिलने पर शिक्षक को उतना ही सन्तोष भी मिलता है, हार्दिक प्रसन्नता होती है और एक व्यक्ति का जीवन सुधार होता है। स्वलीन बालकों की शिक्षा की उपर्युक्त विधि की बहुत अनुकल रिपोर्टें मिली हैं।



दसवाँ परिच्छेद

असाधारण बालक

(Exceptional Child)

इस पुस्तक का विषय मानसमन्दता है और उसी का अवतक विचार किया गया है। मानसमन्द बालक की त्रुटियों के कारण, उनके लक्षण, आक्रान्त बालकों के आचरण, उनके व्यवहार के विकार, विकारों को दूर करके बालक के सुधार, शिक्षा आदि का ही गत पृष्ठों में विचार हुआ है। किन्तु मानसमन्दता के अतिरिक्त भी बालकों में ऐसी त्रुटियाँ होती हैं जिनके कारण उनका विकास नहीं हो पाता। वे जीवन में उन्नति नहीं कर पाते, जीवन का लक्ष्य प्राप्त करने से बंचित रह जाते हैं। इग्लैण्ड में सन् १९४६ में शिक्षा विभाग के अनुमान के अनुसार स्कूलों में शिक्षा पाने वाले बालकों में १०% ऐसे बालक थे जिनको विशेष प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता थी। किन्तु इन दस में से केवल एक ही मानसमन्द था, अन्य ९ में अन्य प्रकार की विकृतियाँ थीं जिनके सुधार के लिये विशेष आयोजनों की आवश्यकता थी। केवल एक ही मानसमन्दों के स्कूल में भरती करने योग्य था।

आजकल सब प्रकार के त्रुटियुक्त बालकों को अथवा जो भी साधारण बालकों से किसी प्रकार भिन्न हों, उनको 'असाधारण' (exceptional) की श्रेणी में रखा गया है। जो अतीव प्रतिभायुक्त बालक हैं, जिसकी बुद्धि उपलब्धि ११५–१४० या इससे भी अधिक है, वे भी असाधारण हैं।

सन् १९६८ की जुलाई में अमरीका में ऐसे असाधारण बालकों की संख्या ७०८३५०० कूती गई थी। मानसमन्द भी इसी के अन्तर्गत हैं। उनकी गणना भी असाधारण ही में की जाती है।

असाधारणता के मुख्य निम्न प्रकार हैं। इस पुस्तक में इन सब प्रकारों के सविस्तार वर्णन का मन्तव्य नहीं है, न उनकी शिक्षा का विशेष विवेचन करना अभीष्ट है। मानसमन्दता के साथ सम्बन्धित होने से उनका परिचय मात्र ही प्रस्तुत किया गया है।

भिन्न-भिन्न प्रकार ये हैं :—

१. दृष्टि विकलांगता (visual handicap)
२. श्रवण विकलांगता, बधिरता (auditary handicap, deaf)

३. वाक् विकलांगता (speech defects)
४. व्यवहार विकार, आचरण दोष (behavior disorders)
५. मानसमन्दता (mental retardation)
६. संवेगात्मक क्षोभ (emotional disturbance)
७. मस्तिष्क क्षति वाले बालक (brain damage)
८. शारीरिक विकलांगता (orthopaedic handicap)
९. प्रतिभाशाली बालक (gifted children)

१. दृष्टित्रुटि युक्त, दृष्टि विकलांगता (visual handicap)

दृष्टि दोष की सीमा पर बालक की हानि निर्भर करती है। सामान्य हलका-सा दृष्टि दोष होने पर उपयुक्त नम्बर के लैन्सों का चश्मा लगाने से उसकी कठिनाई दूर हो जाती है। वह अपनी कक्षा में ब्लैक बोर्ड पर लिखे लेख को देख सकता है। किन्तु जब दोष इससे भी अधिक होता है और चश्मे से उसका दोष दूर नहीं हो पाता तो उसकी शिक्षा का विशेष प्रवंध करना आवश्यक होता है। उनको दो श्रेणियों में विभक्त किया जाता है आंशिक दृष्टियुक्त (partially sighted) अथवा दृष्टि हीन, अंध (blind)। आंशिक दृष्टि युक्त चश्मे की सहायता से सामान्य शिक्षाक्रम में प्रगति करने योग्य होता है। अंधों की शिक्षा के लिये पृथक् स्कूल स्थापित करने पड़ते हैं और शिक्षाक्रम भी भिन्न ही होता है; विशेष साधनों की योजना करनी होती है।

कारण—कई प्रकार के कारण पूर्ण अन्धता उत्पन्न कर सकते हैं। जन्मजात कारणों के अतिरिक्त हमारे देश में संक्रामक नेत्ररोग आंशिक अथवा पूर्ण अन्धता का प्रधान कारण होते हैं, विशेष कर ट्रैकोमा (trachoma) जिसको साधारणतया रोहे कहा जाता है। नेत्र अस्वच्छता इनकी उत्पत्ति में विशेष सहायक होती है। गावों के बालकों में यह रोग विशेष कर अधिक पाया जाता है। नेत्र श्लेष्मला शोथ (conjunctivitis) जिसे 'आँखें दुखना' कहा जाता है, भी अन्धता का बड़ा कारण होता है। अस्वच्छ नेत्रों में संक्रमण पहुँच पर श्लेष्मला (conjunctiva) का शोथ उत्पन्न कर देता है। नेत्रों के पलक भी सूज जाते हैं। श्लेष्मला तथा कनीनिका (cornea) पर घाव बन जाते हैं जो अन्त में अन्धता का कारण होते हैं। जन्म जात अन्धता भी बहुत पाई जाती है। न्यूयोर्क में बालकों में ६६ प्रतिशत में जन्म जात अन्धता पाई गई। ग्लाकोमा और मोतियाबिन्द (glaucoma, cataract) दोनों अन्धता के विशेष कारण

होते हैं, यद्यपि शस्त्रकर्म द्वारा ग्लाकोमा को रोकना संभव है। मोतियाविन्द निकाला जा सकता है। नेत्र क्षति (injury), जन्मोत्तर नेत्र संक्रमण, अर्बुद (tumours), प्रसवकालिक मस्तिष्क क्षति (brain damage), नेत्र के भीतर की विकृतियाँ तथा नेत्र सम्बन्धी तंत्रिका विकृतियाँ, आनुवंशिक (hereditary) अवस्थाएं पूर्ण अन्धता के अन्य कारण हो सकती हैं।

अन्धता का बालक के विकास पर प्रभाव

दृष्टिहीनता का बौद्धिक विकास पर कोई विशेष प्रभाव नहीं मालूम होता। कुछ विद्वानों ने दृष्टिहीनों के संभाषण के सम्बन्ध में कुछ दोष बताये हैं। वे कहते हैं कि—

१. दृष्टिहीन धीरे-धीरे बोलते हैं, उनके शब्दों के बीच अन्तर (समय का) अधिक होता है जिससे वे अपने वाक्य को कहने में अधिक समय लेते हैं।

२. उनका शब्द अधिक ऊँचा होता है, उच्च ध्वनि से बोलते हैं। और उनके सम्भाषण में उतार-चढ़ाव कम होता है।

३. बोलने में उनके होठों की गति कम होती है।

४. उनकी वाणी की ध्वनि में विभिन्नता कम होती है।

किन्तु सामान्यतया दृष्टिहीनों के संभाषण में ऐसी विशेषतायें नहीं पायी जाती। साधारण व्यक्तियों के संभाषण से उनका संभाषण किसी प्रकार विभिन्न हो, ऐसा नहीं देखा जाता। जिन विद्वानों ने दृष्टिहीनों का विशेष अध्ययन किया है उनका भी यही कथन है। दो विद्वानों का कहना है कि—

'उनकी भाषा, भाषण या वाक्यों में या निपुणता में कोई ऐसी कमी नहीं पाई जाती जो दृष्टिहीनों में विशेषतः होती है। बधिरों (बहरों) के विरुद्ध, दृष्टिहीन भाषा और भाषण वैसे ही सीख लेते हैं जैसे अन्य साधारणतया सीखते हैं और उसी प्रकार उसका प्रयोग करते हैं, अपने भावों को उसके द्वारा प्रकट करते हैं'।

उन्होंने यह भी लिखा है कि 'सामान्य परीक्षणों द्वारा उनके बौद्धिक स्तरों को मापने पर दृष्टियुक्त बालकों से उनके बुद्धि स्तर में कोई भेद नहीं पाया जाता। दृष्टि-ह्रास से बुद्धिमत्ता का ह्रास होता हो, ऐसा परीक्षणों से नहीं पाया गया। इसके विरुद्ध बधिरता बुद्धिहानि का विशेष कारण हो सकती है। अधिकतर दृष्टिहीन बालकों की बौद्धिक योग्यता सामान्य (दृष्टियुक्त) बालकों के समान होती है।

दृष्टिदोष का मूल्यांकन

दृष्टि ह्रास तथा दृष्टिदोषों को पहचानने वाला सर्व प्रथम कक्षा का शिक्षक होता है। शिक्षक को कक्षा के बालकों पर तीक्ष्ण दृष्टि रखनी चाहिये और यदि किसी बालक के व्यवहार या आचरण में कोई विशेषता, कोई अपसामान्यता (abnormality) का आभासमात्र भी मिले तो उस पर ध्यान देना चाहिये। दृष्टिह्रास ग्रस्त बालकों में प्रायः निम्न दोष पाये जाते हैं:—

१. नेत्रों को मलना, दूर की वस्तु देखते समय मुख की आकृति को बिगाड़ना जैसे वह दूर देखने का विशेष प्रयत्न कर रहा हो।

२. नेत्रों को बार-बार खोलना, बन्द करना जो नेत्रनिमीलन (blinking) कहा जाता है, विशेष कर पढ़ते समय।

३. दौड़ते समय अतिचिन्तित होने का भाव मुख पर प्रकट होना, अति उत्सुकता से भूमि पर मार्ग का निरीक्षण करते जाना।

४. ब्लैकबोर्ड पर लिखने को जाने पर, टंगे हुए चित्र में, शिक्षक के पूछने पर किसी विशेष वस्तु को खोजने अथवा नक्शे को देखने के लिये जाकर, भूले हुये के समान आचरण करना।

५. नेत्रों से जल (स्राव) का निकलते रहना, पलकों में सूजन के लक्षण, लाली, मोटापन, पपड़ी जम जाना (crust formation)।

६. नेत्रों के सामने जब-तब अंधेरा छा जाना; एक के स्थान में दो वस्तुएँ दीखना, जब-तब जी मिचलाना।

पढ़ने के समय की नेत्रों की स्थिति तथा मुख मुद्राओं को ध्यान से देखना चाहिये।

१. पढ़ते समय पुस्तक को नेत्रों के अतिसमीप, अतिदूर या शिर को टेढ़ा करके एक ओर को रखना।

२. ठहर-ठहर कर पढ़ना, थोड़ा पढ़ कर नेत्रों को पुस्तक पर से हटा लेना, फिर थोड़े समय पश्चात् पढ़ना।

३. पढ़ते समय एक आँख को बन्द कर लेना, अथवा बारी-बारी से दाहिने या बायें नेत्र से पढ़ना।

यदि ऊपर के कोई भी लक्षण बालक में पाये जाँय तो बालक की नेत्र परीक्षा आवश्यक है।

दृष्टि ह्रास का विशेष हानिकारक प्रभाव बालक की गत्यात्मक क्रियाओं में बाधा होती है। वह स्वच्छन्दता से भाग दौड़ या आ-जा नहीं सकता और

पुस्तकों को पढ़ने में बाधा होने के कारण उसकी शिक्षा में संतोषजनक प्रगति नहीं हो पाती। जितना दृष्टि ह्रास अधिक होता है उतनी ही शिक्षा में अधिक बाधा होती है।

सम्पूर्ण दृष्टिहीन को पढ़ना संभव ही नहीं है। उनकी शिक्षा के लिये विशेष साधनों का आविष्कार किया गया है।

दृष्टिह्रासग्रस्त बालकों की शिक्षा

शिक्षा का अर्थ ज्ञान का समादेश करना है। बालक के भीतर, उसके मानस में ज्ञान अथवा सूचनाओं को पहुँचाना, जिसके साधारणतया दो ही मार्ग हैं—एक नेत्र और दूसरे कर्ण। नेत्र द्वारा दिखाकर, पुस्तक को देखकर पढ़ने से वह ज्ञान प्राप्त करता है। दूसरे उसको सुनाकर श्रवण द्वारा ज्ञान प्राप्त कराया जाता है। यहाँ प्रथम मार्ग, जो विशेष मार्ग है वह बन्द है। अतएव उसके स्थान में स्पर्श (touch) मार्ग को खोलना पड़ता है और उसका इतना विस्तार करना होता है कि बालक अपनी अँगुलियों से स्पर्श करके पुस्तक पढ़ ले। यह ब्रेल (Braille) प्रणाली कहलाती है। श्री लुई ब्रेल (Louis Braille) ने इस प्रणाली का आविष्कार सन् १८२८ में किया था। अतएव उन्हीं के नाम से इस प्रणाली का नामकरण कर दिया गया है।

श्री ब्रेल (१८०९–१८५२) फ्रांस के रहनेवाले थे। तीन वर्ष के वय में ये नेत्रहीन हो गये और १८१८ में पैरिस के National Institute for Young Blind में नेत्रहीन-अनाथ की भाँति पहुँचाये गये। वहाँ विज्ञान और संगीत कला में विशेष योग्यता प्रदर्शित की तथा वहीं वे एक शिक्षक के रूप में १८२८ में नियुक्त हो गये और अगले ही वर्ष ब्रेल प्रणाली का आविष्कार किया।

ब्रेल प्रणाली में तीन-तीन बिन्दुओं की दो खड़ी (vertical) रेखायें बनाई जाती हैं जो मोटे कागज या पतले बोर्ड पर एक मोटी कुण्ठित सुई से गोद (embossed) दी जाती हैं। इन बिन्दुओं और रेखाओं के भिन्न विन्यास या स्थिति से भिन्न अक्षर बन जाते हैं। ग्रेड १ की पुस्तकों में शब्द के सारे अक्षर लिखे या गुदे होते हैं। ग्रेड २ में शब्दों को, कुछ अक्षर न गोदकर, संक्षिप्त कर दिया जाता है। बिन्दुओं की स्थिति ऐसी होती है कि दो बिन्दु एक अँगुलि के अग्रभाग के माँसल भाग के नीचे आ जाते हैं। उन्ही को प्रतीत करके बालक अक्षर पहचान लेता है।

ब्रेल प्रणाली के अनुसार बहुत पुस्तकें तैयार की गई हैं जिनके द्वारा दृष्टिहीनों की प्रचुर संख्या शिक्षा प्राप्त करने में सफल हुई है और कितनों ही

ने डिग्री प्राप्त की है। सभी देशों में इसी प्रणाली द्वारा उच्च शिक्षायें पाकर वे विश्वविद्यालयों से डिग्रियाँ प्राप्त कर रहे हैं।

दृष्टिहीनों की शिक्षा में श्रवण (hearing) शक्ति का भी बहुत उपयोग किया जाता है। संगीत कला (music) उनके लिये एक उत्तम व्यवसाय प्रमाणित हुआ है जिसे वे सहज में सीख लेते हैं और उसके द्वारा जीवनोपार्जन करने में सफल होते हैं।

उनकी शिक्षा में टेप-रेकार्डों (tape records) का उपयोग किया जा सकता है। विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए दोनों प्रकार के रेकार्ड प्रचुर संख्या में तैयार किये गये हैं। उनके द्वारा विद्यार्थी को ज्ञान प्राप्त कराने में समय कम लगता है। ब्रेलप्रणाली द्वारा शिक्षा की अपेक्षा श्रवण माध्यम द्वारा अल्प समय में विद्यार्थी को आवश्यक सूचनायें पहुँचाई जा सकती हैं।

दृष्टिह्रास ग्रस्त बालकों की शिक्षा दृष्टिहीनों की अपेक्षा सरल है। उनको सामान्य शिक्षाक्रम वाली कक्षाओं ही में रखना लाभदायक है। शिक्षक को ऐसा प्रबन्ध उचित है कि बालक को देखने में सुविधा प्राप्त हो सके। बालक की सीट शिक्षक की मेज के पास ही हो जहाँ से उसको बोर्ड, दीवारों पर टँगे चित्र या भूगोलिक चित्रों को देखना सहज हो। उसको वर्धक लैन्स (magnifying glass) दिया जा सकता है जिससे पुस्तक के अक्षर उसको बड़े आकार के दिखाई दें। अमेरिका की दो कम्पनियाँ American Printing House for the Blind तथा Stanvis Publishing House दृष्टित्रुटियुक्त बालकों की शिक्षा के लिये बड़े आकार की अक्षरों की पुस्तकें छापते हैं। सम्भव हो तो ऐसी पुस्तकों का उपयोग किया जाय। पढ़ते समय बालक के पुस्तक को नेत्रों के पास रख कर पढ़ने में सहायता मिल सकती है। इसका कोई प्रमाण नहीं मिला है कि नेत्रों के पास पुस्तक को रखकर पढ़ने से नेत्रों को किसी प्रकार की हानि पहुँचती है।

पहले यह समझा जाता था कि दृष्टिह्रास होने पर नेत्रों से देखने का, विशेषकर पुस्तक पढ़ने आदि का काम जितना कम कराया जाए उतना ही नेत्रों के लिए हितकर होगा। यह विचार भ्रममूलक सिद्ध हुआ है। नेत्र का कार्य देखने का है, वह उसका स्वाभाविक कार्य है, उससे नेत्र को हानि नहीं हो सकती। अनुसन्धानों द्वारा यह प्रमाणित हो चुका है। अतएव दृष्टिह्रास ग्रस्त बालक को भी पढ़ने को सामान्य बालकों के समान ही उत्साहित करना चाहिये।

दृष्टिदोष का शीघ्रातिशीघ्र पता लगाना आवश्यक है। प्रारम्भ ही में उचित आयोजनों द्वारा दृष्टिदोष को बढ़ने से रोका जा सकता है। बढ़ जाने पर उसको मिटाना बहुधा सम्भव नहीं होता। बाल्यकाल ही में आवश्यक होने पर चश्मे के प्रयोग से दृष्टिदोष बढ़ने नहीं पाता। बढ़ जाने पर चश्मे के प्रयोग से भी वह कम नहीं होता।

२. श्रवण विकलाङ्गता (auditary handicap)

साधारण भाषा में इसको बधिरता या बहरापन कहा जाता है। बालक भलीभाँति नहीं सुन पाता। सुनने और बोलने, श्रवण और भाषण में विशेष सम्बन्ध है। बालक सुनकर ही बोलना सीखता है। वह शब्द को सुनता है और होठों की गति तथा मुख की चेष्टाओं को देखता है। उनका ही अनुसरण करने से वह शब्दों को सीखता है तथा वाकोच्चारण करता है। इसी प्रकार वह सम्भाषण करना सीख जाता है। यह माना जाता है कि ५ वर्ष की वय के बालक के शब्द भण्डार में २५०० शब्द होते हैं अर्थात् वह २५०० शब्द जानता है। किन्तु बधिर बालक का शब्द भण्डार शून्य होता है इसका विशेष कारण यही है कि वह सुन नहीं पाता। न सुनने के कारण ही उसने शब्द नहीं सुने। उसकी श्रवण असमर्थता ही उसकी त्रुटि का कारण होती है। यह अनुमान किया जाता है कि स्कूलों में पढ़ने वाले बालकों में ३ से ६ प्रतिशत बालकों में थोड़ी बहुत श्रवण असमर्थता होती है। दृष्टिह्रास के समान श्रवण ह्रास भी इतना अल्प हो सकता है कि उसका आभास भी न हो। स्वयं बालक कक्षा में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं करता, न उसके सम्पर्क में आने वाले अन्य व्यक्ति कुछ अनुभव करते हैं। सम्भव है यह दोष एक ही कर्ण में हो।

श्रवण बहुत कुछ शब्द की उच्चता या तुमुलता (loudness of sound) पर भी निर्भर करता है। धीमे स्वर से कहे हुए जिस शब्द को नहीं सुना जा सकता उसी को उच्च स्वर से, चिल्लाकर कहने से सुना जा सकता है। इस कारण वैज्ञानिक परीक्षा में शब्द की तुमुलता (loudness) को १०० भागों में बाँटा गया है जो डेसीवेल (decibel) कहे जाते हैं। यह माना गया है कि सामान्य (normal) श्रवण शक्ति वाला व्यक्ति १५ डेसीवेल के शब्द को सुन सकता है। इससे कम डेसीवेल का शब्द सामान्यतया नहीं सुनाई पड़ता। १५ से ३० तक के डेसीवेल के शब्द को सुननेवाला भी **सामान्यवत्** (nearly normal) ही समझा जाता है। ३० से ऊपर ४२ डेसीवेल के शब्द सुनने वाले में **अल्प श्रवणह्रास** (mild impairment

of hearing) माना जाता है। सामान्यवत् में वाक् या भाषण में कुछ दोष हो सकता है। अल्प श्रवणह्रास वाले का वाक्‌दोष अनुभव किया जाता है, सुनने वाले दोष को प्रतीत कर सकते हैं। ४५–६० डेसीवेल पर सुननेवाले में **तीव्र** (serious) ह्रास होता है, वह उच्च स्वर से बोलता है। ६० से ऊपर ६० डेसीवेल तक सुनने वाले में अतितीव्र या **उग्र श्रवणदोष** (severe) होता है और उसका भाषण अत्युच्च स्वर का होता है। ६० डेसीवेल से ऊपर **पूर्ण बधिर** होता है। उसके श्रवण को कोई इलेक्ट्रोनिक यन्त्र भी सहायता नहीं कर सकता।

कारण—दृष्टिहीनता की भाँति श्रवणह्रास तथा बधिरता के अनेक कारण हो सकते हैं। यह दोष जन्मजात हो सकता है, अथवा उपलब्ध (acquired), जन्म के पश्चात् अन्य कारण से उत्पन्न हुआ। जन्मजात (congenital) प्रायः आनुवंशिक (hereditary) होता है। अन्य कारण में रुबेला (Rubella or German measles) या जर्मन रोमान्तिका हो सकती है। अन्य रोग कनफेड़ (mumps), काली खाँसी (whoohing cough) तथा कर्ण के भीतरी अंगों (कर्ण पट tympanic membrane की क्षति (injury) तथा संक्रमण (infections) हो सकते हैं। एक ·विद्वान (Verville) ने १९६७ में अनुसंधानों द्वारा यह पाया कि श्रवणदोष ५० % में आनुवंशिक (hereditary) होते हैं, १५ प्रतिशत में प्रसवपूर्व (antenatal) और प्रसवकालिक या प्रसवोत्तर कालिक होते हैं। तथा शेष ३५% व्यक्तियों में वे संक्रामक रोगों से उत्पन्न होते हैं जिनमें मस्तिष्कावरण शोथ (meningitis) प्रधान होता है।

श्रवणह्रास का बुद्धि पर प्रभाव—५० वर्ष पूर्व किये गये इस प्रकार के अध्ययन से दोषग्रस्त बालकों की बुद्धिलब्धि (I. Q.) ६८ पाई गई। तब से कई बार ऐसे अध्ययन किये गये हैं। कुछ बधिरों ने सामान्य से न्यून I.Q. पाया गया। कुछ में I.Q. समान पाया गया। एक दो बार I.Q. के अधिक पाये जाने की भी रिपोर्ट मिली। पहले के अध्ययन और आज कल के अध्ययन में यह भी भेद है कि ५० वर्ष पूर्व की अपेक्षा अब अध्ययन की विधियाँ बहुत उन्नत और सूक्ष्म हो गई हैं। दूसरा यह भी कारण हो सकता हैं कि बुद्धि, प्रज्ञा, मेधा (intelligence or intellect), मनीषा आदि शब्दों की व्याख्या या धारणा ही बदल गई है।

श्रवणह्रास ग्रस्त बालकों को पहचानना

बालकों की सभी प्रकार की विकलांगताओं अथवा त्रुटियों को पहचानने वाला उपयुक्त व्यक्ति शिक्षक है। उसको कक्षा में पढ़ाते समय तथा

खेलकूद के क्षेत्र में बालकों से सम्पर्क के समय सतर्क रहना उसका परम गुण है। इस कारण वही प्रायः बालक के दोष को पहचानने या सन्देह करने वाला प्रथम व्यक्ति होता है। श्रवणह्रासग्रस्त बालकों की कक्षा में प्रायः ये दोष पाये जाते हैं।

१. उनको पुकारने पर वे उत्तर नहीं देते।

२. प्रायः उच्च स्वर से पुकारने पर बोलते हैं।

३. शिक्षक को सुनने के लिये शिर को एक ओर झुका लेते हैं।

४. पढ़ते समय शब्दोच्चारण ठीक नहीं होता।

५. प्रायः उच्च स्वर से बोलते हैं।

६. कक्षा में खोये से रहते हैं, जैसे परिस्थिति को न समझते हों।

७. बातचीत करने पर वह बोलने वाले के मुँह की ओर बड़े ध्यान से देखते हैं।

८. कभी-कभी उनके उत्तर असंगत, बेतुके होते हैं, पूछो कुछ, उत्तर कुछ।

ऐसे बालकों में अनेक बार बाह्यकर्ण (जो दीखता है) का आकार कुछ विकृत, असाधारण होता है। प्रायः कान से कुछ स्राव बहता रहता है। कान में पीड़ा होना, जी मिचलाना, घुमरे आना (vertigo or dizziness) ये सब कर्णरोग के लक्षण हैं।

उपर्युक्त लक्षणों के संदेह होने पर बालक की कर्णविशेषज्ञ डॉक्टर द्वारा परीक्षा आवश्यक है। यदि कोई रोग हो तो उसकी चिकित्सा का प्रबन्ध किया जाय।

कर्ण के किसी भाग के भीतर की संरचनाओं (structures) के विकारों से उत्पन्न हुई बधिरता या श्रवणह्रास को ठीक करना अनेक बार शल्य-चिकित्सा से संभव होता है। कर्णविशेषज्ञ परीक्षा करके यह निर्णय कर सकता है। यदि वह शस्त्रकर्म द्वारा विकृति को दूर कर सकता है तो उससे लाभ उठा कर बालक के जीवन का सुधार करना अत्यन्त प्रिय है।

आज कल अनेक उत्तम उपयोगी श्रवण यन्त्रों का भी अविष्कार हुआ है। कर्ण विशेषज्ञ बालक के लिये उपयुक्त यंत्र को चुन कर उसके कान में लगा सकता है।

शिक्षा

श्रवणह्रास ग्रस्तों की शिक्षा का मुख्य आयोजन उनकी श्रवण शक्ति को बढ़ाना है। प्रायः सभी दोष ग्रस्तों में कुछ न कुछ श्रवण शक्ति रह ही जाती है, किसी में कम, किसी में अधिक। इसको **शेष श्रवण योग्यता**

(residual hearing ability) कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति चिल्लाकर ऊँचे स्वर से बोलने पर सुनते हैं। जितना दोष अधिक होता है उतने ही वेग से बोलना या चिल्लाना पड़ता है। इस कारण प्रारम्भिक आयोजन परिवार ही से प्रारंभ करना चाहिये।

१. परिवार वाले बालक से इतने ऊँचे स्वर में बोलें कि बालक सुन सके।

२. वे बालक से अधिक से अधिक बातचीत करें। जो भी बालक के सम्पर्क में आए वही बालक के साथ वार्तालाप करे। बालक के चारो ओर वार्तालाप का वातावरण उत्पन्न कर दिया जाय।

३. वार्तालाप में उपयुक्त शब्द न जानने के कारण यदि वह संकेत (sign) करे तो उसको संकेत द्वारा उत्तर न दें, वरन बालक को उसके लिये उपयुक्त शब्द बतावें और उसे बालक से प्रयोग करावें।

४. बालक को स्वयं अपना मन्तव्य समझाने के लिये भाषा के प्रयोग को उत्साहित किया जाय। कोई दूसरा उसके मन्तव्य को व्यक्त करने का प्रयत्न न करे।

५. बालक के शब्द भण्डार (vocubulary) को बढ़ाने का पूर्ण प्रयत्न करना उचित है। उसको क्रम से नये-नये शब्दों को सिखाया जाय तथा उनका प्रयोग सिखाया जाय।

६, बालक को घर के कामों को करने को उत्साहित करना उसके लिये लाभदायक है। पारिवारिक जीवन में भाग लेने से उसकी जिज्ञासा जागृत होगी और वह विचार-विमर्श में भाग लेने से नये शब्दों को सीखेगा।

७. बालक की शिक्षा के सभी आयोजन उसको प्रसन्न करने वाले हों, वे उसको रुचिकर हों जिन्हें वह स्वयं बार-बार करना चाहे, वे उसको भार न प्रतीत हों। एक बार उनमें अरुचि हो जाने से वह फिर उनको न करेगा।

पूर्ण बधिरों की शिक्षा के लिये विशेषतः और श्रवणह्रास वालों के लिये संज्ञापन (communication) के हेतु भाषा के अतिरिक्त अन्य उपायों की व्यवस्था करना भी आवश्यक है। श्रवण शक्ति के ह्रास से भाषा-त्रुटि होना स्वाभाविक है। भाषा-त्रुटि से उत्पन्न हुई संज्ञापन अयोग्यता को जितना भी अन्य साधनों द्वारा कम किया जा सके उतना ही ऐसे व्यक्तियों के लिये लाभदायक है। इसके लिये दृष्टि और स्पर्श शक्तियों का उपयोग किया जाता है। **मौखिक भाषा** (oral language) जो बोलते समय होठों के हिलने से व्यक्त होती है वह बधिरों की शिक्षा या संज्ञापन का उत्तम माध्यम

हो सकती है। उसको **ओष्ठ वाचन** (lip reading) भी कहा जाता है। बधिर होठों के हिलने को देखकर वक्ता के वाक्य को समझ लेते हैं। दूसरी संकेत भाषा (sign language) भी कही जाती है। संकेत द्वारा संज्ञापन की उत्तम विधि है।

उपयुक्त परीक्षणों द्वारा जाँच करने पर श्रवणह्रास ग्रस्तों की उपलब्धि (achievement) सामान्य व्यक्तियों से कम पाई जाती है।

बधिरता और वाक् या वाणी का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि बधिरों और मूकों (deaf and dumb) के प्रायः एक ही स्कूल होते हैं, जहाँ दोनों की शिक्षा के लिये विशेष शिक्षित शिक्षक नियुक्त होते हैं। प्रायः प्रत्येक देश में अब ऐसे स्कूल खुल गये हैं जहाँ इन त्रुटियों से ग्रस्त बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध होता है।

३. वाक् त्रुटिग्रस्त बालक
(children with speech defects)

इन बालकों के भाषण में कई प्रकार की त्रुटियाँ हो सकती हैं जिनके कारण वे अपने भावों को व्यक्त नहीं कर पाते। यदि इन त्रुटियों का प्रतिकार सफलता पूर्वक नहीं होता तो बालक जीवन संग्राम में असफल होता है।

भाषा या वाचा सांसारिक उन्नति की कुंजी मानी जाती है। मनुष्य जाति की वह प्रधान कृति तथा गुण है जो उसको अन्य जन्तुओं से विभिन्न करता है। वह संज्ञापन का मुख्य माध्यम है जिसके द्वारा आपस में विचार विनिमय और उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसकी त्रुटि ज्ञान प्राप्ति तथा उसकी वृद्धि में विशेष बाधक होती है। विद्वान भाषा या वाणी की त्रुटियों को विशेषतः शारीरिक कारणों से उत्पन्न हुई मानते हैं। उसके वंशानुगत होने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। वंश में एक विशेष त्रुटि पीढ़ी दर पीढ़ी में प्रकट होते देखा गया है। जो त्रुटि पितामह में थी, वही पिता में प्रकट हुई। पुत्र भी उसी से ग्रस्त हुआ। नाती में भी वही त्रुटि प्रकट हो गई। इससे त्रुटि को आनुवंशिक ही माना जाता है। किन्तु कितनों ही में उसके वातावरण या परिस्थिति से उत्पन्न होने के भी प्रमाण मिलते हैं। सांस्कृतिक हीनता (cultural deprivation) भी उसका कारण हो सकती है। इस कारण शिक्षक को इन सब का विचार करना योग्य है।

निम्न लिखित सामान्य भाषा सम्बन्धी त्रुटियाँ पाई जाती हैं :—

विलम्बित वाचा या भाषण (delayed speech) बालक शब्दों

को बिलम्ब कर-कर के, ठहर-ठहर कर बोलता है; शब्दों के बीच अधिक अन्तर होता है जिससे वाक्य के समाप्त होने में अधिक समय लगता है। इस त्रुटि के अनेक कारण हो सकते हैं जिनमें मुख्य कर्णवधिरता, मानसमन्दता तथा वाचाघात (aphasia) है। १. मस्तिष्क क्षति, विशेषतः केन्द्रीय तंत्रिका तन्त्र जिसमें सुषुम्नाशीर्ष और सुषुम्ना (medulla oblongata & spinal cord) भी सम्मिलित है) की क्षति; २. केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र क्षति सम्बन्धित व्यवहार विकार, जैसे अतिक्रियता (hyperactivity), चंचलता, तोड़फोड़ या ध्वंसकारी प्रवृत्ति, ३. वाचाघात—ग्राहक और अभिव्यंजक (expressive), दोनों प्रकार की, दुरुच्चारण (dysarthria) तथा जिह्वा और हनु का गति सम्बन्धी दोष, (५) बौद्धिक मन्दता, (६) संवेगात्मक विकार (emotional disorders), वाक् हीनता (speech deprivation) तथा अपक्वता (immaturity) जैसा प्रायः अशिक्षित और असांस्कृतिक वर्ग में पाया जाता है; ये सब कारण बिलम्बित वाक् या भाषण उत्पन्न कर सकते हैं।

वाचाघात (aphasia)

बालक भाषण को, जो कुछ उससे कहा जाय उसको समझ नहीं पाता, उसका तात्पर्य समझने में असमर्थ होता है। यह **सांवेदनिक वाचाघात** (sensory aphasia) कहा जाता है। दूसरे प्रकार के वाचाघात में बालक अपने को व्यक्त नहीं कर पाता, अपने अभिप्राय को कहने में असमर्थ होता है। यह **प्रेरक वाचाघात** है (motor aphasia)। दोनों प्रकार के दोष वाचाघात ही कहे जाते हैं। इस दशा को पहचानना कठिन होता है। बालक के न बोलने से उसको बधिर या मानसमन्द समझा जाता है।

बालक के बोलने को भाषण कहा जाता है जिसके द्वारा बालक अपना अभिप्राय प्रकट करता है उसके तीन भाग होते हैं। प्रथम, ग्राहक (input, receiving) भाग, बालक को जो भी सूचनायें या ज्ञान दिया जाय, उससे जो कुछ कहा जाय। दूसरा, बालक का उन कही हुई सूचनाओं का समाकलन (integration), उनको समझना, अन्य तत्सम्बन्धी सूचनाओं के साथ समायोजन करके उसका तात्पर्य अनुभव करना। तीसरा भाग, अपने मन्तव्य को प्रकट करने (अभिव्यंजन, expressive) वाला भाग। कुछ विद्वानों ने इन तीनों भागों को भिन्न नाम दिया है। सामान्यतया वाचाघात शब्द में तीनों भाव निहित हैं।

इस त्रुटि का कारण मस्तिष्क के अग्र भाग का दुष्कार्य (dysfunction) है जो सम्भाषण क्रिया से सम्बन्धित है। यह भाग मस्तिष्क के बाँये गोलार्द्ध (left) में पार्श्विक (parietal) पश्च (occipital) और शंख खण्डों (temporal) के संगम स्थान (junction) के पास स्थित है। इस भाग की क्षति मस्तिष्क की दुष्क्रिया का कारण होती है। क्षति मस्तिष्क में जितनी इस स्थिति के समीप होगी उतना ही क्रियाविकार अधिक होगा।

मस्तिष्क क्षति जन्मजात (congenital) अथवा उपलब्ध (acquired) हो सकती है, जन्म के पश्चात् अभिघात, संक्रमण आदि से उत्पन्न हो सकती है। दोनों प्रकार से उत्पन्न क्षति वाचाघात का कारण होती है जिससे बालक की समझने की और भावों को प्रकट करने की शक्ति का विशेष ह्रास हो जाता है। इस प्रकार के ह्रास को अर्थात् वाचाघात को मानसमन्दता से पृथक् पहचानना आवश्यक है। इसकी विशेष पहचान यह है कि वाचाघातिक बालक सम्भाषण के अतिरिक्त अन्य क्रियात्मक क्षेत्रों में सामान्य बुद्धिमत्ता का प्रदर्शन करेगा। उपलब्धि या निष्पादन परीक्षणों (achievement or performance tests) में उसका I. Q. सामान्य पाया जायगा। उसके व्यवहार में भी कुछ असाधारणता अनुभव होगी। वह प्रायः बेचैन, अशान्त और दूर-दूर, मैत्री भाव से उदासीन, अपने ही में अनुरक्त सा रहता है।

यह पाया गया है कि जिन बालकों में श्रवण दोष होते हैं उनमें वाक् असमर्थता अवश्य होती है। ये बालक पढ़ना और लिखना भी नहीं सीख पाते। दोष जितना अधिक होता है असमर्थता भी उतनी ही अधिक होती हैं। संज्ञापन की असमर्थता के कारण वे एक प्रकार की अपूर्णता प्रतीत करते रहते हैं जिससे वे कुण्ठित (frustrated) रहते हैं। इसी से लड़ना-झगड़ना, रूठ जाना, दुर्व्यवहार करना, जिनको अंग्रेजी में टैन्ट्रम कहा जाता है, करते रहते हैं।

हकलाना (stammering) इसी का एक रूप stuttering कहा जाता है जिसमें भय या चिन्ता का बहुत भाग होता है।

इन वाक् वैकल्यताओं के कारणों के सम्बन्ध में विद्वानों के अनेक मत प्रकट किये हैं।

एक विद्वान का मत था कि दोनों मस्तिष्क के गोलार्धों के समान रूप से परिवर्धन (development) न होने से वाक्वैकल्यताएँ उत्पन्न होती हैं। असमान परिवर्धन के कारण एक गोलार्ध सबल होता है और दूसरा निर्बल रह जाता है जिससे उनके द्वारा नियंत्रित भाषण की पेशियों की असमान

क्रियाओं के कारण भाषण में विषमताएँ उत्पन्न होती हैं। एक विद्वान ने चयापचय (metabolism) के विकारों को इन दशाओं का कारण माना। दूसरे ने केवल मानसिक और सांस्कृतिक कारण ही माना। एक विद्वान जिनका नाम (W. Johnson) था, उनका कहना था कि माता-पिता के अनुचित छिद्रान्वेषण से, बालक के कृत्यों में अनुचित गुणदोष विवेचन से वाग्विषमताएँ उत्पन्न होती हैं।

परीक्षा करने पर सम्पूर्ण दोषरहित भाषण वाले बालकों में और इन वाक्‌दोष युक्त बालकों के बुद्धिमाप (I. Q.) में कोई भेद नहीं पाया गया। दोनों के उपलब्धि और निष्पादन परीक्षणों के फलों में भी कोई अन्तर नहीं था। किन्तु भाषण सम्बन्धी कौशलों में उनकी उपलब्धि विशेषतया न्यून थी।

श्रवण-भाषण त्रुटियों का सुधार

गत २० वर्ष में श्रवणह्रास ग्रस्तों की शिक्षा में विशेष उन्नति हुई है। कुछ समय पूर्व तक उनको श्रवण की त्रुटि की पूर्ति के लिए संकेतों द्वारा अपनी इच्छा प्रकट करने के उपाय सिखाये जाते थे। तथा किसी ऐसे व्यवसाय की शिक्षा दी जाती थी जिसमें उनको भाषा का अधिक प्रयोग न करना पड़े। अब ऊँचा सुनने वालों की श्रवण शक्ति को उन्नत करने के लिए जिन उपायों तथा योजनाओं का उपयोग किया जाता है, वे निम्नलिखित सिद्धान्तों पर आश्रित होती हैं।

१. शब्द की तुमुलता की वृद्धि (raising the sound), अर्थात् उच्च शब्द या ध्वनि में बालक से सम्भाषण करना।

२. शब्द की सुबोधता (intelligibility) पर विशेष ध्यान। शब्द उच्च हो तथा बालक के सहज में समझ में आने वाला हो।

३. बालक की संज्ञापन निपुणता की वृद्धि।

४. बालक का हीनता का भाव मिटाना। बालक श्रवण त्रुटि के कारण जब अपने को अन्य बालकों की अपेक्षा दीन हीन प्रतीत करने लगता है उसके उस भाव को दूर करने का प्रयत्न करना उचित है जिससे उसमें आत्मसम्मान और आत्मनिर्भरता के भाव उदय हों।

बालक की बधिरता को मिटाने के प्रयत्न दृष्टि और श्रवण दोनों मार्गों के मिश्रित या संयुक्त उपयोगों पर निर्भर होने चाहिये। बालक को जो भाषण से बताया जाय वह साथ-साथ चित्रों द्वारा भी दिखाया जाय। यदि मोटर कार के विषय में बताया जा रहा है तो उसको मोटर कार का चित्र भी साथ ही दिखाया जाय। यह श्रवण-दृष्टि सहयोगी विधि कहलाती है और श्रवण ह्रास के सुधार में उपयोगी प्रमाणित हुई है।

श्रवण केवल एक ही प्रक्रम (process) या क्षमता (capacity) नहीं है। वह कई क्षमताओं अथवा प्रक्रमों के संयोग का फल है। इस कारण एक बालक के श्रवण सुधार के कार्यक्रम के उचित निर्णय के लिये यह जानना आवश्यक है कि उसमें किस क्षमता की त्रुटि है। बालक की श्रवणतीक्ष्णता (acuity of hearing) का ज्ञान आवश्यक है। यह **श्रवण की परम सीमा** (absolute threshold) भी कही जाती है। बालक कितना धीमा शब्द सुन सकता है तथा कितने ऊँचे से ऊँचा या अतितीव्र शब्द (sound) सहन कर सकता है। तीसरी क्षमता शब्द पहचानने की है। अति उच्च ध्वनि में जो शोर सुनाई पड़ता है उसमें सार्थक शब्दों को पहचानने की बालक में कितनी सामर्थ्य है। इसको **विवेक** या **भेदबोध** (discrimination) कहा जाता है। हीन सांस्कृतिक वातावरण से आने वाले श्रवणह्रास बालकों में यह शक्ति विशेषतया कम होती है।

श्रवणह्रास के रूप का पूर्ण निश्चय कर लेने पर सुधारक उपायों का निर्णय करने के पूर्व यह भी जान लेना उचित है कि किसी श्रवण-सहायक यन्त्र (hearing aids) के प्रयोग से बालक को कुछ लाभ पहुँच सकता है या नहीं।

श्रवण सहायक यन्त्र

ये केवल शब्द या ध्वनि का विवर्धन (amplification) करते हैं। जहाँ सार्थक शब्द की तीव्रता या उच्चता विवर्धित होती है वहाँ निरर्थक शब्द या निनाद (शोर noise) भी बढ़ जाता है। यदि यन्त्र प्रयोग कर्ता की श्रवण विधि की विवेक क्षमता का ह्रास हो गया है तो उसको उस यन्त्र से कोई लाभ न होगा। इस कारण सब बधिर इन यन्त्रों से लाभ नहीं उठा पाते। अतएव कर्ण विशेषज्ञ को बधिर की परीक्षा करके देख लेना चाहिये कि अमुक यन्त्र से अमुक व्यक्ति को श्रवण में सहायता मिलती है या नहीं। तब प्रयोग का आदेश देना उचित है।

यदि बालक के श्रवण में यन्त्र सहायक सिद्ध होता है तो बालक द्वारा अवश्य प्रयोग करवाया जाय। उस यन्त्र को बालक के कान में लगा दिया जाय और उसके सम्बन्ध में बालक को भी और उसके माता-पिता को पूर्ण शिक्षित कर दिया जाय। यन्त्र के प्रयोग के सम्बन्ध में जो भी सावधानी आवश्यक है वह सब माता-पिता या बालक के अभिभावकों को भलीभाँति समझा देना आवश्यक है। यन्त्र को किस प्रकार लगाया जाय, कैसे और कब निकाला जाय, उसकी स्वच्छता, उसके अनुचित उपयोग से सम्भावित

हानि आदि से प्रयोगकर्ता तथा माता-पिता आदि पूर्णतया अवगत कर दिये जायँ। वालक को यन्त्र के प्रयोग की विधि में शिक्षित करना होगा। यह सब विशेषज्ञ का कर्तव्य है जिसे उसको भलीभाँति सम्पूर्ण करना चाहिए।

वालक को यन्त्र के प्रयोग से श्रवण में सहायता के प्रमाण न मिलने से उसका प्रयोग वर्जित कर देना चाहिये। वालक का श्रवण ह्रास इस प्रकार का है कि उसको यन्त्र सहायक नहीं हो ककता।

दृष्टिमार्ग द्वारा श्रवण सुधार में सहायता के आयोजन का उल्लेख किया जा चुका है। भाषा वाचन (language reading) अथवा ओष्ठ वाचन (lip reading) की शिक्षा भी श्रवणवाचन की पूरक या सहायक के रूप में देनी लाभदायक है। यह शिक्षा एक प्रकार से नेत्र प्रशिक्षण (eye training) है जिसमें नेत्रों को ओष्ठों की गतियों को देखकर उनसे अर्थ निकालना होता है। इस कला में वालक को निपुण करने के लिये विशेष प्रयत्न आवश्यक होंगे।

४. व्यवहार विकार, आचरण दोष
(Behavioral disorders)

व्यवहार सम्बन्धी विकारों का मानसमन्दता के सम्वन्ध में वहुत विचार किया जा चुका है। पुस्तक के गत पृष्ठों में इस विषय पर प्रकाश डाला गया है। यहाँ उसका पुनः अति संक्षेप से उल्लेख करने का कारण विकारग्रस्त व्यक्तियों की गणना **असाधारणता** (exceptionality) में करना है, न कि मानसमन्दों में। पहले भी कहा जा चुका है कि व्यवहारात्मक विकारों का कारण सदा मानसमन्दता नहीं होती। मानसमन्दों में व्यवहार सम्वन्धी विकार हो सकते हैं। किन्तु सव व्यवहार विकारग्रस्त मानसमन्द हों ऐसा नहीं है। व्यवहारविकार स्वयं मानसमन्दता से एक पृथक दशा है। कुछ विकारग्रस्त वड़े मेधावी होते हैं। वड़े-वड़े अपराधों की योजनायें वनाते हैं। किन्तु उनका आचरण सदा समाज विरोधी होता है। कुछ में सदा अपराध करने की प्रवृत्ति होती है। ऐसों को मनोविकृत (psychopath) कहा जाता है। यद्यपि समाज उनको सब प्रकार की सुविधायें प्राप्त कराता है, जीवनोपार्जन के साधन उनको उपलब्ध होते हैं, रहने को निवास-स्थान होता है, शिक्षा प्राप्ति के साधन समाज द्वारा नियोजित होते हैं, रोगग्रस्त होने पर चिकित्सा का विधान तथा अन्य सब प्रकार की सुविधायें उनको समाज द्वारा प्राप्त होती हैं, किन्तु वे समाज के प्रति अपना उत्तरदायित्व प्रतीत करने के भावों से ही वञ्चित होते हैं। उनमें समाज को

हानि पहुँचाने ही की प्रवृत्ति होती है। यह भी एक प्रकार की मानसमन्दता ही है। यद्यपि मस्तिष्क में कोई रचनात्मक त्रुटि नहीं है, किन्तु मानस का विकार अवश्य है जिसका उत्पत्तिस्थान मस्तिष्क ही है। मानस मस्तिष्क का गुण है, उसका कार्य है।

मानस की इस विकृत क्रिया की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बहुत वाद-विवाद रहा है। यहाँ उस सब का विचार अभीष्ट नहीं है। संक्षेप से इतना बताना पर्याप्त है कि (१) आनुवंशिकता (heredity) और (२) परिस्थिति अथवा वातावरण (environment) इन विकारों की उत्पत्ति के कारण हैं। इस पर सभी विद्वान सहमत हैं कि इन दोनों कारणों की पारस्परिक अन्तर्क्रिया (interaction) का फल विकारों की उत्पत्ति होती है। इनमें से कौन-सा कारण प्रधान है और कौन गौण है यह कहना असम्भव है। योरप तथा अमरीका में ऐसे वंश हैं जिनका व्यवसाय ही अपराध है। उन्होंने जहाँ-तहाँ अपराध करने के लिए कम्पनियों के समान गुप्त संस्थायें बना रखी हैं जिनके द्वारा वे अपराधी कृत्यों को कराते हैं जिसको organised crimes कहा जाता है। इनके वंश में उत्पन्न होनेवाले बालकों में आनुवंशिक कारण भी हो सकते हैं, वातावरण जात कारण तो होते ही हैं क्योंकि वे अपराधी वातावरण ही में पलते हैं। किन्तु ऋषि पुलस्त्य के कुल में रावण और दैत्य हिरण्यकशिपु के कुल में भक्त प्रह्लाद भी उत्पन्न होते हैं। यहाँ आनुवंशिकता का प्रभाव प्रधान दीखता है।

स्वैरचिन्तन (autism) और विखण्डित मनस्कता (schizophrenia) भी ऐसी ही व्यवहार विकृतियाँ हैं जिनका पहले विचार किया गया है, जो सम्बन्ध-रचना (relationship formation) के भावों के विकास की त्रुटि के कारण प्रकट होती हैं। जैसे बालक में माता के प्रति उन भावों का उदय न होना जो माता-पुत्र सम्बन्ध स्थापित करते हैं। विखण्डित मनस्कता में सद्‌गुणों और दुर्गुणों के आवेशों के दौरे से होते रहते हैं। कुछ समय तक व्यक्ति अपनी पूर्ण सामान्य अवस्था में रहता है, अपने प्राकृतिक सद्‌गुणों के अनुसार नैतिक आचरण करता रहता है। कुछ समय पश्चात् उसमें अकस्मात् ऐसा परिवर्तन होता है कि उसका आचरण सम्पूर्णतया बदल जाता है। इस समय वह गुरुतर अपराध भी कर सकता है। कुछ दिनों तक यह दशा रहती है। तत्पश्चात् वह फिर अपनी प्राकृतिक सामान्य दशा में लौट आता है। उसके ये दो प्रकार के व्यक्तित्व समय-समय पर बदलते रहते हैं। इन दशाओं में सामान्यतया अपराध की प्रवृत्ति नहीं होती, केवल व्यवहारात्मक परिवर्तन होता है। किन्तु विखण्डित मनस्कता

की दशा में अपराध करने की सम्भावना रहती है। मनोविकृत दशा (psychopathy) तो अपराधी जीवन ही का नाम है।

मस्तिष्क क्षति तथा सांस्कृतिक हीनता भी व्यवहार उत्पन्न करने में सहायक होती हैं। इन सब का पहले विचार किया गया है।

५. मानसमन्दता (Mental Retardation)

पुस्तक के गत भाग का विषय ही मानसमन्दता होने के कारण विषय का सविस्तार विचार किया गया है। अब मानसमन्दों का वर्गीकरण असाधारणों में ही किया जाता है।

६. संवेगात्मक क्षोभ (Emotional Dirturbance)
संवेग क्षुब्ध बालक (Emotionally Disturbed Child)
व्यवहारात्मक क्षुब्ध बालक (Behaviorally Disturbed Child)

इस सम्बन्ध में जर्मनी के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड (Sigmund Freud, 1856–1939) के कार्य को बहुत महत्व दिया जाता है। वही आधुनिक मनोविश्लेषण विधि (psychcoanalysis) का जन्मदाता माना जाता है। प्रायः सभी मनोवैज्ञानिक विद्वान उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुयायी हैं और उसके द्वारा अनुदेशित विधियों का उपयोग करते हैं।

किन्तु यहाँ विवेचन के लिये उसका मत अतिजटिल और बृहद विस्तृत है। उनके अध्ययन के लिये उसके द्वारा लिखे बड़े-बड़े ग्रन्थों का या उनके अनुवादों का अध्ययन आवश्यक है। यहाँ ऐसे विकारों से ग्रस्त बालकों का साधारण परिचय देना ही मन्तव्य है।

शीर्षक में दिये हुए तीन शब्दों से वह दशा समझनी चाहिये जिसको हम अपनी भाषा में अन्तर्द्वन्द्व कहते हैं। मन के भीतर ऐसी उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं कि उनसे व्यक्ति इच्छित कार्य सम्पादन में प्रगति नहीं कर पाता। ऐसे द्वन्द्वों का बालकों और प्रौढ़ व्यक्तियों पर भिन्न-भिन्न प्रभाव होता है। जब कि प्रौढ़ व्यक्ति इन द्वन्द्वों को, समय पाकर अपनी प्रौढ़ता के कारण, दूर कर सकता है, बालक को उनके कारण बहुत हानि पहुँचती है। उसकी मनोवृत्ति ही बदल सकती है। यह धारणा कि माता उससे स्नेह न करके उस पर अनुचित अधिकार या प्रभुत्व प्राप्त करना चाहती है, उसमें समाज विरोधी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न कर सकती है। यह पाया जाता है कि जिन माताओं का बालकों से विरोधात्मक व्यंवहार होता है और वे बालक की

छोटी-छोटी बातों में छिद्रान्वेषण करती रहती हैं उनके बालकों में आक्रमण करने की प्रवृत्ति होती है वे लड़ाई-झगड़ा करने वाले होते हैं। अस्वीकरण (rejection) और उपेक्षा का भाव बालकों को क्रोधी, परिणाम के विचार से वंचित और तोड़-फोड़ करने वाला और लड़ाकू बनाता है। बालक के साथ परिवार के व्यवहार का बालक की व्यवहारात्मक प्रवृत्तियों पर विशेष प्रभाव प्रमाणित हो चुका है।

प्रायः निम्न व्यवहार-परिवर्तन की दशाओं का उपर्युक्त शीर्षक के अन्तर्गत वर्णन किया जाता है।

मनःस्ताप (neurosis)—कितने ही प्रकारों का इस समूह में वर्णन किया जाता है। यह उन अल्पतीव्र दशाओं का नाम है जिनमें व्यवहारात्मक क्षोभ पाये जाते हैं तथा चरित्र में भी गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है। दुर्भीति (phobias), हिस्टीरिया आदि भी मनस्ताप के प्रकार हैं।

चिन्ता मनःस्ताप (anxiety neurosis)—चिन्ता का कोई कारण न होने पर बालक चिन्ता ग्रस्त हो सकता है। अत्यल्प कारणों के सामूहिक प्रभाव से या एक बड़ी दुर्घटना से बालक मनस्तापी (neurotic) हो सकता है।

भीति (phobias) वास्तव में चिन्ता ही का रूपान्तर है जिसका कारण बालक को मालूम होता है किन्तु वह क्यों डरता है—यह नहीं जानता।

स्कूल भीति (school phobia) का कारण माता या पिता से पृथक् होने का भय है जिससे बालक स्कूल नहीं जाना चाहता। कुछ में स्वयं स्कूल ही से भीति उत्पन्न हो जाती है। बड़े होने पर भीति जाती रहती है। बड़ी आयु के बालकों में परीक्षा की चिन्ता से स्कूल भीति हो जाती है। इसके सुधार के उपाय शीघ्र ही प्रारम्भ कर देने चाहिये।

हिस्टीरिया (hysteria) प्रायः बालकों में नहीं होती। जब होती है तो उसके लक्षण बड़े वय वाले व्यक्तियों ही के समान होते हैं। प्राकृतिक अन्तर्भावनाओं का जब बालक को बलपूर्वक दबा कर दमन कर दिया जाता है तो कितने ही प्रकार के अन्य मानसिक लक्षण प्रकट हो सकते हैं।

ऐसे बालकों में प्रायः निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं।:

१. अति सक्रियता (hyperactivity) अथवा विकर्षणता या उचाटता (distractibility, मन का उचट जाना) प्रधान लक्षण

हैं। बालक कुछ न कुछ करता रहता है। साथ ही उसकी उद्विग्नता के साथ क्षणिकता भी मिली रहती है। किसी वस्तु को तोड़ने-फोड़ने लगे, क्षण भर पश्चात् दूसरे स्थान पर पहुँच जाए, शीघ्र ही उसको छोड़ कर किसी दूसरे काम में लग जाए। तत्काल ही किसी बालक से लड़ना प्रारम्भ कर दे। किसी क्रिया को वह कुछ समय तक लग कर नहीं कर सकता। **अतिक्रियता,** सदा कुछ करते रहना, वह भी नाश करने के काम और **क्षणिकता,** इन को प्रधान लक्षण कहना अनुचित न होगा।

२. दूसरा लक्षण क्रिया को वेढंगेपन (clumsiness) से करना। क्रिया चातुर्य जिसे कहा जाता है उसकी अनुपस्थिति होती है। इसका कारण शारीरिक पेशियों की क्रियाओं के समायोजन (coordination) की असमर्थता मालूम होती है। बालक दोनों हाथों से किसी वस्तु को पकड़ कर भली भाँति उठा नहीं पाता। एक हाथ का दूसरे हाथ के साथ समकालिक क्रिया न करने से वस्तु हाथों से छूट कर गिर जाती है।

३. तीसरा दोष विच्छेदन (dissociation) है जो बहुधा ऐसे बालकों में पाया जाता है। बालक सारी बात नहीं समझ पाता, केवल उसके एक भाग को समझता है। यदि बालक से कहा जाय कि इस पुस्तक को उठा कर पढ़ो, तो वह केवल पुस्तक को उठा लेगा। पढ़ने के लिये उसे फिर से कहना पड़ेगा। अमुक वस्तु को उस स्थान पर रख दो, कहने से वस्तु को उठा लेगा, किन्तु रखेगा नहीं। रखने का फिर से आदेश देना होगा, तब उसको रखेगा। प्रेरणा-असमन्वयन (motor incoordination) इसका कारण होता है जिसका फल विच्छेदन होता है। प्रेरणा (motor stimulus) के भागों का विच्छेदन हो जाता है।

४. एक और दोष जो शिक्षा ग्रहण का बाधक होता है वह **संतनन** (perseveration) कहलाता है। बालक बार-बार उसी क्रिया में लग जाता है जिसे वह कर रहा था। उसको दूसरी क्रिया करने को कहने पर भी वह वही करने लगता है जो पहले कर रहा था।

(५) इन बालकों में एक अपूर्णता और अयोग्यता की प्रतीति उत्पन्न हो जाती है। वे अपने को अन्य बालकों की अपेक्षा तुच्छ और हीन मानने लगते हैं। कोई बाह्य कारण न होने पर भी स्वयं ही उनके भीतर ऐसी भावना उत्पन्न हो जाती है जिससे वे अपने को दीन हीन प्रतीत करते हैं, यद्यपि वे इस भावना को समझ नहीं पाते, न प्रकट ही कर सकते हैं। इससे वे आत्म सम्मान और आत्मनिर्भरता के गुणों को खो बैठते हैं।

ये सब उपर्युक्त दोष शिक्षा-बाधाएँ (learning disabilities) कही जाती हैं। उनके कारण बालकों की शिक्षा-उपलब्धियाँ (educational achievements) क्षीण हो जाती हैं। शिक्षाक्रम में सर्वप्रथम इन दोषों को दूर करना आवश्यक है। बहुधा इन दोषों को पहचानना कठिन होता है। माता-पिता उनको अनुभव ही नहीं कर पाते। शिक्षक ही का ध्यान प्रथम बार उनकी ओर आकर्षित होता है।

ऐसे बालकों की बहुविद् (multidisciplinary) समिति द्वारा पूर्ण परीक्षा करने के पश्चात् उनकी शिक्षा की योजना बनानी उचित है।

७. मस्तिष्क क्षति (Brain damage) वाले बालक

विचारण, क्रिया, उपलब्धि, गुण दोष, संक्षेपतः जिसको बुद्धि (intelligence) या प्रज्ञा, मेधा आदि नामों से पुकारा जाता है वे सब मस्तिष्क नामक अङ्ग की क्रिया के फल हैं जो मनुष्य के शरीर में सबसे ऊपर अस्थिकृत करोटि (skull) नामक बक्स में बन्द स्थित है। इससे सुषुम्ना (spinal cord) निकल कर पृष्ठवंश (vertebral column) के भीतर की नली में बन्द पीठ के निचले भाग में दोनों नितम्बों के बीच अन्त के समीप तक चली जाती है। मस्तिष्क से और सुषुम्ना से तन्त्रिकायें (nerves) निकल कर सारे शरीर में फैल जाती हैं जिनके द्वारा मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भागों में उत्पन्न हुई उत्तेजनायें शरीर के प्रत्येक भाग में पहुँचती हैं तथा नेत्र, श्रवणाङ्गों, नासिका, रसना (जिह्वा) और त्वचा में अनुभूत उत्तेजनायें मस्तिष्क को जाती हैं। यह सब केन्द्रीय तन्त्रिका तन्त्र (central nervous system) कहलाता है। स्वाभाविक है इस तन्त्र के कहीं पर भी क्षत हो जाने से शरीर के सम्बन्धित भागों की क्रियाओं में गड़बड़ी हो जायगी।

मस्तिष्क क्षति से इस समस्त तन्त्र के किसी भी भाग की क्षति समझी जाती है। विचारना, मानसता यह काम विशेष कर मस्तिष्क ही का है। अतएव मनोविज्ञानी त्रुटियाँ मस्तिष्क के क्षति ही का परिणाम होती हैं। मस्तिष्क के क्षत हो जाने से मस्तिष्क दुष्कार्यता या दुष्क्रिया (dysfunction) उत्पन्न होती है जिसका फल मानसमन्दता तथा सभी प्रकार के मानसदोष होते हैं।

मस्तिष्क क्षति अत्यल्प (very mild) से लेकर अतिगंभीर तक हो सकती है। अतिगंभीर क्षति वाले व्यक्ति सहज ही में पहचाने जाते हैं। अत्यल्प क्षति वालों को पहचानना कठिन होता है। कुछ जीवन पर्यन्त नहीं

पहचाने जाते। उनमें असाधारणता इतनी वेमालूम होती है कि उनको सामान्य व्यक्तियों से भिन्न करना असम्भव होता है।

मस्तिष्क की क्षति कई प्रकार से हो सकती है तथा कई प्रकार की हो सकती है। वह जन्मजात या प्रसवकालिक हो सकती हैं तथा प्रसवोत्तर (neo-natal, postnatal) हो सकती है। इनका विचार मानसमन्दता के कारणों के साथ किया जा चुका है।

जन्मजात में कुछ ऐसी क्षति होती है जिनमें मस्तिष्क के किसी भाग का परिवर्धन नहीं होता अथवा कम होता है। इस कारण उस भाग से सम्वोधक क्रिया नहीं होती अथवा विकृत रूप में होती है। कुछ जन्मजात क्षतियों में मस्तिष्क के परिवर्धन में कोई दोष नहीं होता। मस्तिष्क सब प्रकार से पूर्ण और सामान्य होता है, तो भी बालक के व्यवहार में विकार होता है। ऐसी क्षतियाँ प्रायः जननिक (genetic) होती हैं, जीनों (genes) की दुर्व्यवस्था के कारण उत्पन्न होती हैं।

पुस्तक में इस विषय पर, मानसमन्दता के सम्बन्ध में बहुत विचार किया गया है और यहाँ तक पुस्तक को पढ़ने के पश्चात इस विषय का उपयुक्त ज्ञान हो जाना चाहिए, उसकी पुनरावृत्ति से कोई लाभ नहीं है।

८. शारीरिक विकलांग बालक
(Orthopedic handicapped child)

इससे प्रयोजन उन बालकों से है जिनके शरीर के किसी अंग में त्रुटि होती है जिसके कारण वह उस अंग का उपयोग नहीं कर सकता। त्रुटि जन्मजात हो सकती है अथवा दुर्घटनाओं या रोग का परिणाम हो सकती है। कुछ व्यक्तियों में एक बाहु का उपयुक्त परिवर्धन नहीं होता। जन्म ही से हाथ विकृत होता है। ऐसे भी व्यक्ति देखे जाते हैं जिनमें दोनों बाँहें परिर्वाधित नहीं होतीं; उनके स्थान में हाथ के समान आकृति के कुछ अवशिष्ट अंग (rudiments) लगे होते हैं जिनका कोई उपयोग नहीं किया जा सकता। लेखक के देखने में एक ऐसी स्त्री आई जिसकी दोनों बाँहें और हाथ नहीं बने थे। शेष सारा शरीर सामान्य था। वह अपने पावों से सब काम करती थी। पावों ही से स्टोव जला कर अपना भोजन तैयार करती थी, चाय बनाती थी, आदि।

सभी अंगों की ऐसी विकलांगताएँ जन्मजात, परिवर्धन की त्रुटि के कारण उत्पन्न होती हैं। उपार्जित (acquired) विकलांगताओं की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ ही रही है। ज्यों-ज्यों देशों की औद्योगिक उन्नति होती है त्यों-त्यों

दुर्घटनाओं की संख्या बढ़ती है जिनके फलस्वरूप विकलांगता की संख्याएं वृद्धि होती है। मोटर की दुर्घटनाएँ नित्य प्रति की घटनाएँ हैं क्योंकि यातायात की शीघ्रता की स्पर्धा के घटने की संभावना नहीं है। कितने ऐसे व्यक्ति देखे जाते हैं जिनके निचले दोनों अंग मोटर या कारखानों में मशीनों की दुर्घटनाओं से पृष्ठवंश (vertebral column) के कुचल जाने से स्तंभित (paralysed) हो गये हैं और वे चलने-फिरने में जन्मभर के लिये असमर्थ हो गये हैं। उनको आजन्म पहियों वाली कुर्सी (wheelchair) पर ही बिताना होता है। एक या दोनों ओर के अंगों या बाहुओं से हीन तो कितने व्यक्ति मिलते हैं और इसमें सन्देह नहीं है कि ऐसे व्यक्तियों की संख्या बढ़ती ही जायगी।

किन्तु समाज को उनको जीवनोपार्जन करने योग्य बनाना ही होगा। उसका कर्त्तव्य है कि वह उनको इस योग्य कर दे कि वे समाज पर भार न रहें जिसके लिए उपयुक्त शिक्षा और जिस व्यवसाय को वे कर सकें उसका प्रशिक्षण आवश्यक है। शिक्षक समिति का यह काम है कि वह विकलाङ्ग बालक या प्रौढ़ की योग्यता का मूल्याङ्कन करे और तदनुसार उनके लिए योजना बनायें।

९. प्रतिभाशाली बालक (Gifted child)

जैसे मानसिक अथवा शारीरिक विकारों या विकृतियों युक्त बालक असाधारण है उसी प्रकार अतिप्रखर बुद्धि वाले बालक की भी गणना असाधारणों में की जाती है। विकारयुक्त बालक जैसे सामान्य बालकों से नीचे है, अवसामान्य (subnormals) है, वैसे ही प्रतिभाशाली बालक सामान्यों से ऊपर अधिसामान्य है। इसी विचार से एक विद्वान ने उनको super-normal कहा है।

प्रतिभाशाली की व्याख्या कठिन है। साधारणतया प्रतिभाशाली उनको कहा जाता है जो सभी प्रकार विद्याग्रहण में प्रखर, या तीव्र हों, उच्च योग्यता दर्शाते हों, कक्षा में सदा न केवल प्रथम पद प्राप्त करते हों, वरन् परीक्षाओं में अन्यों से कहीं अधिक नम्बर प्राप्त करते हों, व्युत्पन्न-मति हों, समस्या को हल करने में तत्काल उचित उपाय सोच पाते हों। ऐसे बालकों का IQ 130 से ऊपर होता है, 180 से भी अधिक IQ वाले बालक या व्यक्ति पाये जाते हैं। इनको talented कहा जाता है।

अनेक विद्वानों ने ऐसे बालकों की प्रतिभा नापने के लिये उनके गुणों की लम्बी-लम्बी सूची तैयार की है जिनके अनुसार बालक की परीक्षा करके

उनकी बुद्धिमत्ता जान कर उनको इस श्रेणी में रखा जाता है। सामान्यतया प्रत्येक शिक्षक अपने विद्यार्थियों की योग्यता थोड़े ही समय में जान लेता है। वह अनुमान कर लेता है कि अमुक विद्यार्थी की इतनी योग्यता है। विशेष योग्यता वाले विद्यार्थी उसकी दृष्टि में आ जाते हैं। तो भी परीक्षाओं द्वारा ही उनकी योग्यता का निर्णय हो सकता है।

प्रतिभाशाली बालकों की शिक्षा

जिस प्रकार मानसमन्दों तथा अवसामान्यों की शिक्षा के लिये विशेष योजनाएँ बनानी होती हैं उसी प्रकार अधिसामान्यों या प्रतिभाशाली बालकों की भी विशेष शिक्षा के प्रबन्ध की आवश्यकता है। ऐसे बालकों की शिक्षा ग्रहण करने की, सीखने की गति, सामान्य की अपेक्षा, तीव्र होती है। वे थोड़े ही समय में सामान्यों की अपेक्षा अधिक सीख लेते हैं। प्रश्नों को, समस्याओं को हल करने में उनको अल्प समय लगता है। सामान्य के साथ एक ही क्रम में पड़ जाने से उनका समय नष्ट होता है।

फिर इन्ही बालकों से आशा की जाती है कि वे जाति, देश, समाज की उन्नति के कारण होंगे। नेता, शासक, उद्योगों के प्रबन्ध कर्ता, आविष्कार कर्ता, विज्ञानों में प्रगति करने वाले, उत्तम चिकित्सक, इञ्जीनियर आदि व्यवसायों के विशेषज्ञ इन्ही बालकों में से आयेंगे। इन कारणों से इस श्रेणी के बालकों की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

संसार के प्रायः सभी देशों में इस ओर प्रयत्न किये जा रहे हैं। हमारे देश ने भी जो बालक विशेष प्रगति के चिह्न प्रकट करते हैं अपनी कक्षा में सदा अत्युच्च पद प्राप्त करते हैं तथा किसी विशेष दिशा में असाधारण कल्पना और योग्यता का परिचय देते हैं उनको शिक्षा विभाग की ओर से विशेष पुरस्कार प्रदान करने का तथा विशेष संस्थाओं में भेज कर उनकी शिक्षा का प्रबन्ध किया जाता है। ये talent scholarship कहे जाते हैं। जूनियर और सीनियर दो प्रकार की ये विशेष योग्यता प्राप्ति के लिये योजनायें बनाई गई हैं। एक स्कूल के बालकों के लिये और दूसरी कालेजों की उच्च कक्षाओं के लिये। कुछ पुरस्कार या छात्र वृत्तियाँ राज्यों (states, प्रदेश) की ओर से दी जाती हैं और कुछ केन्द्रीय सरकार के मन्त्रालय (central ministry of education) की ओर से प्रदान की जाती हैं। इन सब का उद्देश्य विशेष योग्यता वाले बालकों को सब प्रकार से सहायता देकर उनकी क्रियात्मक प्रतिभा का विकास करना है।

पाठ्यचर्या—शिक्षा की पाठ्यचर्या का विधान करना शिक्षा-विशेषज्ञों का काम है। अतएव प्रतिभाशाली वालकों के लिये भी वे ही पाठ्यचर्या बनाते हैं। यहाँ कहने का प्रयोजन केवल इतना ही है कि जिस प्रकार सामान्य स्तर से निम्न बुद्धिस्तर वालों के लिये, अवसामान्य या subnormals के लिये विशेप प्रकार की पाठ्यचर्या बनाना आवश्यक होता है, वैसे ही सामान्य के ऊपर के उच्चस्तरों वाले अधिसामान्यों या supernormals के लिये भी विशेष पाठ्यचर्या बनाना भी आवश्यक है। यद्यपि कुछ लोग इसके विरुद्ध भी है किन्तु उनके द्वारा प्रस्तुत आपत्तियों में कोई सार नहीं है। इन वालकों को सामान्यों के साथ रखकर उनका समय नष्ट करना जिससे जातीय आर्थिक हानि और जन शक्ति का अपव्यय दोनों ही होते हैं, एक अपराध है।

जो असाधारणतायें इस परिच्छेद में गिनाई गई हैं उनके अतिरिक्त कुछ अन्य भी ऐसी दशायें है जिनसे ग्रस्त वालकों की शिक्षा के लिये भी विशेष प्रवन्ध करना आवश्यक होता है।

१. रोग, अशक्तता, हृदय के रोगों से ग्रस्त वालकों का या जो कुछ परिवर्धन दोषों के कारण अशक्त होते हैं उनकी शिक्षा का प्रंवन्ध घर ही पर करना होता है।

२. संस्कृति हीन या पृथक संस्कृति वाले परिवारों से आने वाले वालकों की शिक्षा का भी विशेष प्रवन्ध करना आवश्यक है।

३. कुछ वालक शिक्षा ग्रहण करने में अधिक समय लेते हैं। इनको slow learners या backward children, पिछड़े बालक कहा जाता है। ये मन्दमानस नहीं होते। यद्यपि वे तीव्र बुद्धि नहीं होते, किन्तु मन्दता की श्रेणी में भी नहीं गिने जाते। इनका IQ ८५ से ऊपर ही होता है। बालक की प्रगति के लिये सुरक्षा (security) का भाव बहुत आवश्यक है। ये बालक अपने को सुरक्षित नहीं समझते जिसका कारण पारिवारिक कलह हो सकता है। ऐसे बालकों को सहायता की आवश्यकता होती है। शिक्षक को इन पर दृष्टि रखना उचित है।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

वयस्क मानसमन्द और समाज

(Retarded Adult and Society)

मानसमन्द वाल्यावस्था में ६ से ८ वर्ष की वय में स्कूल में भरती होता है। तब से उसकी शिक्षा प्रारम्भ होती है। पूर्ण मूल्यांकन के पश्चात उसकी शिक्षा का आयोजन किया जाता है। उसकी योग्यता या ग्राहक सामर्थ्य को जाँच कर उसके लिये पाठ्यचर्या वनाई जाती है और अनेक प्रकार की योजनाओं और उपायों द्वारा कम से कम १२ वर्ष तक उसका शिक्षा क्रम तथा प्रशिक्षण कार्य चलता रहता है। तव १८ वर्ष की आयु में स्कूल की शिक्षा समाप्त करके वह ससाज में प्रवेश करता है। जव वह स्कूल में आया था तब वह बालक था। धीरे-धीरे वढ़ कर अब वह वयस्क या प्रौढ़ हो गया है। अब तक उसमें भले बुरे को समझने की बुद्धि आ जाने की आशा की जाती है। समाज में उसको कैसे रहना होगा, किस प्रकार वह जीवनोपार्जन करेगा, कहाँ रहेगा, परिवार में, समाज में, कार्य क्षेत्र में अपने सहकारियों से कैसे व्यवहार करेगा, इन सव को समझने की योग्यता उसमें आ ही गई होगी, यह मान लिया जाता है। शिक्षा का यही उद्देश्य था। यही समाजानुकूलता (social adaptation) कहलाती है। इसी पर उसका भावी जीवन निर्भर करता है। यहाँ हमें उसके भावी जीवन का ही विचार करना है। उसके भावी जीवन की कौन आवश्यकताएँ हैं। किस प्रकार उनकी पूर्ति होगी।

इस सम्वन्ध में एक विद्वान ने दो उदाहरण दिये हैं जिनका उल्लेख समस्या पर प्रकाश डालना है। दो व्यक्ति हैं, एक पुरुषोत्तम और दूसरा श्याम लाल। दोनों ६ वर्ष की अवस्था में स्कूल में भरती हुए। दोनों के I. Q. ७६ थे और आज भी ७६ से ७८ तक हैं। अब वे १८ वर्ष के हैं और स्कूल से पास करके जाने वाले हैं। कुछ समय पश्चात दोनों पास करके अपने अपने परिवारों को लौट जाते हैं। पुरुषोत्तम और श्याम लाल दोनों ही अपने माता-पिता, भाई बहिन तथा अन्य सम्वन्धियों से स्नेह करते हैं।

शिक्षा काल में पुरुषोत्तम के कई सहपाठी उसके मित्र बन गये। अब भी वे उससे जव तब मिलते रहते हैं और वह भी उनके साथ स्नेह का

व्यवहार करता है। पुरुषोत्तम को उसके घर के पास ही एक कारखाने में एक काम मिल गया है। वहाँ भी वह अपने साथ काम करने वालों के साथ मेल-जोल करता है। सभी उसके व्यवहार से सन्तुष्ट हैं। कारखाने में मालिक ने भी उसके काम और व्यवहार से प्रसन्न होकर वेतन वृद्धि दी है। इससे घरवाले भी सन्तुष्ट हैं और पुरुषोत्तम सुखी जीवन व्यतीत कर रहा है।

श्याम लाल को भी घर के पास ही एक दुकान में काम मिल गया। किन्तु दो मास पश्चात ही उसको काम से छुट्टी मिल गई। इस काल में उसके साथ काम करने वालों से कई बार झगड़ा हुआ। जो उसका निरीक्षक (supervisor) था, उसका तत्काल अधिकारी था, जिसके नीचे वह काम करता था, उससे भी दो या तीन अवसरों पर कहा-सुनी हुई। अन्त में दुकान के मालिक को उसे बरखास्त करना पड़ा।

तत्पश्चात् सामाजिक कार्यकर्ता ने फिर उसे पास के ही बड़े भवन में, जिसमें कई दफ्तर थे, सफाई का काम दिलवाया। जो मुख्य जैनिटर (janitor) था उसकी सहायता के लिये उसे रखा गया। वहाँ भी उसने जैनिटर से झगड़ा किया जिससे उसकी नियुक्ति समाप्त हो गई। फिर भी सामाजिक कार्यकर्ता ने एक अन्य स्थान पर काम दिलाया, किन्तु वह वहाँ भी न निभा सका। उसके लड़ने-झगड़ने के स्वभाव के कारण वहाँ से भी हटना पड़ा। श्याम लाल अपने स्वभाव के कारण स्कूल में भी कोई मित्र न बना सका।

दोनों मानसमन्द हैं, दोनों के IQ समान हैं, शिक्षा भी समान है, किन्तु एक जीवन में सफल है, दूसरा असफल है। एक में समाज अनुकूलन (social adaptation) का गुण है, दूसरा इस गुण से वंचित है। यह अनुकूलन व्यवहार (adaptive behavior) कहलाता है। अमरीका के चिकित्सक संघ (AAMD) ने मानसमन्दता की जो व्याख्या की है उसमें अनुकूलन व्यवहार की त्रुटि को मानसमन्दता का प्रधान लक्षण माना है।

ऊपर उल्लिखित उदाहरण केवल कल्पित नहीं है। नित्य प्रति ऐसे अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। ऐसे उदाहरणों से यह प्रमाणित होता है कि मानसमन्दों में भी बहुत विभिन्नता पाई जाती है तथा IQ मानसमन्दों की विशेष त्रुटि को प्रकट नहीं कर सकता। प्रत्येक मानसमन्द की त्रुटि विशेष होती है, उसकी आवश्यकताएँ भिन्न होती हैं और उनकी पूर्ति के लिये पृथक-पृथक् योजनाएँ करनी पड़ती हैं।

अनुकूलन व्यवहार की त्रुटि या ह्रास (impairment of adaptive behavior) की उपयुक्त व्याख्या करना बहुत कठिन है। AAMD की व्याख्या यह है : 'निष्पादन (performance) जो उस वय के सामान्य बालकों के निष्पादन से 'एक मानक विचलन' (one standard deviation) कम हो' (तीसरे और चौथे परिच्छेदों को देखो) यह व्याख्या मनोविज्ञानियों द्वारा क्रियात्मक परीक्षणों के लिये है जो वाइनलैण्ड के सामाजिक परिपक्वता स्केल के अनुसार परीक्षाओं से इस त्रुटि का अनुमान कर सकते हैं।

जीवन में सफलता के लिये यह गुण अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि मानसमन्दों में इसकी अल्पता होती है तो भी उस पर विशेष ध्यान देने से उसका विकास संभव है। यह भली-भाँति प्रमाणित हो चुका है कि मन्दों में गुप्त शक्तियाँ (विभव, शक्यता, संभाव्यता potential) होती हैं जिनको पहचान कर प्रकट किया जा सकता है और उनको सामाजिक निपुणता प्राप्त करने में, उचित शिक्षा आयोजनों द्वारा, सफल सहायता दी जा सकती है। मन्दों की समस्त शिक्षा प्रणाली इसी सिद्धान्त पर आधारित है। इसी प्रकार समाज में जो मन्द वयस्क हैं उनको भी सहायता देकर उपयुक्त नागरिक बनाना सम्भव है। अमरीका के vocational rehabilitational centre की ओर से प्रकाशित रिपोर्ट में अधिकारियों को सूचित किया गया कि 'सन् १९६३ में ७००० मानसमन्दों को पुनः स्थापित (rehabilitated) किया गया। उस समय तक कुल १२५००० मन्दों का पुनः स्थापन किया जा चुका था।' "......पुनःस्थापित व्यक्तियों में से द्वि-तृतीयांश २० वर्ष से कम की वय के थे। पुनः स्थापन सेवाओं के प्राप्त करने से पूर्व ७५ प्रतिशत मन्द जीवन निर्वाह के लिये अपने परिवार तथा मित्रों की सहायता पर निर्भर करते थे। १७ प्रतिशत को कल्याण विभाग (welfare department) से रूपया मिलता था। प्रायः ९० प्रतिशत जीवनोपार्जन से वंचित थे। पुनरुस्थापन के पश्चात यह संख्या घट कर १०% रह गई।"

यहाँ मानसमन्द वयस्कों की ओर विशेष ध्यान आकर्षित करने का हमारा प्रयोजन है कि समाज में ऐसे बहुत मानसमन्द हैं जिनकी शिक्षा या प्रशिक्षण नहीं हुआ है। जिनमें मन्दता कम है वे तो किसी प्रकार अपना पेट भर लेते हैं, किन्तु जो गम्भीर मानसमन्द हैं वे अनाथ की भाँति माँगते फिरते हैं। न पेट भरने को अन्न मिलता है, न रहने को स्थान है

न उनकी कोई सुध लेने वाला है। सड़कों पर, गली-कूचों में पड़े-पड़े अपनी जीवन लीला समाप्त कर देते हैं।

ऐसे मन्द वयस्कों पर भी उतना ही ध्यान देना उचित है जितना मन्द बालकों पर; फिर जो मन्द बालक शिक्षित होकर संस्थाओं से आते हैं उनको भी सहायता की आवश्यकता होती है।

इस परिच्छेद में हम मन्द वयस्कों ही का विचार करना चाहते हैं। उनकी आवश्यकतायें मन्द बालकों से भिन्न होती हैं, उनकी शिक्षा या प्रशिक्षण में इतना समय नहीं लगाया जा सकता है। उनकी आवश्यकतायें तात्कालिक हैं। इस कारण उनका प्रशिक्षण भी उसी प्रकार करना होगा किन्तु उनकी आवश्यकताओं की किसी न किसी प्रकार पूर्ति करना समाज का उत्तर-दायित्व है।

मानसमन्द वयस्कों की आवश्यकताएँ

आवश्यक सहायता पहुँचाने के लिये प्रथम यह जानना उचित है कि उनकी कौन सी आवश्यकताएँ हैं। उसके पश्चात् ही यह विचार सम्भव है कि समाज किस प्रकार उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है।

मन्दवयस्कों की वही आवश्यकताएं हैं जो प्रत्येक मनुष्य की होती हैं, सामान्य जनता की हो सकती हैं। उनको भी साधारण मनुष्य की भाँति जीवित रहना है। survival प्रकृति का नियम है, जिसके लिये प्रथम आवश्यकता भोजन, आहार, शरीर पोषण प्राप्ति है। फिर निवास स्थान रहने के लिये अर्थात सुरक्षा चाहिये। वस्त्र भी शरीर को ढँकने, उसकी सुरक्षा के लिये तीसरी आवश्यकता है। स्वास्थ्य रक्षा (चिकित्सा द्वारा), शिक्षा, मानसिक सम्पूर्णता आदि मानसिक स्वास्थ्य के विकास के लिये मानवीय आवश्यकताएँ हैं। मानसिक विकास ही मनुष्य को मनुष्यता प्रदान करता है, पशु से पृथक करता है। अत एव इन आवश्यकताओं की दो श्रेणियाँ हैं, एक शारीरिक (physical या physiological) और दूसरी मानसिक (psychological)। मानसमन्दों के लिए भी ये सब आवश्यक हैं। सन्तानोत्पत्ति (reproduction) एक ऐसी शारीरिक आवश्यकता है जिसको प्रकृति ने प्राणी मात्र में अन्तर्निहित कर दिया है। स्थावर जंगम सभी, जिनकी जीवित वर्ग में गणना की जा सकती है, इस प्रवृत्ति से ओतप्रोत हैं। मानसमन्द भी इस आवश्यकता को प्रतीत करते हैं।

मनुष्य सामाजिक जीव है। उसके अस्तित्व ही के लिये सामाजिक जीवन आवश्यक है। सामाजिक संगठन के बिना वह उन सब सुविधाओं से

वंचित हो जायगा जो सामाजिक सहयोग के फलस्वरूप उसको प्राप्त हैं और उसके जीवन का आधार बन गई हैं।

सामाजिक जीवन का अर्थ है सहयोग—आपस में मिल कर काम करना, एक दूसरे के प्रति सद्भाव, स्नेह, मैत्री, पारस्परिक सहायता की प्रवृत्ति, त्याग की क्षमता, दूसरों के लिये अपने स्वार्थ का कुछ दान। ये सब मनुष्यता के उच्च गुण मानसिक विकास ही के फल होते हैं। मानस-मन्दों में यही विशेष त्रुटि होती है।

इन उच्च गुणों का और अर्थाभाव का विशेष सम्बन्ध है। एक कवि ने कहा है कि 'दारिद्य दोषो गुणाराशि नाशी', क्षीणाः जनाः निष्करुणा भवन्ति'। सो आर्थिक निपुणता के बिना सज्जन के भी गुण क्षीण हो जाते हैं। उसका अस्तित्व ही संकट में पड़ जाता है। इसी कारण मानसमन्दों की शिक्षा का प्रथम उद्देश्य जीवनोपर्जन क्षमता, आर्थिक स्वतन्त्रता (economic independence) रखा गया है। इसके लिये भी सामाजिक सहयोगिता या समायोजन (social adjustment) आवश्यक है।

मानसमन्द में स्वाभाविक त्रुटि होने के कारण इन सब योग्यताओं का अभाव होता है। इन गुणों का विकास ही मानसमन्द की शिक्षा का उद्देश्य है जिसका गत परिच्छेदों में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। जीवनोपार्जन योग्य बनाने ही के लिये उसको व्यवसाय अथवा उद्योग की शिक्षा का प्रस्ताव किया गया है।

वयस्क मानसमन्दों की तीन श्रेणियाँ

जिनको पहले तीव्र (severe or profound), मृदु (moderate) और अल्प (mild) मानसमन्द कहा जाता था उनको अब न्यूनतम योग्य (least able), अधिकतर योग्य (less able) और अधिकतम योग्य (more able) कहा जाता है। तो भी अनेक विद्वान पहले ही की नामावली का प्रयोग करते हैं। यह भी एक प्रकार से उन्नति का सूचक है। यह दर्शाता है कि अब मानसमन्दों में कुछ योग्यता होना स्वीकार किया जाने लगा है, चाहे वह कितनी ही हो।

अधिकतम योग्य मानसमन्दों का पुनःस्थापन

पुनः स्थापन (rehabilitation) का कार्यक्रम विशेषकर सन् १९२० से प्रचलित हुआ है। इसका उपयोग विशेषतया प्रथम विश्वयुद्ध से लौटे हुए आहत व्यक्तियों के लिये, जिनके हाथ-टाँग कट गई थी अथवा जिनकी किसी अन्य शारीरिक अंग की क्षति हो गई थी, उनके लिये किया गया था।

युद्ध में भाग लेने वाले देशों के सामने बड़ा प्रश्न था कि ऐसे व्यक्तियों के लिये क्या किया जाय कि वे जीवनोपार्जन योग्य हो जाँय।

अमरीका में सन् १९६५ में rehabilitation amendment act पास होने के पूर्व भी यह कार्यक्रम मानसमन्दों के उपयोग के लिये लागू कर दिया गया था। इसके अनुसार राष्ट्र की जितनी पुनःस्थापन सेवायें हैं वे उन मानसमन्दों को चुन कर उनकी शिक्षा तथा नियुक्ति प्राप्त कराने को बाध्य हैं जो छह मास के भीतर 'शिक्षा से लाभ उठाकर नियुक्ति के लिये उपयुक्त योग्यता प्राप्त करने के योग्य समझे जाँय'। इसके अनुसार प्रथम उनका मूल्यांकन किया जाय और यदि कोई मन्द नियुक्ति (gainful employment) पाने के अयोग्य समझा जाय तो उसको न चुना जाय। कुछ समय पश्चात् इसमें भी परिवर्तन किये गये और मूल्यांकन का समय १२ मास कर दिया गया। अब ये सेवायें सब ही मन्दों के लिये उपलब्ध हैं।

अतएव शिक्षा का प्रथम चरण मूल्यांकन है जिसकी विधियों का पहले ही सविस्तार वर्णन किया जा चुका है। तत्पश्चात् शिक्षा या प्रशिक्षण का काल आता है जिनका विचार गत परिच्छेदों में पूर्ण रूप से किया गया है। तव नियुक्ति प्राप्ति (obtaining a job) का प्रश्न उपस्थित होता है जिसको placement या नियोजन कहते हैं।

नियुक्ति प्राप्ति; नियोजन (Placement)

वहुत बार यह अभीष्ट प्राप्त शिक्षा से भी कठिन होता है। सरकारी सेवाओं में नियुक्ति इसके लिये अति अपेक्षित होती है। व्यावसायिक परामर्श-दाता (vocational counsellor) का यही विशेष कार्य है जिसके लिये उसको न केवल प्रार्थी मन्द व्यक्ति के सम्बन्ध में पूर्ण बोध होना आवश्यक है, उसको उद्योगों, व्यवसायों, सरकारी दफ्तरों अथवा अन्य संस्थाओं का, जो भी कार्यकर्ताओं की नियुक्तियाँ करती हों, उनके साथ सम्पर्क रखना होता है और उसके द्वारा भेजे हुये व्यक्तियों को नियुक्त करने के लिये सहमत करना होता है। यह उसी का काम है कि भिन्न-भिन्न उद्योग पतियों, दफ्तरों के मैनेजरों और संचालकों में विश्वास उत्पन्न कर सके कि योग्य मानसमन्द उसी प्रकार सफलतापूर्वक काम कर सकते हैं जैसे सामान्य व्यक्ति करते हैं, किसी-किसी गुण में वे उनसे भी अधिक उपयोगी और सहायक होते हैं। यह वही कर सकता है जो स्वयं मानसमन्दों की शिक्षा द्वारा प्रगति में विश्वास करता हो और जिसने उनकी सहायता करना अपना मुख्य ध्येय बना लिया हो। व्यावसायिक परामर्शदाता (vocational counsellors) का यही काम

है। प्रत्येक संस्था में, मानसमन्दों के वर्कशॉपों में तथा कारखानों में ऐसे कर्मचारी होने चाहिये जो मानसमन्दों के सम्पर्क में रहें। मानसमन्दों को काम दिलाने के लिये सरकार की ओर से विशेष प्रयत्न किये जाने चाहिये। तब यह जातीय समस्या कुछ सुलझ सकती है।

जिस व्यक्ति को नियुक्ति दिलाने में परामर्शदाता या संस्था को सफलता मिलती है, उनका यह भी कर्तव्य है, उस व्यक्ति से सम्पर्क रखना भी परामर्शदाता का काम है। वह यह देखता रहे कि वह कैसा काम कर रहा है। उसके काम में कोई त्रुटि तो नहीं है, उसके उच्च अधिकारीगण, मैनेजर, संचालक व्यक्ति के काम से सन्तुष्ट हैं या नहीं। व्यक्ति के काम में यदि कुछ दोष हों तो उसके सुधार के प्रयत्न किये जाँय। उसके सुधार में वर्कशॉपों से कितना लाभ होता है इसका पहले ही वर्णन किया जा चुका है।

नीचे के दो तीन उदाहरणों से त्रुटि ग्रस्त व्यक्तियों को कितना और किस प्रकार लाभ पहुँचाया जा सकता है यह स्पष्ट है। ये उदाहरण वास्तविक घटनाएँ हैं, केवल नाम वदल दिये गये हैं। हैं विदेशों ही के।

१. युवती ए—१६ वर्ष छह मास वय की व्यावसायिक समायोजन केन्द्र (vocational adjustment centre) में भरती हुई। उसका IQ ६२ से ७३ तक पाया गया। किन्डरगार्टन के पश्चात् उसको ऐसी कक्षा में रखा गया था जहाँ वालक अपने सामर्थ्यानुसार शिक्षा प्राप्त करते हैं। केन्द्र में भरती के पश्चात् उसकी प्रगति की रिपोर्टों में उसको सदा समायोजन क्रियाओं (adjustment) में प्रयत्नशील, उचित व्यवहार वाली तथा शिक्षकों को सन्तुष्ट करने वाली बताया गया। माता, पिता, भाई भी स्नेह करने वाले थे।

केन्द्र में १६ मास के प्रशिक्षण के पश्चात् उसको एक संस्था में काम दिलाया गया जहाँ उसको काम की योग्यता-सम्पन्न और सामान्य से अधिक काम करनेवाली पाया गया। किन्तु उसको विकर्षणीय (distractible) पाया गया; अर्थात् शीघ्र ही मन उचाट हो जाने वाली पाया गया। वह बार-बार अन्य काम करने वाले युवकों और युवतियों से बातें करने लग जाती थी जिससे उसका काम रुक जाता था। इससे उत्पादन (production) की कमी हो जाती थी जिससे आर्थिक हानि होती थी। बार-बार परामर्शदाताओं के प्रयत्नों से इन दोषों में कुछ समय पश्चात् बहुत सुधार हो गया।

इसके पश्चात् उसको दो और काम मिले। किन्तु दोनों में अल्पकाल पश्चात् ही उसकी छुट्टी हो गई क्योंकि उसका काम बहुत धीमा (slow)

पाया गया। उसे फिर एक और काम दिलाया गया। उसकी परामर्श भी जारी रही। परामर्शदाता की अन्तिम रिपोर्ट थी कि युवती ए···भली प्रकार काम कर रही है। उसकी काम करने की आदतें और व्यवहार दोनों में उन्नति हुई है। वह अपने काम से सन्तुष्ट है और उसके अधिकारियों को उसकी ओर से पूर्ण सन्तोष है।

युवती ए···के सम्बन्ध में परामर्शदाता का सतत् प्रयत्न युवती की त्रुटियों को मिटाने में विशेष सहायक प्रमाणित हुआ।

२. युवक गै···१८ वर्ष का युवक अल्प मानसमन्द है जिसके भाषण में (speech) विशेष त्रुटि है। उसकी संज्ञापन (communication) और बोधन (comprehension) शक्तियाँ भी अल्प हैं और शब्द भंडार भी विशेष परिमित है, I Q ७८ है। किन्तु उसकी काम करने की आदतें—समय से काम पर जाना, सहयोगियों के साथ मिलकर रहना, तथा काम करने की प्रवृत्ति उत्तम हैं। उसको नियुक्ति के लिये स्वीकार कर लिया गया है किन्तु भाषण चिकित्सा (speech) विभाग में कुछ समय तक शिक्षा पाने का प्रस्ताव किया गया है। शिक्षा प्राप्त करने पर उसके दोष बहुत कुछ सुधर गये हैं। संज्ञापन और बोधन दोनों में उन्नति हुई है। अब उसको एक कारखाने में स्थिर रूप से काम मिल गया है और उपयुक्त पारिश्रमिक पाने से वह सन्तुष्ट और सुखी जीवन व्यतीत कर रहा है।

इसी प्रकार के अनेक उदाहरणों से इस विषय का साहित्य भरा हुआ है जो उपयुक्त और सतत् प्रयत्नों द्वारा मन्द युवकों को समाज में पुनःस्थापित करने के सफल प्रमाण हैं।

३. ऐसा ही यह तीसरा उदाहरण युवती ई···का है। १९ वर्ष की युवती ई···मानसमन्दता के कारण उसको स्कूल में भरती करने पर उसे टाइप करने के शिक्षा विभाग में भेजा गया। पर वह बेचैन, विकर्षणीय (उचाटमन–distractible) और अभिप्रेरणाहीन (lack of motivation) पाई गई। उसका काम में मन न लगता था, टाइप करने में उसकी रुचि नहीं थी। कुछ समय तक इस दशा को देखकर उसको टाइपिंग विभाग से हटा लिया गया। उसको बैंक (banking) के काम के शिक्षा विभाग में भेजा गया जहाँ उसकी शिक्षा भी होती थी और उसको कुछ पारिश्रमिक भी मिलता था। इस विभाग में आते ही उसकी दशा उन्नत हो गई। विकर्षणता तथा अभिप्रेरणाहीनता दूर हो गई। वह मन लगाकर काम करने लगी। बैंकिंग के सभी काम, उसने तत्परता से सीख लिया।

रूपया लेना, देना, पासबुक में भरना, अन्य खातों में लिखना, हिसाव का व्यौरा वनाना, ड्राफ्ट वनाना आदि सभी बैंक की क्रियाओं में उसने निपुणता प्राप्त कर ली। अतएव उसकी वैंक विभाग में स्थिर रूप से नियुक्ति हो गई और उसको अन्य कर्मचारियों के समान वेतन मिलने लगा। उसके व्यवहार में अतिसक्रियता (hyperactivity) आदि कुछ दोष थे वे भी परामर्श द्वारा बहुत सुधर गये। अब वह सामान्य व्यक्तियों के समान सन्तुष्ट और सुखी जीवन व्यतीत कर रही है।

यह उदाहरण इसका प्रमाण है कि मानसमन्दों में कोई न कोई योग्यता होती है; एक ही नहीं, कई दिशाओं में योग्यतायें हो सकती हैं, जिनके विकास से उनका जीवन-सुधार सम्भव है।

अधिकतम योग्य मानसमन्द वयस्कों के पुनः स्थापन में वर्कशॉप (उद्योगालयों) का उपयोग

इन वर्कशॉपों[1] का मानसमन्द वालकों की शिक्षा के सम्वन्ध में उल्लेख किया गया है। लघुकालिक वर्कशॉपों में थोड़े समय तक प्रशिक्षण के पश्चात् व्यक्ति को अपने काम पर या नियुक्ति के लिये भेज दिया जाता है। दीर्घकालिक वर्कशॉप में 'दीर्घकाल' व्यक्ति के जीवनपर्यन्त विस्तृत हो सकता है जव अतिमन्द के जीवनार्थ उसके जीवनोपार्जन के लिये वर्कशॉप की कुछ योजना वनानी होती है और बहुधा स्वयं वर्कशॉप को मन्द के लिये अर्थोपार्जन करना होता है।

ये वर्कशॉप एक प्रकार के कार्यक्रम होते है जहाँ मन्दों के लिये सभी प्रकार की सुविधायें या सेवायें उपलब्ध होती हैं। कार्य मूल्याङ्कन, व्यावसायिक प्रशिक्षण, उपबोधन या मार्गदर्शन, नियुक्ति प्राप्ति या नियोजन सम्बन्धी उपबोधन सम्बन्धी सेवा आदि का वे लाभ उठा सकते हैं। योग्यतम मन्दों के लिये लघुकालिक वर्कशॉप बहुत उपयोगी पाये गये हैं। इनके द्वारा बहुत योग्य मन्द वयस्कों का पुनः स्थापन हो चुका है जैसा vocational rehabilitation centre की रिपोर्ट से स्पष्ट है। अधिकतर योग्य और न्यूनतम मन्दों के लिये भी ये वर्कशॉप बहुत लाभदायक प्रमाणित हुए हैं। इनके सम्वन्ध में भी उनका उल्लेख आगे चलकर किया जायगा।

---

१. ये आश्रित वर्कशॉप (sheltered workshops), पुनःस्थापन (rehabilitation) वर्कशॉप, उद्योग प्रशिक्षण (work training centres) केन्द्र, व्यावसायिक केन्द्र (Occupational centres) भी कहे जाते हैं।

२. अधिकतर योग्य वयस्क मानसमन्दों का पुनः स्थापन
(Less able retarded adults)

वयस्क मानसमन्दों के सम्बन्ध में पुनः स्थापन का शब्द कुछ भ्रमात्मक है। पुनः स्थापन का वास्तव में अर्थ है विकृत दशा को दूर करके उसको पुनः उसकी स्वाभाविक सहज अवस्था को प्राप्त कराना। मानसमन्दों के पुनः स्थापन का प्रयोजन है उनकी आवश्यक उपयुक्त शिक्षा के पश्चात उनको समाज का एक उपयोगी अंग बना देना जिसके लिये आर्थिक स्वतन्त्रता आवश्यक है। अत एव उस वयस्क का नियुक्ति पा लेना, जिसको लाभदायक नियोजन या व्यवसाय (gainful employment) कहा जाता है, उसका पुनः स्थापन है।

किन्तु अधिकतर योग्य (less able) अथवा योग्य मानसमन्दों में यह सम्भव नहीं है। अधिकतर योग्य मानसमन्दों को जीवनोपार्जन में सहायता देनी पड़ती है। कई ऐसे आयोजन करने पड़ते हैं जिससे मानसमन्दों के लिये स्वयं जीवनोपार्जन करके उन मानसमन्दों को दिया जाता है। मानसमन्द को आधारी कौशलों की शिक्षा देने के पश्चात उनको कोई सामान्य व्यावसायिक कौशल सिखाया जाता है जिसके द्वारा किसी उपयोगी पदार्थ का उत्पादन किया जा सके, जैसे साधारण खिलौने बनाना, मोमबत्ती तैयार करना, बिक्री की वस्तुओं को रखने के लिये डिब्बे बनाना, जिसे पैकेजिंग कहते हैं, बुनना जिससे वे बुनने की मशीनों पर मोजे, बनियाइन बुन सकें। इसी प्रकार के अनेक छोटे-छोटे व्यावसायिक कौशल उनको सिखाये जा सकते हैं। और तब इन मन्द वयस्कों से उन वस्तुओं का उत्पादन करवा कर उन वस्तुओं को बेच दिया जाता है और उससे उपार्जित राशि को इन मन्दों में पारिश्रमिक के रूप में बाँट दिया जाता है। यही इस श्रेणी के मन्द व्यक्तियों का पुनःस्थापन है।

दीर्घकालिक उद्योगशाला या वर्कशॉप

ये वर्कशॉप वास्तव में संस्थायें होती हैं जहाँ मानसमन्दों की शिक्षा भी होती है और भिन्न-भिन्न प्रकार के कौशलों का प्रशिक्षण भी होता है। प्रशिक्षण के पश्चात् जो स्वतन्त्र नियुक्ति पाने योग्य नहीं होते, व्यावसायिक संसार की नियुक्तिस्पर्धा (competition for employment) में सफल नहीं हो सकते, उनके जीवन निर्वाह के लिये अर्थोपार्जन का प्रबन्ध भी ये वर्कशॉप करते हैं। ऐसे वर्कशॉप **दीर्घकालिक** (long term workshops) कहलाते हैं। इन वर्कशॉपों की ओर से सभी प्रकार के अनेक

वर्कशॉपों में मूल्यांकन, आधारी कौशलों तथा व्यावसायिक कौशलों की शिक्षा तथा मनोरंजन, स्वास्थ्य सेवायें सभी का प्रवन्ध रहता है। और उसके पश्चात् अयोग्यों के लिये आवश्यक अर्थप्राप्ति का भी प्रबन्ध किया जाता है। कुछ वर्कशॉप केवल अयोग्यों के लिये उद्योगों द्वारा जीवननिर्वाह के लिये आर्थिक लाभ ही तक अपना कार्यक्षेत्र परिमित करते हैं। कुछ केवल व्यवसाय शिक्षा ही देते हैं। मनोरंजन या अन्य सामाजिक सेवायें उनके कार्यक्षेत्र के बाहर हैं।

दीर्घकालिक वर्कशॉप में व्यक्ति आजन्म नियोजित रह सकता है, यदि वह वर्कशॉप के बाहर काम पाने में सफल नहीं होता। लघु कालिक वर्कशॉप प्रायः व्यावसायिक शिक्षा से सम्बन्धित होते हैं जिसके पश्चात् व्यक्ति को वर्कशॉप छोड़ देना होता है।

दीर्घकालिक वर्कशॉप समय-समय पर आवश्यकतानुसार अपने कार्यक्रम में, मन्दों की शिक्षाविधि में, उचित या आवश्यक परिवर्तन कर सकते हैं और करते रहते हैं। मनोरंजन पर भी उचित ध्यान दिया जाता है। मन्दों में से जब किसी का जन्मदिवस होता है तो सब जन्मोत्सव मनाने में भाग लेते हैं। उसको उपहार दिये जाते हैं। कभी-कभी नृत्य या संगीत का भी आयोजन होता है।

एक और बात भी ध्यान देने योग्य है। वर्कशॉपों और शिक्षालयों के के सुधार (पुनः स्थापन) के प्रयत्नों से अनेक बार मानसमन्दों में इतनी मानसिक तथा व्यवहारात्मक उन्नति हो जाती है कि उनकी श्रेणी बदल जाती है। अधिकतर (less able) से वे अधिकतम योग्य (more able) हो जाते हैं और वर्कशॉप से बाहर जाकर नियुक्ति पाने में सफल होते हैं। कितने ही ऐसे व्यक्ति उच्च पदों पर पहुँच गये हैं और यथेष्ट वेतन पाकर समृद्ध सुखी जीवन व्यतीत कर रहे हैं। मानसमन्दों की शिक्षा के विरोधियों को मन्दों की शिक्षा में विश्वास दिलाने के लिये उनके उदाहरण अकाट्य प्रमाण हैं।

कुछ वर्कशॉप सभी श्रेणियों के मानसमन्दों को भरती कर लेते हैं— न्यूनतम योग्यों से लेकर अधिकतम योग्यों तक को। अन्य वर्कशॉप केवल एक विशेष श्रेणी के ही मानसमन्दों को लेते हैं।

न्यूनतम योग्य मानसमन्द (Least able retarded adults)

इन्हीं को तीव्र, गंभीर अथवा अतिमानसमन्द कहा जाता है। ये व्यक्ति किसी प्रकार का उत्पादन कार्य करने के अयोग्य होते हैं। वे किसी आर्थिक

लाभकारी कार्य में नहीं लगाये जा सकते। उनको आधारी कौशल—शारीरिक स्वच्छता, शौच, वस्त्र, स्नान, आहार आदि की व्यावहारिक शिक्षा की आवश्यकता होती है। वे किसी काम में भी अधिक समय तक संलग्न नहीं रखे जा सकते। अतएव उनकी जीवन भर देख-रेख करनी पड़ती है। अपरिपक्वता (immaturity) उनके प्रत्येक व्यवहार में पाई जाती है।

प्रायः उनका व्यवहार अल्पायु के बालकों के समान होता है। वे झुनझुनों, गुड़ियों, बजने वाले खिलौनों से खेलते रहेंगे। रंगीन पेंसिलों से कागज पर रेखायें खींचने, दूसरे व्यक्तियों पर जल फेंकने, धूल फेंकने, कागजों को फाड़ने, धातु के बर्तनों को लकड़ी, चम्मच या दूसरे बर्तन से मार कर शब्द उत्पन्न करने आदि से बड़े प्रसन्न होते हैं। ऐसे ही खेलों में वे घण्टों लगे रहते। वे जो कुछ कर रहे हों उससे उनको रोक देने पर रोने लगते हैं। छोटे बालकों की भाँति अपनी ओर ध्यान आकर्षित करने का व्यवहार उनकी क्रियाओं की विशेषता होता है।

कुछ व्यक्ति अतिसक्रिय (hyperactive) होते हैं। सदा कुछ न कुछ करते रहेंगे। एक स्थान पर शान्त होकर बैठना या कुछ करना, उनके स्वभाव के विरुद्ध होता है। निरन्तर घूमना और कुछ तोड़ना-फोड़ना उनकी विशेषता होती है। पहने हुए वस्त्र पर ही हाथ फेरते रहेंगे, कमरे की वस्तुओं को उठा-उठाकर दूसरे स्थानों पर रखते रहने की क्रिया ही में दीर्घकाल तक लगे रहेंगे।

इसके विरुद्ध कुछ बालकों में एक ही स्थान में उसी स्थिति में बहुत समय बैठे रहने की विशेषता होती है। उनकी सब क्रियायें असंगत होती हैं। देखने ही से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे जो कुछ कर रहे हैं वे बिना समझे हुए यन्त्र की भाँति कर रहे हैं।

बहुधा उनमें कोई न कोई त्रुटि भी होती है। दृष्टि और प्रेरक सक्रियता (motor activity) का समन्वय ठीक नहीं होता—किसी वस्तु को पकड़ने का प्रयत्न करने पर हाथ कहीं और ही पड़ता है, चलने में पाँव ठीक से नहीं पड़ते, चाल बेढङ्गी होती है। कहीं जाना चाहते हैं कहीं पहुँच जाते हैं। कुछ में शारीरिक विकार या रोग भी होते हैं। प्रमस्तिष्क संस्तम्भ (cerebral palsy), हृदय के विकार, श्रवण या भाषण त्रुटियाँ, अपस्मार ऐसे विकार बहुतों में पाये जाते हैं।

ऐसे वयस्क नित्यप्रति के सामान्य कार्यों को करने—मुख शोधन, वस्त्र पहनने, जूतों के तस्मों को बाँधने, आहार करने—में भी असमर्थ होते हैं। उनके लिये भी उनको किसी पर निर्भर रहना पड़ता है।

ऐसे अतिमन्द वयस्कों की आवश्यकताओं की पूर्ति कैसे की जाय ?

घर में इस प्रकार के व्यक्ति से कितनी अव्यवस्था हो सकती है इसका अनुमान किया जा सकता है। सबसे अधिक सहानुभूति और सहायता के पात्र उस व्यक्ति के माता-पिता होते हैं जो उसको छोड़ भी नहीं सकते और न उचित प्रकार से उसकी देखरेख ही कर सकते हैं। पिता को दिन में जीविकोपार्जन करने के लिये कुछ कार्य में अपना बहुत-सा समय विताना होता है। माता को घर का सभी काम—भोजन तैयार करना, घर की सफाई, अन्य वालकों को स्कूल के लिये तैयार करना, उनकी देखभाल, आहार सामग्री जुटाना, वस्त्र धोना, रखना उठाना—करना होता है। फिर मन्द वयस्क की समस्याओं की कोई सीमा ही नहीं है। वयस्क होने के कारण उसको घर से बाहर न जाने देना असम्भव होता है। साथ ही वाहर जाने पर उसकी सुरक्षा की चिन्ता सदा वनी रहती है। यदि व्यक्ति अतिसक्रिय होता है तो घर में किसी प्रकार की भी दुर्घटना किसी समय हो सकती है। गृहिणी को इस विपत्ति को सहना सामर्थ्य के वाहर हो जाता है। और दम्पति चिन्ताओं के कारण स्वास्थ्य खो वैठते हैं।

फिर दम्पति ऐसी स्थिति का सामना करने के उपायें से मानसमन्द के सुधार सम्बन्धी योजनाओं से अनभिज्ञ होते हैं। इस कारण उनकी कठिनाइयाँ असह्य हो जाती हैं। अतएव माता-पिता के उपबोधन या मार्गदर्शन की सर्वोपरि आवश्यकता होती है।

माता-पिता का उपबोधन (Counselling)

माता-पिता का उपवोधन, उनको मानसमन्दता की दशा को समझाना तथा मानसमन्द की सहायता के उपायों—उसके सुधार की योजनाओं को उनको वताना—कई कारणों से अत्यन्त आवश्यक है। उन्होंने पहले कभी ऐसे रोगी या त्रुटिग्रस्त को नहीं देखा है। अतएव वे इस घटना से नितान्त अनभिज्ञ हैं और इस कारण हतबुद्धि, विमूढ़ से हो रहे हैं। पहले तो वे यह स्वीकार करने ही को तैयार नहीं होते कि उनका पुत्र या पुत्री बुद्धिहीन हो सकती है जिसका यह दोष जीवन पर्यन्त वना रहेगा, जिसके कारण उन्होंने सन्तान से जो आशायें बाँध रखी थीं वे कभी सफल न होंगी। इस कारण उनको सहानुभूति के साथ इस दशा के सम्बन्ध में सब बातें समझाना आवश्यक है।

त्रुटि का निदान करने में उनकी सहायता लेना, उनको व्यक्ति के लिये सुधार क्रम निश्चय करने के समय अपने साथ रखना भी उनका एक प्रकार से उपवोधन ही है।

फिर त्रुटियुक्त व्यक्ति के व्यवहार में समय-समय पर क्या-क्या उत्पात हो सकते हैं और उस समय इस उत्पात से व्यक्ति की किस प्रकार से सुरक्षा की जा सकती है इसकी शिक्षा देना आवश्यक है जिससे वे अपनी सन्तान की हानि पहुँचने से और उसके द्वारा दूसरों को हानि पहुँचाने से रक्षा कर सकें।

तीसरा कारण यह है कि मन्द व्यक्ति को घर पर अथवा जन समुदाय (community) ही में रखना उपयोगी माना जाने लगा है। किसी समय यही मान्य था कि मानसमन्दों को संस्थाओं में ही पृथक् रखा जाय और वहीं उनकी शिक्षा, प्रशिक्षण, भोजन, निवास, खेल आदि का प्रबन्ध किया जाय। तदनुसार उनके रहने तथा शिक्षा के लिए प्रायः नगरों-बस्तियों से दूर बड़े-बड़े भवन बनाये गये और वहीं मन्दों को रखा गया।

किन्तु अब मत बदल गया है। बहुत काल के अनुभव से यह प्रमाणित हो गया है कि मन्द व्यक्ति के रहने के लिये सामुदायिक या सामाजिक वातावरण ही हितकर है। वहीं वह व्यक्ति रहा है और शिक्षा दीक्षा के पश्चात् फिर उसको उसी वातावरण में लौट कर आना और जीवन पर्यन्त रहना होता है। अतएव उसी वातावरण का उसको प्रारंभ से अभ्यस्त और अनुकूल बनाना उसके लिये लाभदायक होगा।

इस सम्बन्ध में मन्दों के माता-पिता से भी पूछ-ताछ कई बार की जा चुकी है। प्रत्येक बार अनुसंधान का यही निष्कर्ष निकला है कि माता-पिता मन्द को अपने साथ रखना पसन्द करते हैं किन्तु उसकी उपयुक्त देख-रेख कर सकने की योग्यता में उनको गहरा सन्देह होता है। बहुत से अर्थाभाव के कारण असमर्थ होते हैं। समयाभाव, मन्द का अन्य भाई-बहिनों पर प्रभाव, मन्द की समस्याओं, आचरण विषमताओं तथा अन्य अस्तव्यस्त क्रियाओं से उसे रोकने के उपायों की अनभिज्ञता भी उनका मन्द को संस्था में छोड़ने का बहुत बड़ा कारण होता है। बहुत से दम्पतियों ने संस्थाओं को नगर में निवास स्थानों के पास संस्थाओं को बनाने का प्रस्ताव किया, जिससे वे संस्था में रखे हुए मन्द पुत्र या पुत्री को अधिक बार सुगमता से देख सकें। संस्थाओं के नगर से दूर स्थित होने के कारण यातायात की कठिनाई से उनका अधिक बार मन्द बालक या प्रौढ़ से मिलना

सम्भव नहीं होता। और इस कारण कुछ समय पश्चात् वालक के लिये वे अपरिचित के समान हो जाते हैं।

इन सब कारणों से वालक या प्रौढ़ मन्दों को घर ही पर रखकर उनकी देखभाल करने और उनके लिये वे सब सुविधायें और सेवायें (services) घर पर प्राप्त कराने का निर्णय किया गया है, जो सेवायें मन्दों को संस्थाओं में प्राप्त हो सकती हैं, अर्थात् जन स्वास्थ्य उपचारक सेवा (public health nursing service), सामाजिक कार्यकर्ता की परामर्श (social worker's counselling), गृह सहायक (home maker service) सेवा आदि, ये सब घर ही पर उपलब्ध हों। यदि आवश्यक हो तो माता-पिता या परिवार को मन्द की सुश्रुषा और सुरक्षा के लिये आर्थिक सहायता भी दी जाय।

मन्द वालक या प्रौढ़ की व्यावसायिक शिक्षा के लिये भी प्रवन्ध करना आवश्यक है। इसके लिये घर से उनको वर्कशापों या क्रियात्मक केन्द्रों में बुलाकर मन्दों का प्रशिक्षण, मूल्याङ्कन, नियुक्ति मार्गदर्शन आदि की योजना करना उचित है। जैसे घर से बालक स्कूलों में जाकर पढ़ते हैं, उसी प्रकार मन्द अपने घरों में रहें और समय पर वर्कशॉप या केन्द्रों (activity centres) में जाकर शिक्षा या प्रशिक्षण प्राप्त करें और नियत समय पर संस्था के वन्द हो जाने पर घर लौट जाँय। इससे बालक को घर और सामुदायिक (communal) वातावरण का भी लाभ होगा और संस्था की सेवाओं द्वारा उसका प्रशिक्षण आदि भी होगा।

जन स्वास्थ्य परिचारिका सेवा
(Public health nursing service)

पाश्चात्य देशों में शिक्षा और परिचारक सेवायें प्रायः स्त्रियों द्वारा ही की जाती हैं। शिक्षा विभाग में पुरुषों की भी संख्या वहुत है किन्तु स्त्रियों से कम है। परिचारक सेवा में पुरुष अत्यल्प हैं, नाम मात्र को। हमारे देश में भी शिक्षा विभाग में स्त्रियाँ बहुत भाग लेने लगी हैं। परिचारक विभाग में अव भी स्त्रियों की कमी है।

जन स्वास्थ्य परिचारिका के द्वारा मन्द व्यक्ति तथा उसके परिवार दोनों को वहुत लाभ हो सकता है। परिवार वालों को मानसमन्द की देख-रेख में एक शिक्षित व्यक्ति की सहायता उपलब्ध होने से विशेष नैतिक वल मिलता है जिसका बहुत महत्व है। मन्द की माता को उपचारिका का वड़ा सहारा हो जाता है जिससे न उसको मानसिक लाभ होता है किन्तु शारीरिक स्वास्थ्य भी उन्नत हो जाता है।

परिचारिका मन्द की शारीरिक स्वच्छता, आहार करने की आदतें, वस्त्र पहनना, वस्तुओं को रखने-उठाने आदि के आधारी कौशलों को सिखाने में विशेष सहायक हो सकती है। तथा परिवार को मानसमन्दता के विषय की समस्याओं से पूर्णतया अवगत करा सकती है। वह मन्द को घर से बाहर जाने में, उस मुहल्ले के अन्य बालकों से या व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करने तथा सहकार्य करने की शिक्षा में सहायक होती है। उसके द्वारा उस संस्था के अधिकारियों से आवश्यक सहायता, मार्गदर्शन आदि का आयोजन संभव होता है। मन्द का सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि उसके द्वारा मन्द की आत्मनिर्भरता की शिक्षा संभव होती है। एक विद्वान ने जनस्वास्थ्य परिचारिका के उपयोग का उदाहरण लिखा है। कहानी लम्बी है किन्तु शिक्षा प्रद होने के कारण हम उसका संक्षेप से यहाँ उल्लेख करते हैं।

एक महिला ने स्वास्थ्य केन्द्र के दफ्तर में फोन किया कि वे उसको ऐसी संस्थाओं के पते बताए जाँए जहाँ वह अपने मानसमन्द पुत्र को रख सके, जो पूर्णतया अयोग्य है, तीव्र मन्द है। केन्द्र के अधिकारी ने संस्थाओं के पते बताने से पूर्व महिला के मन्द पुत्र का परिचय और उसकी दशा का ज्ञान प्राप्त करना उचित समझा। अतएव उसने केन्द्र से एक जनस्वास्थ्य परिचारिका को महिला के घर भेजा कि वह उस मन्द का निरीक्षण करके उसको सूचित करे।

परिचारिका ने घर पर जाकर महिला से उसके मानसमन्द पुत्र के सम्बन्ध में बात चीत की, उसका सब हाल पूछा। महिला ने बताया कि उससे पुत्र का नाम वि……है, ४१ वर्ष का है। छठी कक्षा तक मानसमन्दों के स्कूल में पढ़ा था, तब से उसी के साथ रहता है, कुछ करता नहीं। एक बड़ा भाई डाक्टर है, दूसरा इञ्जिनियर है। वि……कुछ नहीं कर पाता। महिला ही को उसे बहलाना पड़ता है। वही उसे खिलाती है, नहलाती है, वस्त्र पहनाती है, तथा उसकी मुख शुद्धि करती है, हजामत बनाती है। अब वह वृद्ध और अशक्त हो रही है, इस कारण वि……को संस्था में रखना आवश्यक है।

परिचारिका ने वि……का कुछ समय तक निरीक्षण किया। देखा कि वि……केवल एक शिशु के समान था जो सब कर्मों के लिए माता पर निर्भर करता था। वह स्वयं कोई भी क्रिया नहीं करता था। जूते के फीते तक नहीं बाँध सकता था।

परिचारिका ने यह प्रतीत किया कि उसकी इस असीम असमर्थता का कारण उसकी माता थी जो उसको कुछ भी नहीं करने देती थी, किन्तु उसको आत्मनिर्भरता सिखाई जा सकती थी। तो भी माता का सहयोग आवश्यक था। अतएव परिचारिका ने माता से बात-चीत करना आरम्भ किया। वि······से भी बात-चीत की और परामर्श करके एक कार्यक्रम बनाया। प्रति सप्ताह १ घण्टा उसने वि······को प्रशिक्षित करने का निश्चय किया।

प्रथम बैठक में उसने वि······को आहार करने का ढंग सिखाना आरंभ किया। खाने की मेज पर बिठा कर उसने उसके हाथ में चाकू (आहार के पदार्थों को काटने वाला knife) देकर उससे रोटी (bread, डबलरोटी) काटने को कहा। तब बायें हाथ में फौर्क देकर उससे आहार पदार्थों को मुँह में रखना बताया तथा चम्मच का उपयोग सिखाया।

एक सप्ताह के पश्चात जब परिचारिका फिर आई तब तक···वि०···ने आहार का ढंग भली-भाँति सीख लिया और यदि माता उसका कोई काम करने का प्रयत्न करती थी तो वह नाराज हो जाता था। दूसरी बार में उसने स्वयं स्नान करना सीखा तथा मुख शुद्धि और तौलिये से शरीर के सब भागों को स्वच्छ करना भी सीख लिया। परिचारिका की रिपोर्ट थी कि उसकी प्रगति सन्तोष जनक थी।

इसी प्रकार तीसरी बैठक में उसे वस्त्र पहनना, बालों को कंघे से संवारना तथा वस्त्रों को उठा कर रखना सीखा, किन्तु वह जूते के फीते नहीं बाँध सकता था। उसके पिता ने परिचारिका की सलाह से फीते बाँधने की शिक्षा के लिये अपने कारखाने में एक बोर्ड बनाया जिस पर वह फीते बाँधने का अभ्यास कर सकता था। अब परिचारिका ने उसे घरेलू कामों में, माता की सहायता करने के लिये, शिक्षा देना आरम्भ किया। रसोई घर में सब्जी काटना, आटे को गूंथना, चाय बनाना आदि। ये काम उसे पसन्द न आये। परिचारिका ने अनुभव किया कि अब उसको घर से बाहर निकालने की शिक्षा आवश्यक थी तथा आत्मनिर्भरता में दीक्षित करना उचित था। किन्तु माता उसकी प्रगति में सदा बाधक होती थी। वह स्वयं वि······के सब काम करने को उद्यत रहती थी।

अगली बार परिचारिका ने उसे घर से बाहर निकाला। उसने स्वयं वस्त्र पहने, जूतों के फीते बाँधे, बाल संवारे और परिचारिका उसका हाथ पकड़ बाहर ले गई। इस पर माता ने बड़ा विरोध किया। किन्तु

परिचारिका उसे समझा बुझा कर वि······को बाहर ले गई। इससे वि··· बड़ा प्रसन्न हुआ। पहले अपने पावों को देखता रहा। फिर परिचारिका ने उसे सुरक्षा के नियम और विधियाँ बताईं। परिचारिका ने उसकी माता और पिता दोनों को उसकी सहायता करने पर तैयार किया। अगली बार जब वह आई तब वि······स्वयं एक ब्लाक तक घूम आता था।

अब परिचारिका ने उसे बसों द्वारा दूर-दूर जाने योग्य बना देना आवश्यक समझा। माता-पिता और वि······को बिठाकर सबों के साथ उसने परामर्श किया। इसके लिये उसे व्यय के लिये कुछ धनराशि आवश्यक थी। उसको रूपया पैसा गिनना, छोटे जोड़-घटाने की प्रारम्भिक शिक्षा दी गई तथा जनता के प्रयोग के लिये टेलीफोन का उपयोग भी सिखाया गया। घर की एक चाभी भी उसको दी गई जिससे माता या पिता के घर में न होने पर वह ताला खोल कर भीतर भी आ सके।

तीन या चार मास में उसने ये सब कौशल सीख लिये। वह अपनी शारीरिक आवश्यकताओं को बहुत कुछ पूरा करने योग्य हो गया। आत्म निर्भरता भी उसमें आ गई। पुस्तकों को पढ़ने की रुचि उत्पन्न कराने में भी परिचारिका सफल हुई। परिचारिका ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट में वि······के किसी क्रियता केन्द्र (activities centre) में अथवा वर्कशॉप में व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिये प्रस्ताव किया था।

इस उदाहरण से कई शिक्षायें मिलती हैं। प्रथम यह है कि माता-पिता की अतिचिन्ता मन्द बालक की प्रगति में विशेष बाधक होती है। वे स्वयं बालक के सब काम करना आवश्यक समझते हैं। उनकी धारणा होती है कि बालक या प्रौढ़ मन्द कुछ भी नहीं कर सकता, इस कारण उसके सभी कामों को करना वे अपना उत्तरदायित्व समझते हैं। इससे बालक की कर्मशक्ति नहीं बढ़ सकती।

दूसरे, यह उदाहरण इसका भी प्रमाण है कि प्रत्येक मानसमन्द में कुछ न कुछ योग्यता होती है जिसका परिवर्धन संभव होता है।

तीसरे, मानसमन्द को शिक्षा के लिये संतत प्रयत्न आवश्यक है। निरन्तर उद्योग करते रहना सफलता का आधार है।

इस उदाहरण से मूल्यांकन का महत्व भी मालूम होता है।

वि···के सुधार के लिये परिचारिका अब दो सप्ताह के अन्तर से आती थी और फिर मास में एक ही बैठक होती थी। वि···पुस्तकों को पढ़ने में अनुरक्त हो गया था। फिर वह अपने पिता के कारखाने में जाने लगा और

वहाँ जो छोटे-मोटे काम उससे कहे जाते थे, करने लगा था। किन्तु वह स्वयं विचार नहीं कर सकता था।

वयस्क मानसमन्दों के लिये आवश्यक सेवायें

ऊपर यह कहा गया है कि मानसमन्दों को सामुदायिक या सामाजिक जीवन ही में रखना अधिक उपयोगी माना जाता है, क्योंकि वही उनका स्वाभाविक वातावरण है जिसमें वे रहे हैं, और जहाँ उनको भविष्य में रहना है। इस लिये उनको वहीं रखकर उनकी शिक्षा आदि का प्रवन्ध करना उचित है।

इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य करने पर सभी मानसमन्दों को और विशेषतः वयस्क मानसमन्दों के लिये वे सभी सुविधायें या सेवायें उपलब्ध कराने का प्रवन्ध करना होगा जो उनको संस्थाओं में मिलती हैं अथवा उनके लिये आवश्यक हैं। इन सेवाओं का यहाँ संक्षिप्त उल्लेख किया जाता है।

१. मूल्यांकन, पूर्ण रूप से; उसकी योग्यताओं का तथा आवश्यकताओं का

गत पृष्ठों में बालकों के मूल्यांकन की विधियों का विचार किया गया है। मानसमन्द वयस्कों का मूल्यांकन उतना ही आवश्यक है जितना बालकों का। बालकों के पास वहुत समय होता है। उनकी शिक्षा १८ वर्ष के वय तक चलती रहेगी किन्तु मन्द वयस्क तो उस आयु में पहले ही पहुँच चुका है। इस कारण उसके पास प्रशिक्षण के लिये बहुत थोड़ा समय होता है। उसकी आवश्यकताएँ भी भिन्न हैं और तत्काल आवश्यक हैं। अतएव मन्द वयस्क की सामाजिक, मानसिक, शारीरिक, निवास सम्बन्धी व्यवसाय सम्बन्धी, आवश्यकताओं और संभावित योग्यताओं का तात्कालिक मूल्यांकन आवश्यक है।

मूल्यांकन की विधियाँ वे ही हैं जो बालकों के सम्वन्ध में वताई गई हैं। वयस्क का मूल्यांकन भी वहुविद् समिति द्वारा ही संभव है। भिन्न-भिन्न प्रकार की आवश्यकताओं के कारण एक ही विद्वान द्वारा पूर्ण मूल्यांकन संभव नहीं है। निवास की आवश्यकताओं के कारण समाजसेवी द्वारा विचार वहुत आवश्यक है। मनोविज्ञानी, चिकित्साशास्त्रज्ञ (physician), शिक्षा तथा व्यावसायिक विशेषज्ञ, सभी द्वारा वयस्क की परीक्षा और परीक्षाफलों का विचार वांछित है। वयस्क के माता-पिता के साथ भी परामर्श उपयोगी है। उनको भी सम्भवतः विचार के समय समिति में बुलाना उचित है।

व्यावसायिक मूल्यांकन पूर्णरूप से अल्प समय में नहीं हो सकता। वह एक दीर्घकालिक या संतत क्रिया है जो वर्कशॉप में उसके प्रशिक्षणकाल में चलती रहेगी। संभव है प्रशिक्षण की दिशा ही बदलनी पड़े। इस कारण लघुकालिक और दीर्घकालिक दोनों प्रकार का प्रशिक्षण क्रम बनाना उचित है। दीर्घकाल १८ मास का हो सकता है। इससे अधिक केवल अति तीव्र, सर्वथा अयोग्य मन्दों ही को रखा जाता है।

निवास स्थान

यदि मन्द वयस्क अपने परिवार के साथ नहीं रहता है, परिवार वाले उसे रखने में असमर्थ हैं तो उसके रहने का एक प्रमुख प्रश्न है। मानसमन्दों के निवास के लिये कई विशेष प्रबन्धों का पहले विचार किया जा चुका है। पारिवारिक सुरक्षा गृह (family care home), पोषक या धातृ गृह (foster home ,, अर्धमार्ग गृह (half way house) आदि का उल्लेख हो चुका है। इनमें अस्पतालों या संस्थाओं से आये हुये मन्दों को समाज में प्रविष्ट होने के पहले कुछ समय तक रखा जाता है। जहाँ उनको सामाजिक जीवन का परिचय मिलता है और वे उसके अभ्यस्त हो जाते हैं।

अनेक अल्पमानसमन्द विवाह करके अपनी सन्तानों सहित साधारण घरों में सामान्य व्यक्तियों के समान अपना जीवन व्यतीत करते हैं। वे जनता में मिल जाते हैं और त्रुटि की अल्पता के कारण उनको साधारण व्यक्ति ही समझा जाता है। कुछ मन्द निर्धन जनों की बस्ती में रहकर निर्धनों ही की भाँति जीवन निर्वाह करते हैं। तो भी साधारण जनता के समान कालयापन में सफल होते हैं। किन्तु जो अधिक मानसमन्द होते हैं उनका अस्तित्व विशेष साधनों और सहायक सेवाओं के बिना नहीं रह सकता। उनकी सहायता के लिये सेवाओं का निर्माण किया जाता है।

जिस मानसमन्द|युवक को मूल्यांकन के पश्चात् घर से बाहर या बहिष्कृत, प्रशिक्षण के लिये संस्था या वर्कशॉप में भेजा जा रहा हैं, या प्रशिक्षण समाप्त करके समाज में रहने जा रहा है उसके लिये निवास स्थान प्राप्त कराना, सामाजिक सेवाओं का कार्य है। ज़हाँ मन्द व्यक्ति काम करता है निवास स्थान उसके पास होना चाहिये। निवास के पास ही खाद्य सामग्री, पहनने के वस्त्र, कुछ आमोद का साधन, ये भी सुलभ हों; साथ रहने वाले या पड़ोसी उपद्रवी, लड़ाकू, क्लेश देने वाले न हों; वह क्षेत्र दुर्घटनाओं (violence) का केन्द्र न हो। सहायक सेवाओं को इन आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर मन्द वयस के निवास की योजना करनी होगी।

चिकित्सा सम्बन्धी सेवायें

इस पुराने विश्वास का अब भी चिकित्सकों द्वारा समर्थन किया जाता है कि सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा मानसमन्द अधिक रोग ग्रस्त होते हैं। श्वास सम्बन्धी रोग उनको अधिक होते हैं। बहुतों में जन्मजात त्रुटियाँ होती हैं जिनसे वे अशक्त होते हैं। इस कारण उनके लिये सभी प्रकार के चिकित्सकों की सेवायें उपलब्ध होनी चाहिये। किन्तु जहाँ मानसमन्द बालकों की संस्थाओं में इसका यथेष्ट और उत्तम प्रबन्ध होता है, वयस्क मानसमन्दों को ऐसी सुविधाओं का अभाव होता है।

इसी प्रकार दन्तचिकित्सा, मानसिक चिकित्सा, विकलांगों की चिकित्सा, तथा अन्य शारीरिक दोषों की चिकित्साओं की सेवाओं की ओर ध्यान देना आवश्यक है। यह निश्चित है कि कितने ही मन्द वयस्क ऐसे रोगों से ग्रस्त हैं और उपयुक्त चिकित्सा न पाने से उनका रोग बढ़ रहा है।

जन स्वास्थ्य परिचारिका सेवा
(Public health nursing service)

जो उदाहरण गत पृष्ठों में दिया गया है उससे जनस्वास्थ्य परिचारिका सेवा का मूल्य स्पष्ट है। परिचारिका के चातुर्य और उसकी सहायता से वि······का सुधार सम्भव हुआ। वि······की माता को भी कोई दोष नहीं दिया जा सकता। जिसका उसको ज्ञान ही न था उसका वह उपयोग कैसे कर सकती थी। परिचारिका सेवा का विशेष महत्व या उपयोग यही है कि उसके द्वारा मानसमन्दों के परिवार वालों को त्रुटि सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त होता है। वे उसके कारणों, व्यवहार सम्बन्धी दोषों के लक्षणों, शारीरिक अपूर्णताओं और त्रुटि के प्रभावों को मिटाने, अर्थात्, मन्द के जीवन को सुधारने के उपायों को सीखते हैं। इसी को उपबोधन या परामर्श (counselling) कहा जाता है। परिचारिका की सहायता से मन्द के परिवार वालों का नैतिक स्तर उन्नत होता है, उनको आपत्ति का सामना करने का बल मिलता है।

उपबोधन अथवा परामर्श सेवायें
(Counselling services)

वयस्क मन्दों के लिये व्यक्तिगत परामर्श या उपबोधन बहुत उपयोगी है। उनमें समय-समय पर नाना प्रकार के द्वन्द्व (conflicts) उत्पन्न होते रहते हैं। अपनी नियुक्ति को बनाये रखना, जो काम वह कर रहा है

जिससे उसका जीविकोपार्जन होता है, उसको बनाये रखना, खो न देना-अनेक मन्द युवकों का यह भारी प्रश्न होता है। वे बार-बार अपने काम से हटा दिये जाते हैं, क्योंकि वे अपने साथियों के साथ मिल-जुल कर नहीं रह सकते। वे अपने अधिकारी से तथा साथ काम करने वालों से झगड़ते रहते हैं। ऊपर के अधिकारी की आज्ञा नहीं मानते, समय से काम पर नहीं पहुँचते।

विवाह सम्बन्धी द्वन्द्व भी मन्दों को प्रायः पीड़ित करते हैं। अयोग्य मन्दों को परिवार वालों पर अधिक निर्भर रहना पड़ता है। इससे उनमें पारस्परिक व्यवहार सम्बन्धी द्वन्द्व उत्पन्न हो सकते हैं। इन द्वन्द्वों से उनकी मन्दता और भी बढ़ जाती है।

द्वन्द्वों को सुलझाने में असमर्थ होने के कारण मन्दों को परामर्श की बहुत आवश्यकता होती है। इस कारण उन्हें उपबोधन सेवाएँ उपलब्ध होनी आवश्यक हैं। सभी प्रकार के उपबोधन उनको उपलब्ध होने चाहिये—सामाजिक, मानसिक, शारीरिक, व्यवसाय सम्बन्धी आदि। किन्तु मन्द के लिए यह निर्णय करना कठिन होता है कि वह किस उपबोधक के पास जाय। अतएव उसको एक सामाजिक उपबोधक के सिपुर्द कर दिया जाता है। उसकी सलाह से वह उपयुक्त उपबोधन प्राप्त करता है जिसमें उपबोधक सहायक होता है।

इसी प्रकार परिवार वालों का भी उपबोधन आवश्यक होता है जैसा वि······की कथा से स्पष्ट है। प्रथम तो उनको यही समझाना कठिन होता है कि उनकी सन्तान मन्द है। कुछ समय पश्चात जब उनको निश्चय हो जाता है कि वास्तव में उनका पुत्र मानसत्रुटि से ग्रस्त है तब उनको पथप्रदर्शन की बहुत आवश्यकता होती है। फिर मन्द की चिकित्सा या सुधार के कार्यक्रम में उनका सहयोग प्राप्त करना आवश्यक होता है। यह काम उपबोधक का है कि वह उनको सहमत करे।

व्यवसाय सम्बन्धी सेवायें (Vocational services)

इन सेवाओं का कार्यक्षेत्र विस्तृत है। मूल्याङ्कन से लेकर मन्द वयस्क का प्रशिक्षण तथा उसकी नियुक्ति और उसके पश्चात् भी उसको देखते रहना और काम में लगे रहने योग्य बनाये रखना—ये सब इन सेवाओं का उत्तर-दायित्व है। योरुप के प्रायः सभी देशों ने अपनी-अपनी आर्थिक सामर्थ्यानुसार तथा अमरीका, कनाडा आदि में ये सेवायें सुचारु रूप से निर्मित की गई हैं। तो भी वे पर्याप्त नहीं हैं। जो अधिकतम योग्य मानसमन्द होते हैं प्रायः उन्हीं

तक उनका ध्यान केन्द्रित रहता है, क्योंकि इस श्रेणी के मन्दों में सफलता की अधिक आशा होती है। तो भी कितने ही अधिकतर योग्य की श्रेणी के व्यक्ति जो लाभ उठा सकते हैं वे वञ्चित रह जाते हैं। धन का अभाव ही इसका मुख्य कारण होता है।

मन्दों के सुधार में वर्कशॉपों का स्थान

मन्दों के सुधार तथा पुनःस्थापन में वर्कशॉप बहुत उपयोगी प्रमाणित हुए हैं। मन्दों की योग्यता तथा अयोग्यताओं के निर्णय अर्थात् मूल्यांकन के ये विशेष साधन हैं। तत्पश्चात मन्द नियुक्ति के लिये उपयुक्त प्रशिक्षण वर्कशॉप ही में प्राप्त करते हैं। फिर अनेक मन्द आजीवन इन्हीं उद्योग-शालाओं द्वारा जीविकोपार्जन करते हैं, ये उनके जीवन के एकमात्र साधन होते हैं। न्यूनतम योग्य मन्दों को इनके अतिरिक्त और कहीं काम नहीं मिलता। वास्तव में उनके जीवनार्थ अर्थोपार्जन इन संस्थाओं के स्थापन के उद्देश्यों में से एक प्रमुख उद्देश्य होता है। फिर अल्प समय तक प्रशिक्षण देकर भी ये अधिकतर योग्य मन्दों को विशिष्ट व्यावसायिक नियुक्तियों के योग्य बना देते हैं। मन्दों को प्रशिक्षण में भी उनकी उत्पादक सामर्थ्यानुसार धनराशि मिलती रहती है। अतएव इनकी उपयोगता स्पष्ट है।

गृह कार्य पूरक सेवायें (Home maker services)

ये प्रायः स्त्रियाँ होती हैं जो घरों में आकर घर के कामों में सहायता देती हैं। कई बालक होने के कारण मन्द की देख-रेख माता को सम्भव नहीं होती अथवा मन्द की सुश्रूषा में माता को इतना व्यस्त रहना पड़ता है कि वह घर के अन्य कामों को जैसे भोजन बनाना, वस्त्र धोना, घर की स्वच्छता आदि भली भाँति नहीं कर पाती तो वह इन सेवाओं से सहायता प्राप्त कर सकती है। ये गृहकार्य पूरक स्त्रियाँ घर में आकर जिस काम की आवश्यकता होती है कर देती हैं। मन्द बालक न होने पर यदि घर की स्वामिनी बीमार हो जाती है, किसी भी अन्य कारण से वह समय नहीं दे पाती तो गृह कार्य पूरक से घर का काम करवा सकती है। ये स्त्रियाँ रोगी की शुश्रूषा या शिशु की देखरेख सभी प्रकार के कामों में सहायक होती हैं। उनको घंटे के हिसाब से वेतन मिलता है।

जिन माताओं को मन्द पुत्र या पुत्री की देखरेख करनी होती है उनको गृहकार्यपूरक स्त्रियों की सहायता बहुत उपयोगी होती है। उनकी सहायता

से ऐसी माताओं को विश्राम का अवसर मिल जाता है जिससे उनकी स्वास्थ्य रक्षा सम्भव होती है।

मनोविनोद (Recreation)

मनुष्य के लिये प्रथम आवश्यकता आहार है, दूसरे शरीर ढँकने के लिये वस्त्र, तीसरे रहने के लिये घर और उसके पश्चात् चौथी आवश्यकता मनोविनोद है। मनोविनोद न केवल शारीरिक स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है किन्तु मानसिक स्वास्थ्य के लिये भी वह उतना ही अनिवार्य है। वह मानसिक विकास का एक साधन है।

प्रत्येक सामान्य व्यक्ति के समान मानसमन्दों को भी उसकी आवश्यकता होती है। उनको भी मन बहलाव के साधन चाहिये। सामान्य शिक्षा क्रम में मनोविनोद का एक विशेष स्थान रखा जाता है। खुले स्थान में खेले जाने वाले खेल शारीरिक स्वास्थ्य उन्नति के साथ ही मनोविनोद के कारण होते हैं। सैर करना, पर्यटन, दौड़, फुटवाल, हाकी, देशी खेल—कवड्डी, आँख मिचौनी, सभी से मनोविनोद होता है। प्राणी मात्र को विनोद की आवश्यकता होती है। अतएव मानसमन्दों के लिये भी मनोविनोद का प्रवन्ध करना आवश्यक है।

सामान्य शिक्षा क्रम या स्कूलों के समान मानसमन्द वालकों के स्कूलों में भी खेल-कूद का अधिकारियों की ओर से प्रबन्ध किया जाता है। संस्था के भीतर ही खेलों के क्षेत्रों (fields) में खेले जाने वाले खेलों के अतिरिक्त बालकों को समय-समय पर भ्रमण के लिये वाहर ले जाया जाता है। चित्रशालाओं या म्यूजियमों (museums) में ले जाकर चित्र अथवा वहाँ रखी वस्तुएँ दिखाई जाती हैं। मन्द वयस्क जब तक उद्योगालयों में शिक्षा पाते रहते हैं तब तक उनको भी मनोरंजन के कुछ साधन मिल जाते हैं। किन्तु नियुक्त हो जाने या काम पा जाने के पश्चात् उनको विनोद प्राप्त करने का अवसर नहीं के समान रह जाता है। जो मन्द काम नहीं करते, नियुक्त नहीं होते, उनके जीवन से विनोद लुप्त हो जाता है।

ऐसे वयस्क मानसमन्दों के लिये समाज की ओर के मनोविनोद के कार्यक्रम आयोजित किये जाने चाहिए। अमरीका तथा फ्रांस, इंग्लैण्ड, जर्मनी में इस प्रकार की कुछ सेवाओं की हाल में स्थापना की गई है। कुछ सामाजिक संस्थायें जो मानसमन्द वयस्कों के पुनः स्थापन में अनुरक्त

होती हैं वे समय पर इस प्रकार के कार्यक्रमों की योजना करती रहती हैं। ये संस्थायें आर्थिक व्यय के लिये जनता की सहायता पर निर्भर करती हैं।

इस प्रकार की सेवायें प्रादेशिक कल्याण विभाग की ओर से (State Welfare Department) बनायी जानी चाहिये। जो मानसमन्द वयस्कों की विशेष सहायता करें। अब तक इन वयस्कों की अतीव अवहेलना की गई है।

यातायात (Transport) का प्रबन्ध

मानसमन्द वयस्कों तथा विकलांगों (handicapped) को सार्वजनिक (public) यातायात के अड्डों, बसों के ठहरने के स्थानों तक पहुँचने तथा वहाँ से अपने निवासस्थानों तक आने में विशेष कठिनाई होती है। सभी प्रकार के विकलांगों को (मानसमन्दों सहित) इस असुविधा का अनुभव होता है। इसके लिये कुछ प्रबन्ध सार्वजनिक शासन की ओर से होना चाहिये। अमरीका के कुछ नगरों में ऐसे प्रयत्न किये जा रहे हैं कि विशेषकर विकलांगों से नाममात्र किराया लेकर उनको आने-जाने के सुगम साधन उपलब्ध कराए जायं।

आर्थिक सहायता

प्राय: मानसमन्दों के माता-पिता सम्पन्न नहीं होते। मानसमन्द सन्तान की देख-रेख पर व्यय करना उनको कठिन होता है। फिर मन्द पुत्र या पुत्री के कारण उनको उस पर समय लगाना पड़ता है। यदि पहले दोनों काम करते थे तो एक को अवश्य काम छोड़ना पड़ता है जिससे उनकी आय घट जाती है। अतएव उनको आर्थिक संकट उपस्थित हो जाता है जिसका प्रभाव मानसमन्द पर भी पड़ता है। ऐसी दशा उपस्थित होने पर उनको आर्थिक सहायता देना आवश्यक है। संभव है कल्याण विभाग (Social Welfare Deptt.) के नियमों के अनुसार मानसमन्द वयस्क आर्थिक सहायता पाने का अधिकारी हो। यह सहायता उसको नागरिक शासन (municipal), प्रादेशिक (state) अथवा केन्द्रीय शासन में प्राप्त हो सकती है अथवा दोनों या तीनों शासकों की मिश्रित सहायता हो।

यदि मन्द व्यक्ति प्रचलित नियमों के अनुसार सहायता पाने का अधिकारी न हो तो भी उसको किसी न किसी प्रकार आर्थिक सहायता मिलनी चाहिये। इसके लिये विधान में विशेष नियमों का समावेश किया जा सकता है।

समाज में ऐसे भी मानसमन्द पाये जाते हैं जो विवाह करके साधारण जीवन व्यतीत कर रहे हैं। बहुतेरों की सन्तानें हो गई हैं। मन्दता अल्प होने के कारण समाज ने उनको स्वीकृत कर लिया है। तो भी ऐसे मन्दों की आय प्रायः उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये पर्याप्त नहीं होती। सन्तान हो जाने से उनकी कठिनाइयाँ और भी बढ़ जाती हैं जिससे सन्तान हीन वातावरण का ग्रास बन जाती हैं। ऐसे व्यक्तियों की सहायता भी उचित है। बालकों को हीन दशाओं से सुरक्षित करना आवश्यक है।

मन्द वयस्कों के विवाह का प्रश्न

ऐसे मन्दों का विवाह सदा से विवादग्रस्त रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे विवाहित मन्दों की बहुत बड़ी संख्या है जो विवाह करके समाज में बस गये हैं और सामान्य नागरिक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उनकी सन्तानें भी हैं जिनका वे सामान्य पालन-पोषण भी करते हैं किन्तु वे सब सीमा-स्थिति (borderland) मानसमन्द हैं जिनकी मानसमन्दता अत्यल्प है। ऐसे व्यक्तियों का जीवन निम्न श्रेणी की सामान्य जनता के समान सफल ही है। विवाद उन व्यक्तियों के सम्बन्ध में है जिनकी मानसमन्दता उनको पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता और सामाजिक निपुणता की योग्यता की प्राप्ति में बाधक होती है।

इस सम्बन्ध में बहुत कम अनुसन्धान किये गये हैं। इस कारण थोड़े से अन्वीक्षित व्यक्तियों के उदाहरणों से ऐसे परिणाम नहीं निकाले जा सकते जो सामान्य जनता पर लागू समझे जा सकें।

तो भी साधारण मत यह है कि वर कन्या दोनों के स्पष्ट मानसमन्द होने पर उनकी सन्तानों के भी मानसमन्द होने की बहुत सम्भावना है। यद्यपि इसके निश्चित प्रमाण नहीं मिले हैं तो भी वंशानुगत दोष के संचार के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं।

दूसरे अति मानसमन्द और अधिकांश मृदु मानसमन्द भी पूर्णतया आर्थिक स्वतन्त्र नहीं हो सकते। उनको कल्याण विभाग की आर्थिक सहायता की सदा आवश्यकता रहेगी। जिन ऐसे मन्दों ने विवाह कर लिया है उनमें से दोनों को कल्याण विभाग से आर्थिक सहायता मिलती रहती है जिससे उनके घर का खर्चा चलता है।

तीसरे, उनको परामर्श और निर्देशन (counselling, guidance) की सदा आवश्यकता रहेगी। कल्याण विभाग से उनको रूपया सामाजिक परामर्शदाता द्वारा ही मिलता रहेगा। उनको नियुक्ति दिलवाना व्यावसायिक

परामर्शदाता का काम होगा। फिर वह और उसकी पत्नी अपने काम पर लगे रहें उसके लिये भी इन परामर्शदाताओं को उनकी देख-रेख करनी होगी। मानसमन्द रोग ग्रस्त भी अधिक होते हैं। बीमार होने पर उनकी चिकित्सा का प्रबन्ध करना, डॉक्टर की परामर्श, अस्पताल में पहुँचाना इन सबके लिये सामाजिक परामर्शदाता की आवश्यकता होगी।

चौथे, उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि विवाह के पश्चात उनकी जो सन्तान होगी, उसका वे पालन-पोषण भली-भाँति कर सकेंगे। यदि सन्तान मानसमन्द हुई तब तो निश्चित है कि उसको माता-पिता से पृथक करना पड़ेगा। किन्तु सन्तान के त्रुटिहीन या सामान्य होने पर भी वे उसके उपयुक्त भरण-पोषण में असमर्थ होंगे। उनको अपने माता-पिता, सम्बन्धियों अथवा मित्रों की सहायता पर निर्भर करना पड़ेगा। न केवल शारीरिक सहायता अपेक्षित होगी, किन्तु आर्थिक सहायता भी आवश्यक होगी।

किन्तु कामेच्छा प्राणिमात्र की प्राकृतिक प्रेरणा है और संग (companionship) मानसिक आसक्ति है। पुरुष को एक जीवनसंगिनी और स्त्री को जीवन साथी की आवश्यकता सहज है। अनुसन्धानों में मन्द दम्पतियों से पूछने पर सबों ने यही कहा कि उनके पहले के एकाकी जीवन से यह संयुक्त जीवन, विवाहित जीवन कहीं उत्तम है।

इन सब बातों के विचार से बहुमत निर्णय यही है कि विवाह करने से न रोका जाय, विवाह करने दिया जाय। किन्तु विवाह से पूर्व उनको वंध्य (sterile) कर दिया जाय, पुरुष में शुक्र प्रणाली छेदन (vasectomy) से या स्त्री में डिम्ब वाहिनी (fallopian tube) के बन्धन से, अथवा किसी अन्य सन्तान निरोधी योजना द्वारा।

अनुसन्धानों से, जिनकी संख्या बहुत कम है, मानसमन्दों और सामान्य व्यक्तियों के विवाहित जीवन में विशेष अन्तर नहीं पाया गया।



बारहवाँ परिच्छेद

मानसमन्द बालक और परिवार

विकलांग बालक का जन्म परिवार की एक ऐसी दुर्घटना होती है जो पारिवारिक जीवन में संकट (crisis) उत्पन्न कर देती है। विकलांगता जितनी स्पष्ट होती है संकट भी उतना ही तत्काल होता है। अंग हीन या विकृत अंगों के नवजात शिशु को, जिनको monster या राक्षस कहा जाता है (हाथ, पैर, शीर्ष का कोई भाग न बने) देखते ही माता या पिता सुध-बुध सी खो बैठते हैं। उनको एक धक्का लगता है जिससे वे स्तब्ध होकर किंकर्तव्यविमूढ प्रतीत करने लगते हैं। अन्य परिवार वालों को जब मालूम होता है तो वे भी उसको एक पारिवारिक आपत्ति समझकर दुखी होते हैं और विकृत शिशु के माता-पिता के प्रति तिरस्कार की भावना युक्त सहानुभूति के भाव से प्रेरित हो जाते हैं। विकलांगता की सीमा के अनुसार यह प्रतिक्रिया भी उतनी ही प्रगाढ होती है जितनी विकलांगता।

मानसमन्दता जो एक प्रकार की विकलांगता है, सदा इतनी स्पष्ट नहीं होती। ऐसी कुछ दशायें हैं जो जन्म के समय पहिचानी जा सकती हैं, जैसे मंगोलता (mongolism) PKU का भी कुछ ही सप्ताह में आभास हो जाता है। किन्तु सामान्यतया मानसमन्दता का सन्देह कुछ मास से पूर्व नहीं होता और बहुतों की त्रुटि का पता बालक के स्कूल में जाने पर लगता है। शिशुकाल में कुछ के व्यवहार की असाधारणता के कारण सन्देह होने लगता है। किन्तु माता-पिता उसको केवल बालक के स्वभाव की विचित्रता समझते हैं। स्वभाव की भिन्नता मानव वर्ग की प्राकृतिक घटना है। दो मनुष्य न रूप में समान होते हैं न स्वभाव में। अतएव माता-पिता यही समझते हैं कि बालक का स्वभाव ही भिन्न प्रकार का है और बड़े होने पर वह स्वयं ही सुधर जायगा।

माता-पिता पर प्रभाव—उनको प्रथम बार बालक के मानसमन्द होने की सूचना तब मिलती है जब कोई डॉक्टर बालक की किसी अस्वस्थता के कारण परीक्षा करता है या वे शिशु या बालक में कोई असाधारणता के कारण उसे डॉक्टर को दिखाने ले जाते हैं। अनेक बार जन स्वास्थ्य परिचारिका बालक की दशा को पहचान जाती है।

प्रथम वार जब माता-पिता को बताया जाता है कि उनकी सन्तान मानसमन्द है, उसके मस्तिष्क में कोई ऐसी विकृति है कि उसका मानसिक परिवर्धन न होगा, उसकी बुद्धि न बढ़ेगी, वह आजन्म बुद्धिहीन रहेगा तो उनको एक गहरी चोट लगती है, वे स्तब्ध रह जाते हैं, डॉक्टर के या परिचारिका के इस अप्रिय कथन को मानने को तैयार नहीं होते। उनकी यह प्रथम प्रक्रिया निषेध (denial) की होती है। वे समझते हैं कि डॉक्टर या परिचारिका ने भूल की है। वह समझ नहीं पाया है और इस कारण वह जो कुछ कह रहा है असंगत है। दूसरा डॉक्टर उनको ठीक-ठीक बता सकेगा। प्रायः वे कई डॉक्टरों से परामर्श करते हैं। वालक विशेषज्ञों, मनोविज्ञानियों को दिखाया जाता है। जव सभी से उनको ऐसा ही मत प्राप्त होता है तो वे हतबुद्धि हो कर चुप चाप वैठ कर सोचने लगते हैं। माता और पिता दोनों के मन में अनेक प्रकार के भाव उदय होते हैं, अपने सम्बन्ध में, वालक के सम्वन्ध में तथा भविष्य सम्वन्धी। ऐसा क्यों हुआ, क्या उन्हीं पर यह विपत्ति आनी थी, ऐसा उन्होंने क्या पाप किया था जो दैव की ओर से उनको यह दंड मिला है। सारा भविष्य उनके नेत्रों के सामने नाचने लगता है। उन्होंने जो जो स्वप्न वनाये थे, विशेषकर यदि वह प्रथम सन्तान और पुत्र है तो, उन सबका ध्वंस हो जाता है। वालक वड़ा होगा, उसकी शिक्षा का वे ऐसा प्रवन्ध करेंगे। वह वड़ी वड़ी परीक्षायें पास करेगा, उच्च पदों को प्राप्त करेगा, धन कमायेगा और उनकी वृद्धावस्था का सहारा होगा, बुढ़ापे की लाठी होगा। आज उन सब आशाओं की समाप्ति हो जाती है। उनके स्थान में निराशा घर कर लेती है। भविष्य अन्धकारमय दीखता है। पुत्र से आश्रय पाने के स्थान में अब उनको आजन्म पुत्र की चिन्ता करनी होगी, उसका भरण-पोषण करना होगा। उनके संसार से जाने के पश्चात उनके उस असहाय पुत्र की कौन देख-रेख करेगा, उसकी रक्षा किस प्रकार होगी।

'आत्मा वै जायते पुत्रः', शास्त्रों का कथन है। पुत्र या पुत्री माता-पिता के व्यक्तित्व के प्रतीक होते हैं। इस कारण यह प्रगाढ़ चिन्ता स्वाभाविक है। उन्होंने पहले ऐसी घटना कभी देखी नहीं है, न किसी मित्र के घर में या परिवार में या जानने वालों में ऐसी सन्तान का जन्म होते सुना है। ऐसी दशा के सम्वन्ध में उनको तनिक भी ज्ञान नहीं है। अतएव इस घटना के लिये वे अपने ही को दोषी मानते हैं। उनको विश्वास हो जाता है कि उनके पुत्र की विकलांगता या मन्दता के

लिये वे ही उत्तरदायी हैं। इससे उनमें **अपराध** (guilt) का भाव उदय हो जाता है। यह भाव उनको और भी विचलित कर देता है।

निषेध (denial) एक रक्षायुक्ति (defence mechanism) है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने अहं भाव (self concept) की रक्षा करता है, अपने आत्म-गौरव के भाव का ह्रास नहीं अनुभव करना चाहता। इससे हानि यह होती है कि माता-पिता बालक में किसी प्रकार का दोष मानने को तैयार नहीं होते और इस कारण वे बालक को चिकित्सक या मनोविज्ञानी को दिखाकर उसका परामर्श प्राप्त करने को तैयार नहीं होते जिससे बालक की चिकित्सा या सुधार का आयोजन नहीं होता और बालक उपेक्षित रह जाता है। इस समय स्वास्थ्य परिचारिका या सामाजिक उपबोधक का काम यह है कि माता-पिता का विरोध न करके उनको बालक के सम्बन्ध में परामर्श प्राप्त करने के लिये प्रवृत्त करे, उनको समझा-बुझा कर बालक को चिकित्सकों को दिखलाने के लिये सहमत करे जिससे उनमें **स्वाभिज्ञता** (self awareness) का भाव उत्पन्न हो जाए। वे यह प्रतीत करें कि उनकी निषेध की प्रवृत्ति उपादेय नहीं है। बालक में दोष है या नहीं है, इसका निश्चय आवश्यक है, बालक के लिये यह अनिवार्य है। और इस कारण चिकित्सक और अन्य विशेषज्ञों की परामर्श प्राप्त करना उनका कर्तव्य है।

परामर्श प्राप्त करने पर जब उनको सभी परीक्षकों की यही सम्मति मिलती है कि बालक मन्द है तब उनमें अपराधी (guilt) होने का भाव उदय होता है। उससे हानि यह होती है कि माता-पिता दोनों या केवल पिता या माता किंकर्तव्यविमूढ हो जाते हैं। वे अपने अपराध भाव से इतने ओत-प्रोत हो जाते हैं कि बालक की चिकित्सा की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। चिन्ता में मग्न होकर नींद खो बैठते हैं, यहाँ तक कि उनके व्यक्तित्व के उलट जाने का भय हो स.ता है। यह **कुंठा या मनोरथभंग** (frustration) की अवस्था है। इस समय परिचारिका या निर्देशक अथवा मानस-परामर्शदाता का यह काम है कि उनका उपयुक्त उपबोधन करे। मानस-मन्दता के कारण तथा उसकी चिकित्सा के उपायों को समझावे। उदाहरणों द्वारा यह समझावे कि नये-नये अनुसंधानों से जो उपाय आविष्कृत हुए हैं उनके द्वारा उनके मानसमन्द पुत्र का पुनःस्थापन बहुत संभव है। किन्तु पूर्ण सफलता के लिये उनकी सहायता अत्यन्त अपेक्षित है। उसके बिना बालक का सुधार संभव नहीं है। इससे उनकी कुंठा दूर होगी और उनका सहयोग प्राप्त होगा।

अपराध के भाव का यह भी परिणाम हो सकता है कि माता-पिता बालक की सुरक्षा के इतने चिन्तित हो जाँय कि वे उसकी शिक्षा में बाधक हों। बालक को कुछ भी न करने दें, सदा उसके सब काम करने को तैयार रहें। वे स्वयं ही उसको खिलावें, उसकी शारीरिक स्वच्छता करें, उसको नहलावें, सुलावें, कहीं बाहर न निकलने दें। अन्य बालकों के साथ खेलने भी न दें, क्योंकि उनको डर है कि बालक खेल न सकेगा, गिर पड़ेगा, उसको चोट लग जायगी। गत परिच्छेद में वि…की जो कथा लिखी है वह माता की अतिसुरक्षा के प्रयत्नों के परिणाम का प्रमाण है। इकतालीस वर्ष की आयु तक पुत्र कुछ भी न सीख पाया और परिचारिका ने कुछ मास ही में उसको स्वयं अपने सब काम करने : बसों में जाना तथा अपने पिता के कारखाने में जाकर काम करने के योग्य बना दिया।

माता-पिता की सहायता करना भी उतना ही आवश्यक है जितना मन्द बालक की। उनके भीतर जो निषेध अपराध, किंकर्तव्यता आदि के जो द्वन्द्व उत्पन्न हो जाते हैं उनको दूर करना और वस्तुस्थिति को उनको भली-भाँति हृदयंगम् करा देना है। अभी तक वे प्रथम धक्के के प्रभाव से उबरे नहीं हैं। वे अब भी उद्विग्नता, अधैर्य, किंकर्तव्यता के समुद्र में गोते खा रहे हैं। उनको परामर्श की नाव में चढ़ाकर उस समुद्र से पार करना बहुत आवश्यक है।

परिचारिका, सामाजिक मार्गदर्शक तथा परिवार के चिकित्सक या मनोविज्ञानी सब का यह कर्तव्य है कि उनके बालक में जो त्रुटि है उससे उनको पूर्णतया अवगत करायें। प्रथम वे वास्तविकता को समझ लें, बालक में जो त्रुटि है उसको स्वीकार करें, ये समझ लें कि बालक में ये-ये दोष हैं और बालक के जीवन के सुधार के लिये उस विषय के विशेषज्ञों द्वारा जो उपाय बताये जाँय उनको करने में बालक का लाभ है। वे समझें कि जो उनको सलाह दे रहें हैं उनका प्रयोजन केवल बालक का हित करना है।

मन्द बालक के कारण परिवार में जो कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं उनके कारण कितने ही माता-पिता का बालक के प्रति भाव बदल जाते हैं। यद्यपि अपने बालक के लिये भरसक सब कुछ करने को तैयार रहते हैं तो भी उनमें एक विरोध (resentment) का भाव उत्पन्न हो जाता है। वे यह प्रतीत करते हैं कि इस बालक के कारण हमको इतने कष्ट झेलने पड़ रहे हैं। सन् १९५७ में न्यूयार्क के मन्द बालकों के एक चिकित्सालय में बालकों की चिकित्सा के लिये आये हुए १२३ परिवारों में

से ८० ने यह स्वीकार किया कि जहाँ वे अपनी सन्तानों से प्रेम करते थे वहाँ उनके हृदय में उनके प्रति विरोधात्मक भाव भी हैं। कुछ बालको में इतने अनुरक्त थे कि उनको अपने से पृथक् न होने देते थे। कितने माता-पिता को यह निश्चय था कि उनकी सन्तान चिकित्सा द्वारा पूर्णतया दोष रहित हो जायगी, वह सामान्य बुद्धि युक्ति व्यक्ति की भाँति जीवन व्यतीत कर सकेगी। यह सब इसका उदाहरण है कि माता-पिता के लिए वास्तविक स्थिति समझना कितना कठिन है।

परिवार के अन्य सदस्यों पर प्रभाव

परिवार में मानसमन्द बालक के होने का परिवार के सभी सदस्यों पर प्रभाव होता है। माता-पिता का दुख सभी का दुख होता है। सभी इस नई आपत्ति का विचार करते हैं और विचार-विनिमय में अपना-अपना मत प्रकट करते हैं। आने-जाने वाले मित्रों और पड़ोसियों से भी यही वार्तालाप का विषय बन जाता है।

इससे बालक के माता-पिता की कठिनाई और भी बढ़ जाती है। जिस बात को वे गुप्त रखना चाहते हैं सभी उसकी चर्चा करके अपनी सहानुभूति प्रकट करते हैं जिसमें माता-पिता के प्रति तिरस्कार का भाव मिला होता है। इससे परिचारिका, उपबोधक, निर्देशक, चिकित्सक आदि सुधार सेवाओं के कार्यकर्ताओं की भी कठिनाई बढ़ती है। पहले उनको केवल माता-पिता ही को समझाना था, अब इतने व्यक्तियों को वे किस प्रकार समझावें। सबों द्वारा अपना-अपना मत प्रकट करने से माता-पिता की उलझन और भी बढ़ती है।

किन्तु जहाँ संयुक्त परिवार होता वहाँ बालक के दादा-दादी उसकी देखरेख में विशेष सहायक पाये गये हैं। प्रायः वे अपने काम से अवकाश प्राप्त (retired) होते हैं। उनके पास समय होता है। बालक से प्रेम होना उनके लिये स्वाभाविक है। अतएव वे अपना सारा समय बालक पर ही लगाते हैं और माता-पिता या परिचारिका, चिकित्सक आदि के आदेशानुसार बालक के लिये प्रस्तावित कार्यक्रम में लगे रहते हैं।

बालक के भाई-बहनों पर प्रभाव

यदि मन्द बालक के कई भाई-बहन होते हैं तो उन् पर भी मन्द बालक का प्रभाव पड़ता है तथा मन्द बालक पर उनका प्रभाव पड़ता है।

माता-पिता का अधिक समय मन्द पर व्यय होता है। पिता को तो जीविकोपार्जन के लिये अपने काम पर भी जाना पड़ता है। किन्तु जितने

समय वह घर पर रहता है, उसमें से अधिक समय वह मन्द के साथ रहता है। माता को मन्द की शुश्रूषा से समय नहीं मिलता। घर के कामकाज तक के लिये उसे पर्याप्त समय नहीं मिलता। वह पहले जो समय दूसरे बालकों पर लनाती थी अब उसको मन्द पर ही लगाना पड़ता है। इससे उन बालकों की उपयुक्त देखभाल नहीं होती। वे यह प्रतीत करते हैं कि उनकी अवहेलना, उपेक्षा की जा रही है, उनको माता-पिठा का वह प्रेम नहीं मिलता जिसे वे मन्द शिशु या बालक के होने से पूर्व पाते थे। इस कारण उनके मन में मन्द बालक के प्रति विरोध के भाव उत्पन्न हो जाते है और उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं।

मन्द बालक उनसे कुछ भिन्न भी होता है। वह अपना भाव प्रकट नहीं कर सकता। उनसे बातचीत में भाग नहीं ले सकता; खेल भी नहीं सकता। उससे उनका किसी प्रकार मनोरंजन नहीं होता। और यदि उसमें व्यवहार या आचरण सम्बन्धी कोई दोष हुआ, तोड़ने-फोड़ने की प्रवृत्ति हुई तो वह उनके क्लेश का कारण हो जाता है। उनके खिलौने तोड़ देता है, लिखने पढ़ने की पुस्तकों, कापियों, पेंसिल, होलडर आदि को उठा-उठा कर फेंक देता है। पेन्सिल से कापियों, कागजों पर रेखायें खींचता रहता है। उनकी सब वस्तुयें अस्त-व्यस्त कर देता है।

इससे सारे परिवार की कठिनाइयाँ, क्लेश, संकट और भी बढ़ जाता है। बालक को भी हानि पहुँचती है, उसके भाई-बहन दुखी होते हैं और माता-पिता की खिन्नता भी बढ़ती है। इसके प्रतिकार का उपाय केवल परामर्श (counselling) है, बालक के भाई-बहनों को समझाना, वास्तविक स्थिति को बताना, मन्द बालक में जो त्रुटियाँ हैं उनसे अवगत कराना। उनको हृदयंगम करा दिया जाय वह बालक बीमार है, उसे मस्तिष्क का रोग है जिससे वह ऐसा आचरण करता है और उसकी चिकित्सा आवश्यक है जिसमें सब भाई-बहनों की सहायता आवश्यक है तथा वे इस प्रकार सहायता करें। स्वयं परिचारिका या सामाजिक परामर्शदाता अपनी बैठक में माता-पिता के साथ बालक के भाई-बहनों को और यदि दादा-दादी हों तो उनको भी सम्मिलित कर लें। इससे वे माता-पिता को समझाने की अपेक्षा अधिक प्रभावित होंगे। किन्तु परिचारिका या उपबोधक अधिक समय नहीं दे सकता। माता-पिता को अन्य बालकों को मन्द बालक के सम्बंध में बताते रहना चाहिये।

कुछ अन्वेषकों ने ऐसे उदाहरणों की रिपोर्टें की हैं जहाँ मन्द बालक की बड़ी बहिन ने उसका सारा भार उठा लिया है, उसकी देख-रेख को

अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया है। बहिन बालक से १०, १२ वर्ष बड़ी थी। उसने बालक का सब काम अपने ऊपर ले लिया। माता के समान वह भाई की सेवा सुश्रूषा तथा सुरक्षा करती थी। उसका सारा समय भाई की चिन्ता में जाता था। भाई और बहिन दोनों एक दूसरे के जीवन के भाग बन गये थे। भाई के लिये उसने विवाह भी न किया, अन्त तक भाई ही उसका सर्वस्व था। वृद्धावस्था में बहिन की मृत्यु के कुछ समय पश्चात भाई की मृत्यु हो गई। **उद्विग्नता**—माता-पिता तथा परिवार वालों में बालक के मानसमन्द होने की प्रथम बार सूचना पाने के समय से चिन्ता के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। प्रथम धक्के से निषेधात्मक भावनाएँ उदय होती हैं। धीरे-धीरे ये समाप्त होती हैं और वे वास्तविक स्थिति को स्वीकार करने लगते हैं। इस सारे काल में उनमें चिन्ताओं के कारण एक तनाव जिसे stress कहते हैं, बना रहता है। उनका चित्त सदा अशान्त, उद्विग्न रहता है। समय-समय पर यह उद्विग्नता बढ़ जाती है। ज्वार-भाटे की भाँति उद्विग्नता बढ़ती है और फिर कम हो जाती है। उद्विग्नता की वृद्धि के समय पिता या माता या दोनों का उपबोधन या पथ-प्रदर्शन (counselling) होना बहुत आवश्यक है। उपबोधन प्राप्त न होने पर उनका मानसिक सन्तुलन बिगड़ सकता है जिसका परिणाम मानसिक विकार (mental disorder) तक हो सकता है।

प्रथम बार तनाव या उद्विग्नता की अधिकता तब होती है जब वे बालक की त्रुटि की वास्तविकता समझने लगते हैं। यह अभिज्ञता (awareness) कहलाता है। इस समय वे बालक की त्रुटि के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। उसके कारण, चिकित्सा, चिकित्सा के स्थान, साधन आदि की खोज करते हैं। यह सब उनको बताना चाहिये। अनेक बार उनको डॉक्टर से उत्तर मिलता है कि 'बालक को कुछ नही है', 'समय पाकर सब ठीक हो जायगा', यह अनुचित है। उनको सभी प्रकार की सूचना देनी चाहिये। यह जानकर कि आधुनिक विधियों द्वारा बालक के दोष को बहुत कुछ कम करना और बालक को सामान्य जीवन व्यतीत करने योग्य बनाना बहुत कुछ संभव हो गया है। बालक के सुधार की योजना बनाना और वे कहाँ और किस प्रकार से प्राप्त होगी, यह जान लेने से उनको बहुत धैर्य बँधेगा और उद्विग्नता दूर होगी।

यदि वे अन्य मानसमन्द सन्तानों के माता-पिता से बातचीत कर सकें तो उनको और भी बल मिलेगा। अमरीका, इंग्लैंड, जर्मनी, कनाडा, फ्रान्स

आदि देशों में मानसमन्दों के माता-पिता के संघ बन गये हैं जहाँ वे समय समय पर मिलते रहते हैं, अपनी-अपनी समस्याओं का विचार-विमर्श करते रहते हैं। वास्तव में ऐसे संघों के प्रयत्नों से मानसमन्दों की देखरेख और शिक्षा तथा सुधार का कार्य समाज कल्याण विभाग ने प्रारम्भ किया था।

इसके पश्चात उद्विग्नता बढ़ने का दूसरा अवसर तब आता है जब वे बालक को आधारी कौशल, बैठना, चलना, खिलौनों को उठाना, शौच के लिए बैठना, आहार करना सिखाने में सफल नहीं होते। उस समय उनको आवश्यक सहायता मिलने से उनकी चिन्ता तथा उद्विग्नता दूर होती है।

निम्नलिखित अवसरों पर उनकी उद्विग्नता फिर बढ़ सकती है :—

३. बालक की चिकित्सक, मनोविकार चिकित्सक, मनोविज्ञानी आदि द्वारा परीक्षा के समय, विशेषकर जब बालक के सम्बन्ध में पूछताछ करने पर उनको सूचना नहीं मिलती।

४. जब वे अपनी वयस्क सन्तान के निवास, शिक्षा, नियुक्ति आदि का प्रबन्ध नहीं कर पाते। वयस्कों के लिये संस्थाओं की विशेष कमी है।

५. मन्द बालक के भाई-बहनों का उसके साथ व्यवहार उनकी उद्विग्नता का कारण हो सकता है।

६. नई सन्तान का जन्म उनकी चिन्ताएँ बढ़ा सकता है।

७. बालक के स्कूल जाने पर।

८. मन्द वयस्क का आचरण, विशेषकर जब उसके विवाह का प्रश्न उठता है।

इन अवसरों पर परिचारिका उनकी बहुत सहायता कर सकती है। उपयुक्त मार्ग प्रदर्शन का प्रबन्ध तथा उपयुक्त संस्थाओं और सेवाओं की सहायता प्राप्त कराना उनके लिये लाभकारी होता है।

वास्तविक स्थिति समझ लेना

माता-पिता तथा परिवार को वास्तविकता भलीभाँति समझ लेनी चाहिये। अपना तथा बालक दोनों का हित इसी में है कि परामर्शों द्वारा उनको बालक की त्रुटि का जो ज्ञान हुआ है उसको हृदयंगम कर लें और दृढ़ धारणा बना लें कि बालक की त्रुटि उनके और बालक के जीवनान्त तक का प्रश्न है। वह त्रुटि समाप्त होने वाली नहीं है। कुछ न कुछ आयुपर्यन्त बनी रहेगी और उनको भविष्य में भी बालक, जो आगे चलकर वयस्क हो जायगा, की सुरक्षा के लिये यथाशक्ति आवश्यक प्रबन्ध करने पड़ेंगे। यह

एक ऐसा स्थायी तथ्य है जो मिटाया नहीं जा सकता। इस कारण धैर्य के साथ उसका सामना करना चाहिये। 'अपरिहार्येर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि'।

ऐसी धारणा बना लेने से माता-पिता को जो सदा चिन्ता और उससे तनाव रहता था वह जाता रहेगा और वे अपने जीवन-व्यापार, नित्य प्रति के कृत्यों को स्वाभाविक रूप से करने में समर्थ होंगे।

इसका बालक पर भी प्रभाव होगा। बालकों में मनोभावों को समझ लेने की बडी शक्ति होती है। उनके व्यवहार से वे तुरन्त अनुभव कर लेते हैं कि माता-पिता या अन्य व्यक्ति उनसे प्रेम करते हैं या घृणा या तिरस्कार करते हैं या विरोधी हैं। माता-पिता के तिरस्कार भाव का उन पर हानिकारक प्रभाव होता है। सहयोग का स्थान विरोध ले लेता है। मानसमन्द की त्रुटि और भी बढ़ जाती है और जो गुण उनमें परिवर्धित हो सकते थे वे लुप्त हो जाते हैं। मानसमन्द बालक भी भावों का सामान्य बालकों के समान अनुभव करते हैं।

मन्द बालकों की आवश्यकताएँ

१. प्रेम की आवश्यकता—मन्द बालक भी बालक है। अतएव आवश्यकताएँ भी वे ही हैं जो सामान्य बालकों की होती हैं। उसकी प्रथम और मुख्य आवश्यकता माता-पिता के प्रेम की है। उनका प्रेम उसके जीवन का आधार है। शिशु प्रेम का अनुभव करता है। वियेना (आस्ट्रिया की राजधानी) के विख्यात एक बालचिकित्सक (pediatrician) डॉक्टर ने अपने बालचिकित्सा के अस्पताल में यह नियम बना रखा था कि नर्स रोगग्रस्त बालक को प्रत्येक दो या तीन या चार अथवा छह घंटे पर चुम्बन करे। और वह उसको बालक के औषधि पत्र (prescription) पर लिख देता था।

बालक माता-पिता के व्यवहार से तत्काल उनके स्नेह का अनुभव कर लेते हैं जिससे उनका प्रथम भाव सुरक्षा की प्रतीति होता है। शिशु और बालक भी माता की गोद को अपनी सुरक्षा का विशेष स्थान मानते हैं। इससे उनमें धारणा की प्रवृत्ति होती है। ज्यों-ज्यों बालक बड़ा होता है त्यों-त्यों उसमें धारणा द्वारा आत्मविश्वास तथा आत्म-निर्भरता के गुण आते-जाते हैं। बालक स्वयं अपने खिलौने उठाना चाहता है, अपने खेलने की वस्तुओं को चुनता है, वस्त्रों को पहनने में अपनी इच्छा का प्रदर्शन करता है। यह सब स्वतन्त्रता के भावों के उदय होने के लक्षण हैं।

मानसमन्द वालक पर माता-पिता को विशेष ध्यान देना पड़ता है। उसकी विशेष शिक्षा के लिये उनको विशेष उपाय करना आवश्यक हो सकता है, तथा विशेष वस्तुओं को जुटाना आवश्यक हो सकता है। सम्भव है दूसरे भाई-बहन इसको अनुचित समझ कर उसका विरोध करें। इस कारण उनको मन्द वालक के सम्वन्ध में सव वातें समझाने से उनका विरोध दूर होगा, वरन् वे अपना सहयोग देंगे। इसी कारण उनको परामर्श में सम्मिलित करने की सलाह दी गई है।

२. मित्रों की आवश्यकता—फिर वालकों की दूसरी आवश्यकता होती है समवयस्क साथियों की जिनके साथ वे खेल सकें। मन्द वालक भी समवयस्क मित्रों का संग चाहता है। यह सामाजिक स्वीकरण (social acceptance) की भावना है जो वालक में उदय होती है। इसके लिये आदान (प्राप्त करना, receiving) और प्रदान (देना, त्याग, giving) दोनों गुणों की आवश्यकता है। ये गुण प्रायः वालक में तीन या चार वर्ष की अवस्था के पश्चात् उत्पन्न होते हैं। इससे पूर्व उसमें स्व का भाव ही प्रधान होता है। वह सव वस्तुओं को स्वयं ही रखना चाहता है, देना नहीं चाहता। चौथे वर्ष देने की भावना जागने लगती है। तभी वह भली प्रकार संग (company) में प्रवेश कर पाता है।

मन्द वालक को इसमें विशेष कठिनाई हो सकती है। उसने अभी तक केवल लेना सीखा है और लेकर उसको अपने अधिकार में रखना वह जानता है। यह प्राणिमात्र का प्राकृतिक सहज स्वानुभूत गुण (instinct) है। अभी उसको देना सीखना है। मन्द सभी कुछ देर से सीखते हैं। यह गुण उनमें छठे या सातवें वर्ष में आता है। सम्भव है इससे भी देर से आवे। इसके विकास के लिये वे वालक की विशेष सहायता कर सकते हैं। वे जव तव पास में रहने वाले वालकों को बुलावें। उनको खेल खिलावें। उनको जलपान भी करावें और उन सव में भाग लेने को अपने वालक को प्रोत्साहित करें। उनको उसी के हाथ से खाद्य वस्तुओं को दिलावें। इससे वालक को देने का शीघ्र ही अभ्यास हो जायगा।

मन्द वालक को उसी के समान मन्द वालकों से मिलने दिया जाय या सामान्य स्वस्थ वालकों से, कौन उसके लिये लाभ दायक हो सकता है, इस पर सदा ही से विवाद रहा है। यदि वालक सामान्य वालकों के सम्पर्क में प्रसन्न रहता है। उनके साथ खेलने से सन्तुष्ट होता है, जो सामाजिक स्वीकरण (social acceptance) का लक्षण है, वह अपने

को उन बालकों द्वारा स्वीकृत साथी या मित्र अनुभव करता है, तो बहुत उत्तम है। इससे उसकी आत्मसम्मान की भावना की वृद्धि होती है।

किन्तु यदि उनका भाव मन्द बालक की ओर तिरस्कारपूर्ण है, बालक उसकी अवहेलना करते हैं, उसको अपने संघ में प्रवेश करने योग्य नहीं समझते तो बालक को हानि पहुँच सकती है। ऐसी दशा में उनके संग से बालक को पृथक रखना ही उत्तम है।

३. खेल, विनोद की आवश्यकता—खेल बालकों के लिये उतना ही आवश्यक है जितना आहार। आहार से शारीरिक वृद्धि होती है, खेलों से शारीरिक क्रिया सम्पन्न करने की शक्ति तथा मानसिक शक्ति बढ़ती है। खेल से खिलौने का शब्द बनता है और खिलौने बालकों ही के लिये होते हैं। जब शिशु झुनझुना दोनों हाथों से पकड़ता है तो वह दोनों हाथों और बाहुओं की पेशियों की क्रिया और नेत्रों की गति का समायोजन करने का अभ्यास करना सीखता है। अपनी ट्राइसाइकिल पर बैठ कर उसको चलाकर उसकी यातायात की शिक्षा होती है।

इसी प्रकार अन्य खेलों से भी वह शिक्षा प्राप्त करता है। आपस में मिलकर खेले जाने वाने खेलों से उसको सहयोग का गुण प्राप्त होता है जो सामाजिक जीवन का आधार है। इस प्रकार खेलों द्वारा बालकों का मनोरंजन और शिक्षा दोनों होती है।

मानसमन्द बालकों को भी खेल की उतनी ही आवश्यकता होती है जितनी सामान्य बालकों को, वरन् उनसे भी अधिक। इस कारण मन्द बालकों और वयस्कों की भी संस्थाओं में खेलों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। उनके लिये अनेक प्रकार के खेलों का आविष्कार किया जाता है। कमरों के भीतर खेले जाने वाले indoor खेल, तथा बाहर खुले स्थानों में खेले जाने वाले outdoor खेल। फिर बालक की विकलांगता या मन्दता के अनुसार विशेष खेल रचे जाते हैं जिनसे उनके शारीरिक विकारों के सुधार में भी सहायता मिले। वयानुसार भिन्न प्रकार के खेलों का प्रम्बन्ध किया जाता है।

खेलों द्वारा चिकित्सा भी की जाती है। अनेक व्यक्तियों ने अपनी जीवन कथाओं में लिखा है कि वे जन्म ही से अतिदुर्बल थे और बाल्यावस्था में सदा रोगों के ग्रास बने रहते थे और किस प्रकार वे व्यायाम, जो खेलों ही का दूसरा रूप है, द्वारा वे रोगमुक्त हुए और इतने बलवान हो गये कि वे बल-प्रदर्शन के आदर्श बन गये। जर्मनी के सैन्डोज (Sandoz) का नाम जगत विख्यात है जिसकी व्यायाम प्रणाली दो शताब्दियों से अब तक

उतनी बीमे की दर कम होती है। जब तक वे जीवित रहेंगे और बीमा कम्पनी को भुगतान करते रहेंगे, बीमे की राशि बढ़ती रहेगी। उनके प्रयाण के पश्चात वह राशि किसी बैंक में जमा कर देने से उसकी सूद उस मन्द सन्तान को उपलब्ध होगी।

साथ ही उनको कुछ ट्रस्टी नियुक्त करने होंगे जो बालक के हितू हों। उसके कल्याण (welfare) के इच्छुक हों और विश्वसनीय हों। जिसको माता-पिता इस उत्तरदायित्व को निभाने के लिये उपयुक्त समझें, सच्चरित्र और ईमानदार तथा मन्दव्यक्ति से प्रेम करने वाला मानें, उसको ट्रस्टी बना सकते हैं। इस प्रकार किसी दक्ष वकील की सलाह से वे एक ट्रस्ट (trust) बनाकर एक या दो अथवा तीन ट्रस्टी, वकील की सलाह से नियुक्त कर दें। ट्रस्ट की कार्यप्रणाली (conditions) भी धाराओं के रूप में लिख दी जाँय : ट्रस्टी क्या काम करेंगे, व्यक्ति को रूपया किस रूप में कितना मिलेगा, वह कहाँ रहेगा, कौन उसकी देख-भाल करेगा, आदि। इस सब के लिये वकील ही उपयुक्त व्यक्ति है। वह विधान (law) के रहस्यों को समझता है। इस प्रकार ट्रस्ट डीड (trust deed) को पूर्णतया विधानानुकूल बना दिया जाय। इसके पश्चात् माता-पिता मन्द पुत्र-पुत्री को प्रभु को समर्पित करके सन्तोष की श्वास लें।

हिन्दुओं का, समस्त सद् जगत का विश्वास है कि 'निर्बल के बल राम'। किन्तु राम किसी व्यक्ति द्वारा काम करते हैं, स्वयं करने नहीं आते। चाहे किसी को निमित्त बनायें, किन्तु निमित्त बनाते अवश्य हैं। इससे आगे मनुष्य की सामर्थ्य नहीं है। माता-पिता जो कुछ कर सकते थे उन्होंने किया। अब वे 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये' इस धारणा और प्रार्थना से मन की शान्ति प्राप्त करें।



(जयकृष्णदास आयुर्वेद ग्रन्थमाला 22)

केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद् द्वारा पाठ्यक्रम में स्वीकृत

अभिनव कौमारभृत्य (सचित्र)

(A Comprehensive and Comparative Treatise on the Care and Diseases of Children)

आचार्य श्री राधाकृष्ण नाथ

सम्पादक—भूमिका लेखक—डॉ० रामनाथ द्विवेदी

बालरोग का ही दूसरा नाम कौमारभृत्य है। आयुर्वेद में कौमारभृत्य को बहुत महत्त्व दिया गया है। कौमारभृत्य के अन्तर्गत कुमारभरण, धात्रीक्षीरदोष संशोधन, अन्नप्राशन आदि संस्कारों का विधान है। बालरोगों के प्रकरण में बालग्रहों का विस्तार से वर्णन है। कुमारागार का वर्णन चरक संहिता आदि में है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्माण आयुर्वेदीय ग्रन्थों में प्रतिपादित कौमारभृत्य सम्बन्धी तथ्यों के आधार पर हुआ है। साथ ही आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में प्राप्त नई उपलब्धियों से तुलनात्मक विवेचन भी किया गया है। इस प्रकार गर्भ में बालकों की रक्षा, प्रसवोत्तर संक्रामक रोगों से बालकों की रक्षा, प्रसूतिगृह में परिचारिकाओं के बरतने योग्य नियम, बालकों के पालन-पोषण, आहार, बालग्रह बाधाओं आदि का वर्णन सहज सुबोध शैली में राष्ट्रभाषा हिन्दी में दिया गया है। इस सन्दर्भ के पाश्चात्य ग्रन्थों में एवं चिकित्सा-पद्धति में प्राप्त साधन-सामग्रियों तथा रोगों का भी आयुर्वेदीय परिप्रेक्ष्य में समन्वयात्मक दृष्टि से पूर्ण विचार किया गया है। अभिप्राय यह कि इधर बालकों के अनेक रोगों के कारण और चिकित्सा में जो नये-नये शोध हुए हैं तथा उनके लिए जो उपाय काम में लिये जा रहे हैं, उन सबका इस ग्रन्थ में उल्लेख हुए है। इस ग्रन्थ के लेखक तथा सम्पादक प्राच्य पाश्चात्य चिकित्सा जगत् के अनुभवी परीक्षक हैं अतः ग्रन्थ पूर्ण वैज्ञानिक शैली का अनुगमन करता है। इससे बालरोग विशेषज्ञ को नवीन तथा प्राचीन पद्धतियों का सहज बोध होगा। बालकों की चिकित्सा में कठिनाई दूर करके चिकित्सा का मार्ग सहज बनाना ही इस ग्रन्थ का मूल उद्देश्य है। इसके अतिरिक्त इस विषय पर आजतक जितने अनुसन्धान हुए हैं इसमें अन्य ग्रन्थों की तुलना में विशद समावेश किया गया है। अतः चिकित्सकों तथा छात्रों के लिए समान उपयोगी है।

मूल्य २५-००

अन्य प्राप्ति स्थान—चौखम्भा विश्वभारती

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

पोस्ट बाक्स नं० १३६

चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)

वाराणसी-२२१००१ (भारत)